द्रोण की आत्मकथा

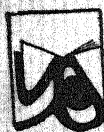
मनु शर्मा

मनु शर्मा

सन् १९२९ में अकबरपुर फैजाबाद में जन्मे हनुमान प्रसाद शर्मा लेखन जगत में मनु शर्मा के नाम से विख्यात हैं। आपकी सशक्त लेखनी ने अनेक ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उपन्यास प्रणीत किये हैं।

'बप्पा रावल' एवं 'तीन प्रश्न' उपन्यास उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत। द्रौपदी की आत्मकथा बहुप्रशंसित। सम्प्रति डी० ए० वी० कालेज वाराणसी में प्रवक्ता।

सम्पर्क सूत्र—
२८२ सी, बड़ी पियरी, वाराणसी



प्रचारक बुक क्लब
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो०बा०१०६, पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१००१



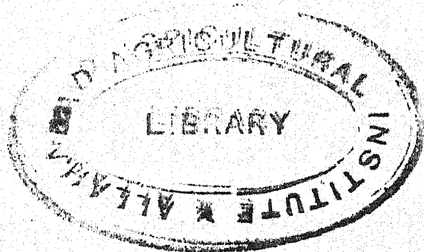
द्रोण की आत्मकथा



भारत के प्रथम बुक क्लब
प्रचारक बुक क्लब
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो० बा० १०६, पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१००१ के लिए
विजय प्रकाश बेरी द्वारा प्रकाशित तथा
भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी में मुद्रित
सन् १९७६

Manu Sharma
DRONA KI ATMAKATHA
Novel

मूल्य : ३.००



आचार्य की आत्मकथा आचार्य को ही
श्रद्धेय पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को
विनयावनत

पिता के आश्रम में एक वृद्ध भीलनी प्रतिदिन प्रातः एवं सायं आती थी। देख-रेख करती थी। इसके अतिरिक्त कुछ ब्रह्मचारियों का सानिध्य भी मिला था। मैं चिड़ियों के बच्चों की तरह चहकता और प्रसन्न था।

वसंत का एक दिन।

सूर्य ढल रहा था। मैं एक मृग-शिशु के साथ दौड़ता मृगदाव की ओर रहा था। मेरे साथ आश्रम के दो-एक ब्रह्मचारी भी थे। उनमें एक अधिक का था। उसकी दाढ़ी के बाल काफी लम्बे हो गये थे।

"अरे, देखो वह क्या है?"—दाढ़ीवाले ब्रह्मचारी ने मुझसे कहा।

मैंने इधर-उधर आँखें दौड़ायीं। "इधर नहीं। उधर देखो, उधर।" उन्होंने वट-वृक्ष की ओर संकेत किया। वहाँ मेरे पिताजी एक स्त्री के साथ थे।

मैंने उस स्त्री को इसके पूर्व कभी देखा नहीं था। उस शुभ्रवसना की ड़ केश-राशि बरगद के नीचे बड़े चबूतरे का स्पर्श कर रही थी। हरिणियों बड़ी और चंचल आँखों से वह अनवरत पिताजी की मुख-मुद्रा देख थी।

सचमुच वह मुझे आकर्षक लगी। यद्यपि मैं दूर था फिर भी मैं देखता रह। इस बीच मेरा मृगशावक भी भाग निकला, किन्तु मैंने कोई परवाह न। मैं चुपचाप खड़ा रह गया, जैसे मैं कोई तमाशा देख रहा हूँ।

"तुम उन्हें पहचानते हो?"—एक ब्रह्मचारी ने पूछा।

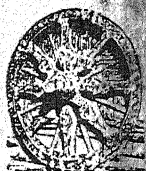
"किसे?"—जैसे अनजान में ही मेरे मुख से यह शब्द निकल गया।

"उस स्त्री को।"

मैंने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

तब तक लगता है, मेरे पिताजी ने मुझे देख लिया। उन्होंने मुझे पुकारा। मंत्र-मुग्ध-सा वट-वृक्ष की ओर खिंच गया। ब्रह्मचारी मुस्कराते हुए वहीं गये।

"बेटा, चरण स्पर्श करो। यह तुम्हारी माँ है।"—निकट पहुँचते ही पिता- ने कहा।



आखिर मैं अपनी जीवन-गाथा कहाँ से आरम्भ करूँ ?

क्या यह कहूँ कि सत्तर पार कर चुका हूँ ? बालों में हिमराशि की श्वेतता बिखर गयी है। शरीर चर्म पर आश्विन के मेघों जैसी सिकुड़न आ गयी है। झुर्रियों से भरी आकृति पर अनुभव के भार से धँसी आँखें एक लम्बा इतिहास देख चुकी हैं,—एक ऐसा इतिहास, जिसके ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर मेरी वृद्ध-स्मृति का दौड़ना तो दूर रहा, वह सरलता से चल भी नहीं पाती। बहुत दबाव डालता हूँ तब स्मृति के पैर आगे बढ़ते हैं। कुछ बातें याद आती हैं। कुछ चित्र बनते हैं,—हलके-हलके, धुँधले-धुँधले। यदि इन्हें मेरी कल्पना की सजग अँगुलियाँ और अधिक न उभारें तो शायद आप समझ भी न पायेंगे कि यह कैसा है ? किसका है ? कब का है ?

पर क्या मुझे जीवन की सभी घटनाएँ स्मरण हैं ? कदापि नहीं। कितनी बार आकाश में बिजली चमकी, क्या कभी धरा याद रखती है ? पर हर वह बिजली जो वज्रपात बनकर आती है, धरती की छाती पर कुछ-न-कुछ लिख जाती है।

ऐसी कितनी बिजलियाँ मेरे जीवनाकाश में चमकीं, सबका सिलसिलेवार ब्यौरा आपके समक्ष प्रस्तुत करने की स्थिति में मैं नहीं हूँ, फिर भी कोशिश करता हूँ।

बात बहुत बचपन की है।

मेरे पिता भरद्वाज का गंगाद्वार में आश्रम था। वन-सम्पदा से सम्पन्न आश्रम की शोभा रमणीक थी। मैं मृग-शावकों के साथ दिन-भर खेला करता था। प्रकृति ने ही मुझे पाला था। मैंने फूलों से मुस्कराना, पक्षियों से गाना तथा मृगों से छलांगें लगाना सीखा था।

मैं हक्का-बक्का रह गया। मैंने तो इन्हें कभी भी नहीं देखा है। फिर भी यह मेरी माँ है। विचार अचानक मस्तिष्क में कौंध गये। जैसे मैं पिता का आदेश कुछ क्षणों के लिए भूल गया।

"बेचारा क्या जाने कि यह मेरी माँ है। कभी मैं इससे मिली होऊँ तब तो।"—वह स्त्री बोली।

पिताजी ने हँसते हुए पुनः कहा,—"हाँ बेटा, यह तुम्हारी माँ है। चरण छूओ।"

चबूतरे के नीचे उसके लटकते पावों पर मैंने मस्तक रख दिये। बड़े प्रेम से उसने मुझे उठाकर छाती से लगा लिया। माँ की गुदगुदी छाती से यह मेरा पहला स्पर्श था, कितना वात्सल्यमय? सो मैं कैसे बताऊँ!

मैं बड़ी देर तक बंदरिया के बच्चे की तरह चिपका रहा।

"कितना सुन्दर है, यह प्रिय!" मेरी माँ ने कहा।

"क्यों नहीं सुन्दर होगा? आखिर तुम्हारा ही पुत्र है न।" पिताजी बोले।

"तो क्या आपका पुत्र नहीं है?"

"हमारा भी है...और तुम्हारा भी।"—पिताजी हँसते हुए कहते रहे"... सौन्दर्य तो इसे तुम्हारा ही मिला है।"

"....और तेजस्विता तथा बुद्धि आपकी।"—माँ बोली।

यह तो भविष्य बताएगा कि इसे मेरी बुद्धि मिली है या किसी और की।" ...और फिर दोनों बहुत देर तक हँसते रहे।

बाद में पता चला कि यह मेरी माँ घृताची है, स्वर्ग की अप्सरा। यह आश्रम में कभी दिखायी नहीं देती थी। हो सकता है यह आती रही हो, पर लोगों की दृष्टि बचाकर।

पिताजी पर उसकी अनुरक्ति थी। पिताजी भी उसकी ओर आकर्षित थे। यह तो मेरी बाल-बुद्धि प्रथम दर्शन में ही समझ गयी थी।

किन्तु मेरे जन्म के सम्बन्ध में जो कहानी सुनायी गयी, वह विलक्षण थी, अद्भुत थी।

लोगों ने बताया कि तुम्हारे पिताजी बाल-ब्रह्मचारी थे। ब्राह्मण की तपश्चर्या से पवित्र उनका तेजस्वी व्यक्तित्व लोगों की ईर्ष्या का विषय था। स्वयं काम जिस मनस्वी को डिगा नहीं सकता था, एक परिस्थिति ऐसी आयी जब उसका ब्रह्मचर्य स्खलित हो गया।

वह शुभ या अशुभ क्षण भी वसंत में ही आया था।

धरती के अंग-अंग पर अनंग की माया बिखर गयी थी। ब्राह्ममुहूर्त में ही पिताजी गंगास्नान करके तट पर बैठे पूजन कर रहे थे। उषा ने पूरब के आकाश पर सिन्दूर बिखेर दिया था। हल्का-हल्का प्रकाश हो चला था।

घृताची उस दिन गंगा स्नान करने आयी थी। अकेली थी। उसने चारों ओर देखा। एक ऋषिकुमार पूर्वाभिमुख होकर अर्चना कर रहा था। उसका ऊर्जस्वी व्यक्तित्व सूर्य की तरह चमक रहा था। लोगों का कहना है कि वह उसी क्षण ऋषिकुमार पर या यों कहिए—मेरे पिताजी पर आसक्त हो गयी।

घृताची ने अच्छी तरह स्नान किया। चञ्चल मछलियों की तरह पानी में तैरती हुई किलकारियाँ भरीं, किन्तु पिताजी पर उसका कुछ असर नहीं हुआ।

अन्त में वह पानी से निकली। उसका झीना वस्त्र तन से अत्यन्त चिपक गया था। उसके नयन काम-चेष्टाओं में निमग्न थे। अंग-अंग अठखेलियाँ कर रहे थे। फिर भी, अब तक पिताजी जैसे प्रभावशून्य थे।

इसके बाद उसने अपनी साड़ी बदलनी चाही। इसे संयोग कहिए या कुयोग, हवा का एक तेज झोंका आया। साड़ी सरक कर धरती पर गिर गयी। क्षण-भर के लिए घृताची निर्वस्त्रा हो गयी, बिलकुल नग्ना, दिगम्बरा।

कुछ लोग कहते हैं कि उसने जानबूझकर अपना वस्त्र गिरा दिया था और कोई कहता था कि नहीं, वरन् तेज हवा के कारण ऐसा हो गया था। जो भी

हो, इस उधेड़-बुन में मैं नहीं पड़ता। बस इतना जानता हूँ कि घृताची की साड़ी गिरकर धरती पर नहीं, वरन् परदे की तरह मेरे पिता की मति पर पड़ गयी थी। वासना के घने बादलों ने उनके मन को घेर लिया।

बस यही घटना मेरे जन्म के मूल में थी।

काल की गति के साथ मैं घृताची के गर्भ में विकसित होने लगा। इधर मेरे पिताजी इस घटना से बहुत दुःखी हुए। इतने दिनों की तपस्या एक अप्सरा छीन ले गयी। उन्होंने स्वयं ही अपने समकालीन ऋषियों से इसकी चर्चा की थी, किन्तु अब चर्चा-भर ही तो हाथ था। ऋषियों ने अपने अनुभव के आधार पर कहा,—"तपश्चर्या के शीर्ष विन्दु पर ऐसा ही होता है।"

पिताजी का मन आत्मग्लानि और चिन्ता से दुःखी था, फिर भी उन्होंने पुनः संयमी जीवन आरम्भ किया। अब आश्रम की तपोभूमि उनकी साधना-स्थली बनी। उधर मेरी माता को अपने गर्भ की चिन्ता थी।

अप्सराएँ किसी सात्त्विक की साधना को पथ-भ्रष्ट करने में प्रवीण होती हैं। सुना है, इससे उन्हें यश भी मिलता है। किन्तु, पता नहीं क्यों वे अपने ही बच्चों को पालने से कतराती हैं। कभी आपने किसी अप्सरा को सुना है कि उसने अपना बच्चा स्वयं ही पाला है। चीलों की तरह अन्य कौवे ही उनके बच्चों का पालन करते हैं।

अप्सराओं का बाल-बच्चेवाली होना अच्छा नहीं समझा जाता। इससे उनकी प्रतिष्ठा तो घटती है, 'बाजार भाव' भी कम हो जाता है।

मैंने एक अप्सरा से ही सुना है कि घृताची के समक्ष भी होनेवाले शिशु के पालन की समस्या थी। वह मन-ही-मन बड़ी व्यग्र थी। एक दिन अन्य अप्सराओं से उसने चर्चा की।

"होने के बाद ही तुम अपने शिशु को भरद्वाज के आश्रम में ही छोड़ देना।"—एक ने राय दी।

"किन्तु भरद्वाज मुझसे बड़े नाराज हैं।"—मेरी माँ ने कहा।

"तब तुम उनको पुनः प्रसन्न करो।"

"अब ऋषि पहले से अधिक सजग हैं। मेरे काम-बाण कदाचित् ही उसके अन्तर को वेध सकें।"

"बिंधे हुए अन्तर को बेधना आसान होता है घृताची।"

"किन्तु भरद्वाज के मामले में यह बड़ा कठिन है।"

"उस आश्रम में जाने का भी मेरा साहस नहीं है।···भरद्वाज के कोप की कल्पना मुझे भयातुर कर देती है।"—घृताची ने कहा।

"तब तुम एक काम करो।"

"क्या ?"

"शिशु के पैदा होते ही तुम उसे किसी-न-किसी प्रकार, लुक-छिपकर ही सही, भरद्वाज के आश्रम में छोड़ आओ।····ऐसा छोड़ो, जिससे जल्दी-से-जल्दी ऋषि की दृष्टि शिशु पर पड़ जाये।···फिर बराबर देखती रहो कि शिशु के प्रति उनका प्रेम कैसा है ?

"तो रोज-रोज मुझे जाना चाहिए ?" घृताची ने पूछा।

"अवश्य जाना चाहिए और यह बराबर देखते रहना चाहिए कि भरद्वाजजी का प्रेम तुम्हारे पुत्र को मिलता है या नहीं ?····यदि वे अपने पुत्र से प्यार करेंगे तो यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि तुमसे घृणा नहीं करेंगे।"

ऐसा ही हुआ। जन्म के बाद ही घृताची मुझे आश्रम में ले आयी और चुप-चाप यज्ञ-कलश (द्रोण) के निकट लिटाकर चली गयी। यह घटना लोगों के कथनानुसार मध्यरात्रि के आस-पास की है।

सबेरा होते ही आश्रम में कोलाहल-सा मच गया,—द्रोण के निकट नवजात शिशु पाया गया····द्रोण के निकट नवजात शिशु····।

सन्ध्या-वन्दन के पश्चात् पिताजी मेरे पास आये, उनके साथ कई ब्रह्मचारी भी थे।

"आचार्य इसका ललाट प्रशस्त है।"—उनमें से एक बोला।

"हाँ, इसकी भुजाएँ भी काफी लम्बी हैं।"—दूसरे ने कहा।

"यह परम तेजस्वी मालूम होता है।"—यह तीसरे का स्वर था।

कहते हैं कि मेरे पिताजी कुछ समय तक मुझे गौर से देखते रहे। फिर उन्होंने

मुझे गोद में उठाया और बोले—"आ बेटा। तू तो मेरे पापों का ही फल है, पर इसमें तेरा क्या दोष ?"

अब मैं आश्रम में ही पलने लगा। यज्ञ-कलश के पास पाये जाने से लोग मुझे द्रोण कहने लगे। मेरा नाम ही जैसे द्रोण हो गया।

करीब-करीब रोज ही मेरी माँ प्रच्छन्न रूप से मुझे देख जाती थी।

एक विशेष घटना घटी। पिताजी को ज्ञात हुआ कि मेरे सोते हुए बच्चे के निकट एक मणि पायी गयी है। वह मणि मेरी माँ ने ही गिरायी थी। शायद पिताजी को अपने आने का बोध कराने के ही लिए उसने ऐसा किया था। घृताची यह देखना चाहती थी कि मेरी उपस्थिति का ज्ञान होने पर भरद्वाजजी की क्या प्रतिक्रिया होती है ?

पर तमाशा विचित्र हुआ। वह मणि मेरे पिताजी को न मिलकर एक ब्रह्मचारी को मिली। उसने उसे छिपा लिया। मनुष्य की नीयत और क्वार के बादलों का क्या ठिकाना ?

मेरी माँ को मेरे पिताजी की प्रतिक्रिया मालूम न हो सकी। उसे लगा, मेरे इस प्रयत्न का जैसे उन पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा हो। वह बड़ी चिन्ता में थी कि अब कौन-सा उपाय निकाला जाये।

पिताजी ने भी पता लगाते-लगाते आखिर पता लगा ही लिया कि वह मणि किस ब्रह्मचारी को मिली है। उन्होंने उसे बुलाया।

"क्यों जी, सुना है तुमने कोई मणि चुरा ली है ?"—पिताजी ने पूछा।

ब्रह्मचारी बड़े आश्चर्य में पड़ा कि आचार्यजी को यह कैसे मालूम हो गया। वह पिताजी के चरणों पर गिर पड़ा और घबराहट में सारी बातें साफ-साफ बता दीं।

"तुमने यह मणि कब द्रोण के पास पायी थी ?" पिताजी ने पूछा।

"बिल्कुल ब्राह्म-मुहूर्त में। जब मैं सोकर उठा, इस बालक के पास यों ही घूमता हुआ आया। वहीं बगल में यह चमकती हुई पड़ी थी।"

ब्रह्मचारी वह मणि पिताजी को देने लगा, किन्तु पिताजी ने नहीं लिया और वे उससे बोले—"तुमने इसे पाया है। अब यह तुम्हारी हो चुकी। तुम

इसे ले जाओ।"'किन्तु याद रखो, ब्रह्मचारियों को धन नहीं, वरन् विद्या का लोभी होना चाहिए।"

वह ब्रह्मचारी चुपचाप मुँह लटकाये हुए वहाँ से हट गया। बाद में अनेक लोगों ने और अनेक अवसरों पर पिताजी के मुख से सुना कि घृताची को लुक-छिपकर आने से क्या फ़ायदा? सच तो सभी जानते हैं। लोक-लाज के भय से सत्य को छिपाना भी नहीं चाहिए। साहसपूर्वक स्वीकार करना चाहिए।''''और फिर समय की धूल पड़ते-पड़ते प्रखर-से-प्रखर याद भी धूमिल हो जाती है। बात पुरानी पड़ गयी। डरना नहीं चाहिए।

लगता है यह बात मेरी माँ को मालूम हो गयी। वह यदा-कदा पिताजी से मिलने आने लगी, फिर भी वह लोगों के सामने आना पसन्द नहीं करती थी। मुझसे तो कभी वह प्रत्यक्षतः नहीं मिली। परोक्ष में ही मुझे देखकर सन्तोष कर लेती थी। कदाचित् वह मुझे यह बताना नहीं चाहती थी कि मैं एक अप्सरा का पुत्र हूँ। पर मैं इस तथ्य से भली-भाँति अवगत हो गया था।

मैंने सुना है कि वह वसंत और शरद में बहुधा आश्रम में आती थी। बहुत दिनों तक यह क्रम चलता रहा। बाद में तो वह दिखायी नहीं पड़ी। मेरी माँ का क्या हुआ? मुझे नहीं मालूम।

जीवन समय के पगों पर आगे बढ़ा। धीरे-धीरे मैं बड़ा हो चला। आश्रम में मेरे साथ खेलने के लिए एक बालक और आ गया। वह सुन्दर और स्वस्थ था। देखने में सम्पन्न मालूम हो रहा था। आश्रम में सामान्य सात्त्विक जीवन में भी उसकी सम्पन्नता स्पष्ट लक्षित हो रही थी। लोग उसे द्रुपद कहते थे।

मुझे ठीक याद है। एक दिन मेरे इस मित्र के पिताजी आश्रम में पधारे थे। उनके साथ कुछ सैनिक और परिचारक भी थे। स्वर्ण-मुकुट, अलंकार एवं बहुमूल्य वस्त्रों से विभूषित उनका भव्य व्यक्तित्व राजाओं जैसा था। बाद में

पता चला कि वह राजाओं जैसे नहीं, वरन् पांचाल देश के राजा ही हैं। इसका नाम पृषत है।

मेरे मित्र ने मुझे बड़े प्रेम से बताया कि पिताजी आते तो अवश्य हैं, पर अपने साथ कभी ले नहीं जाते।

उन दिनों यह परंपरा थी कि चाहे राजा का पुत्र हो या रंक का, जब एक बार आश्रम में आ जाता था तो समय पूरा होने के बाद ही वह आश्रम से जा पाता था। विशेष परिस्थितियों के लिए आपात् व्यवस्था थी। किन्तु आश्रम के जीवन में व्यवधान या बाधा किसी प्रकार भी ग्राह्य नहीं था।

इतने दिनों तक आश्रम में रहने के बाद भी द्रुपद अपना राजसी ठाट भूल नहीं पाया था। मैंने उससे पूछा था—"क्यों? तुम्हें यहाँ अच्छा नहीं लगता क्या?"

"नहीं, बिल्कुल नहीं।"—उसने कहा।

"क्यों? यहाँ कोई कष्ट है?"

"नहीं, कष्ट तो नहीं है, पर राजप्रासाद जैसा सुख नहीं है।" उसने कहा।

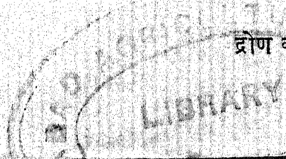
मेरी बाल-सुलभ जिज्ञासा जागी। मैंने पूछा,—"राजप्रासाद में कैसा सुख मिलता है?"

वह क्या बताता? राज-सुख का विवरण प्रस्तुत करने में उस समय उसकी भाषा सर्वथा असमर्थ थी, फिर भी कुछ मुख-मुद्रा से और कुछ दो हाथों के संकेत के सहारे उसकी लँगड़ी जबान ने राजसुख को बताने की असफल चेष्टा की। पर मेरे पल्ले कुछ भी नहीं पड़ा। मैंने लगातार कई प्रश्न अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए किये, पर सब व्यर्थ था।

जब वह मुझे समझा नहीं पाया तो मुझसे झुंझलाकर बोला,—"अच्छा तो तुम मेरे साथ चलना, मैं तुम्हें राजप्रासाद के सुख का अनुभव कराऊँगा।"

"यदि तुम न ले गये तो?"

"भला ऐसा कभी होगा? तुम मेरे मित्र हो। साथ-साथ यहाँ रहते हैं। खेलते हैं। प्रासाद में भी साथ-ही-साथ रहेंगे।"—उसने बड़े विश्वास के साथ कहा।



मेरा बचकाना मन प्रासाद-सुख की हवाई कल्पना करने लगा।

जब कभी भी पृषत आश्रम में आते, मैं भी द्रुपद के साथ दौड़ा हुआ उनके पास जाता। उनके निकट ही बैठता। वे बड़े प्रेम से अपने पास बैठाते भी। प्यार करते। मुझे साफ लगा कि जब मैं द्रुपद के साथ राजप्रासाद में जाऊँगा तो वे मुझे ऐसा ही प्यार करेंगे।

मैं तरह-तरह के उनसे प्रश्न भी करता, यथपि वे मूर्खता-पूर्ण ही होते। वे हँसते हुए ही उत्तर देते। ये मेरी हर बात पर हँसते थे। बड़ी मुक्त हँसी थी उनकी।

एक बार मैंने उनके मुकुट पर हाथ रखते हुए कहा,—"मुझे भी एक ऐसा ही बनवा दीजिए।"

वे हँसने लगे। उनके साथ ही मेरे पिताजी भी हँस पड़े। पृषत ने ही कहा—"ऋषिकुमारों और ब्राह्मणों के सिर पर सोने का ऐसा मुकुट शोभा नहीं देता।"

"तब किस वस्तु का मुकुट शोभा देता है?" मैंने पूछा।

"ज्ञान, त्याग और तपस्या का।"—वे बोले।

"कहाँ है वह मुकुट?" मैंने पुनः पूछा।

"तुम्हारे पिताजी के सिर पर।"—वे बोले और हँसने लगे।

मैं अवाक्-सा रह गया। पिताजी के सिर पर तो कोई मुकुट नहीं था और न वे कभी मुकुट पहनते ही थे।

मैं कुछ क्षणों तक पिताजी के सिर की ओर लगातार देखता ही रहा और सोचता रहा। मुझे चिन्तन-मुद्रा में देखकर पृषत ने मुस्कराते हुए पूछा,—"क्या सोच रहे हो?"

पिताजी के मस्तक पर मुकुट खोज रहा हूँ।

सब-के-सब जोर से हँस पड़े। इस हँसी में आश्रम के अनेक ब्रह्मचारियों की भी हँसी सम्मिलित थी।

"तो मिला वह मुकुट?"—इस बार भी मुस्कराहट के बीच ही वे बोले।

"वह तो दिखायी ही नहीं देता।"—मैंने झट से उत्तर दिया।

उन्होंने मेरे गाल पर चपत लगायी और बड़े प्यार से कहा,—"हाँ बेटा, बच्चों को ज्ञान, त्याग और तपस्या का मुकुट दिखायी नहीं देता। जब तुम बड़े हो जाओगे तो देखने लगोगे।....वह मुकुट हमारे इस स्वर्ण-मुकुट से बहुत अच्छा होता है। उसे कोई चुरा नहीं सकता और न कोई छीन सकता है। वह कभी गन्दा नहीं होता। अनेक स्वर्ण-मुकुट त्याग-तपस्या और ज्ञान के मुकुट का चरण-चुम्बन करते हैं।

मेरे जैसे बालक की बुद्धि के परे यह बात थी। जो कुछ भी मैं समझ पाया उसी के आधार पर इतना ही बोला,—"मैं भी ज्ञान और तपस्या का वह मुकुट पहनूँगा।"

"हाँ, बेटा तुम जरूर पहनोगे।"—इतना कहते हुए उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया।

"....और मैं कौन-सा मुकुट पहनूँगा?"—अब तक चुप खड़ा मेरा मित्र द्रुपद बोला।

"तुम मेरा मुकुट पहनना।"—पृषत ने कहा।

"नहीं...नहीं। मैं आपका मुकुट नहीं पहनूँगा। जब द्रोण ज्ञान और तपस्या का मुकुट पहनेगा तब मैं भी वैसा ही पहनूँगा।"—मेरे प्रति द्रुपद की बाल-सुलभ ईर्ष्या जिद पकड़ गयी।

"अच्छा बेटे, तुम भी त्याग और तपस्या का ही मुकुट पहनना।"—सब-के-सब, पता नहीं क्यों, फिर से हँसने लगे।

हम दोनों खुश हो गिलहरियों जैसे उछलते-कूदते आश्रम की यज्ञशाला की ओर चले आये।

पृषत कब गये? पता नहीं। किन्तु एक ब्रह्मचारी महाराजा पृषत की बड़ी प्रशंसा कर रहा था। उसने बताया कि महाराज आश्रम का सदा ध्यान रखते हैं। उन्होंने इस बार भी आचार्यजी से जोर देकर पूछा था,—"अर्थ के अभाव में आश्रम के धर्म और कर्म में किसी प्रकार की बाधा तो नहीं पड़ती?"

आश्रम के अनिवार्य कार्यों में भिक्षा ले आना भी एक कार्य था। हम सभी लोग भिक्षाटन के लिए जाते थे। मेरे साथ द्रुपद भी रहता था, किन्तु उसकी भिक्षा माँगने में कोई रुचि नहीं रहती थी। जंगली जानवरों का पीछा करना, पेड़ों पर चढ़ जाना उसे विशेष प्रिय था। उसे कोई मना भी नहीं करता था। एक दिन मैंने ही सारी बातें बतायी थी, फिर भी वे अनसुनी कर गये।

इस प्रकार द्रुपद परम स्वतंत्र था। मैं कुछ ऐसा सोचता हूँ कि पिताजी उसे इसलिए भी कुछ नहीं कहते थे कि उसके पिता से आश्रम को कुछ आर्थिक सहायता मिलती थी।

आश्रम के कुछ नियम थे। ब्राह्ममुहूर्त में आचार्यों को उठने के पूर्व ही ब्रह्मचारियों को उठना पड़ता था। नित्यकर्म से निवृत्त होकर पिछले पाठ की आवृत्ति कर लेनी होती थी। इसके बाद सन्ध्या होती थी और फिर अग्निहोत्र आरम्भ हो जाता था। इन कार्यक्रमों का पालन बड़ी कड़ाई से किया जाता था, पर द्रुपद को जैसे इसकी भी चिन्ता नहीं थी। वह आलसी तो कभी-कभी अग्निहोत्र के समय बिस्तर छोड़ता था।

एक दिन उसकी देखा-देखी मैं भी देर तक सोता रहा। सारे कार्यक्रम मेरे गड़बड़ा गये। विलम्ब से यज्ञशाला में पहुँचा। पिताजी पौरोहित्य कर्म में संलग्न थे। मुझे देखकर उन्होंने अपनी दृष्टि घुमा ली। उस समय तो वे कुछ नहीं बोले। यज्ञ समाप्त होने के बाद मुझे खूब फटकारा। बाद में समझाया भी।

मैंने कहा—"द्रुपद भी तो देर तक सोता है। आप उसे कुछ नहीं कहते।"

"बेटा, वह राजा का लड़का है और तुम मुझ जैसे आचार्य के।"—उन्होंने कहा।

"इससे क्या होता है ? उसके पिताजी ने तो हम सबके सामने उससे कहा था कि तुम्हें आश्रम के सभी नियमों का कड़ाई के साथ पालन करना चाहिए।"

"हाँ, करना तो चाहिए।""""किन्तु यदि नहीं करता, तो जाने दो। वह राज-पुत्र है। यदि उसे शास्त्र-ज्ञान नहीं भी हुआ तो उसका कुछ नहीं बिगड़ेगा।"""पर यदि तुम्हें मेरी विद्या नहीं आयी, तो माँगी भीख भी नहीं मिलेगी।"—पिताजी का स्वर कुछ रोष से भरा था।

मैं बात बढ़ाना नहीं चाहता था। चुप हो गया। फिर भी पिताजी ने मुझे दंड देते हुए कहा,—"कल यज्ञ के लिए सारी समिधा तुम्हें ही लानी पड़ेगी।··· कल मैं 'अतिरात्र' यज्ञ का विधान करूँगा।····तुम अभी से यह कार्य आरम्भ कर दो। कोई भी ब्रह्मचारी इसमें तुम्हारी सहायता नहीं करेगा।"

'अतिरात्र' यज्ञ दिन-भर चलता रहता है। बहुत अधिक लकड़ियाँ जुटानी थीं। सचमुच उस दिन मुझे बड़ा श्रम करना पड़ा। किसी ने मेरी कोई सहायता नहीं की। यहाँ तक कि उस दिन द्रुपद मुझसे बोला तक नहीं। इसका मुझे दुःख था। मैं तो उसके हर काम में हाथ बँटाता था और उसका यह व्यवहार! मेरे लिए असह्य था। मैं सोचता था कि सहायता न करने की यदि आचार्य की आज्ञा थी तो वह न करता, किन्तु द्रुपद सान्त्वना तो दे सकता था।

दूसरे दिन मौका देखते ही मैंने कहा,—"कल मुझे इतना कठोर दंड मिला था और तुम मुझसे बोले तक नहीं।"

"क्यों बोलूँ? तुमने मेरा कौन-सा भला किया है?"

"आखिर मैंने तुम्हारी हानि क्या की है?"

"तुमने मेरी आचार्य से शिकायत नहीं की है?"

"नहीं, कभी भी नहीं।"

"क्या तुमने आचार्यजी से यह नहीं कहा था कि देर से सोकर उठने के लिए आप मुझे ही क्यों दंडित करते हैं, द्रुपद को क्यों नहीं करते?"

"हाँ, कहा था।"—मैंने बड़ी ईमानदारी से स्वीकार किया।

"तब क्या यह मेरी निन्दा नहीं थी?"

"नहीं, बिल्कुल नहीं। मैंने तो सभी के साथ समान व्यवहार करने का आग्रह किया था।"

मुझे स्पष्ट अनुभव हो गया कि द्रुपद मेरे इस उत्तर से संतुष्ट नहीं है। उसकी मुख-मुद्रा कुछ ऐसा बता रही थी कि राजा और रंक एक-से नहीं होते। इसलिए उनके साथ व्यवहार भी एक-सा नहीं होना चाहिए।

इस घटना के बाद वह मुझसे नाराज था। कई दिनों तक बोला नहीं।

सब कुछ होने के बाद भी द्रुपद ही मेरा सबसे घनिष्ठ मित्र था। सम्पन्न था इसलिए आलसी था। कामचोर था। उसके जिम्मे का करीब-करीब सभी काम मैं करता था। अभी वह सोता ही रहता था कि मैं नित्यकर्म से निवृत्त होकर उसके बिस्तर के पास ही अपने पाठ की आवृत्ति आरम्भ कर देता था। जिससे उसके कानों में आवाज पड़े और उसे भी कुछ पाठ याद हो जाये। इतने पर भी वह उठता नहीं था। बिस्तर के भीतर से ही मेरे स्वर में स्वर मिलाता था।

उन दिनों से ही आश्रमों के जीवन में भेदभाव का कोढ़ लगना आरम्भ हो गया था। कुछ समाजचेता लोग इसके लिए गम्भीर रूप से चिंतित थे। अब भी ऐसे आश्रम थे जहाँ कृष्ण और सुदामा साथ शिक्षा ग्रहण करते थे और आचार्य संदीपनि उनके साथ समान व्यवहार करते थे, किन्तु मेरे पिताजी ऐसा पृषत से दबे थे कि वे उसके पुत्र द्रुपद से कुछ कह नहीं पाते थे।

धीरे-धीरे दिन बीतते गये।

पिताजी की सम्पूर्ण शास्त्र-विद्या हमने ग्रहण कर ली। आश्रम का दीक्षान्त समारोह हुआ। उस में पृषत भी पधारे। समारोह के बाद उन्होंने पिताजी से बातें की। उस समय द्रुपद के साथ मैं भी था।

"आपने बड़ी कृपा की जो मेरा पुत्र शास्त्र-विद्या में पारंगत हो गया है।"—पृषत ने कहा।

मैंने मन-ही-मन कहा—"हाँ खूब पारंगत हो गया है।"—पर पिताजी कुछ नहीं बोले। केवल मुस्कराकर रह गये।

उन्होंने पुनः कहा,—"किन्तु हम राजाओं का काम इससे तो चलनेवाला नहीं है। उचित शस्त्र-शिक्षा के बिना शास्त्र-शिक्षा हमारे लिए फलवती नहीं हो सकती। अतएव द्रुपद को शस्त्र-शिक्षा देने के लिए किसी योग्य गुरु का चयन करना है।"

कई नाम सामने आये। किसी पर भी मेरे पिताजी और पृषत एकमत न हो सके, अंत में यह बात उस रात-भर के लिए स्थगित कर दी गयी।

आज पिताजी द्रुपद से बातें करते समय अधिक मौन थे। कुछ सोच भी रहे थे। सम्भवतः वे सोच रहे थे कि द्रुपद जब आश्रम से चला जायेगा तब पृषत का लगाव कम हो जायेगा। आश्रम को इससे आर्थिक क्षति भी हो सकती है।

आश्रम, तपस्या और विद्या के केन्द्र-विन्दु राजाओं के मुखापेक्षी हो गये थे। समाज का यह पतन मेरे जन्म के पूर्व से ही आरम्भ हो गया था।

अंत में पिताजी ने एक युक्ति निकाल ही ली।

प्रातःकाल शस्त्र-विद्या सिखाने के लिए उन्होंने अग्निवेश्य का नाम सुझाया। अग्निवेश्य अपने समय के शस्त्र-विद्या के प्रकांड ज्ञाता थे। आग्नेय अस्त्रों की ऐसी कला पूरे आर्यावर्त में कोई नहीं जानता था।

मेरे पिता की बात पृषत को जँच गयी। किन्तु, इसके साथ ही मेरे पिता ने उनसे एक बात और कही,—"····मैं चाहता हूँ कि द्रोण भी द्रुपद के साथ ही शस्त्र-विद्या सीख ले।"

पृषत हँसे। "ब्राह्मण को शस्त्र-विद्या की क्या आवश्यकता है, आचार्य ?"

"क्यों ? वह भी तो एक विद्या है।····और सभी विद्याओं पर ब्राह्मण का अधिकार है।····देखते नहीं आप, परशुरामजी की शस्त्र-विद्या उनकी शास्त्र-विद्या से कहीं अधिक प्रबल है।····और अग्निवेश्य भी ब्राह्मण ही हैं।"—पिताजी ने कहा।

"मैं यह नहीं कहता कि ब्राह्मण को शस्त्र-विद्या नहीं ग्रहण करनी चाहिए किन्तु मेरा विचार है कि ब्राह्मण का एकाधिकार केवल ब्रह्मविद्या पर है।"—पृषत बोले।

पिताजी हँसे। किसी का भी किसी विद्या पर एकाधिकार नहीं होता राजन्।···विद्या तो विद्या-ग्रहण करनेवाले की पात्रता पर निर्भर करती है।····यदि ब्रह्मविद्या पर केवल ब्राह्मणों का ही अधिकार होता तो मैं द्रुपद को अपना शिष्य क्यों बनाता।"—इस बार पिताजी जोर से हँसे। निस्सन्देह उनकी हँसी बनावटी थी।

मुझे कुछ ऐसा लगा कि पिताजी की बात पृषत को अच्छी नहीं लगी। उनकी आकृति पर अनावश्यक गम्भीरता छा गयी।

पिताजी ने पुनः कहा,—"यह भी एक मिथ्या धारणा है कि शास्त्र-विद्या ब्रह्मविद्या नहीं है।....सभी विद्याओं का मूल स्रोत तो ब्रह्मविद्या ही है महाराज।....आप ही क्या शस्त्र और शास्त्र दोनों में पारंगत नहीं हैं ?"

मेरा विश्वास है कि अन्तिम वाक्य पिताजी ने पृषत को प्रसन्न करने के ही लिए कहे थे क्योंकि उस सन्दर्भ में इस वाक्य की कोई आवश्यकता नहीं थी।

अग्निवेश्य के आश्रम में द्रुपद के साथ मैं भी शस्त्र-शिक्षा ग्रहण करूँ। पिताजी की इस इच्छा के पीछे दो मुख्य कारण थे। पहला कारण तो यह था कि मेरे पिताजी शास्त्र-विद्या में निपुण थे पर शस्त्र विद्या में नहीं। मुझमें यह कमी वे रहने देना नहीं चाहते थे, क्योंकि वे देखते थे कि पहले जैसा अब समाज में शास्त्र-ज्ञान का सम्मान नहीं रह गया। शास्त्रज्ञ लोग आश्रमों में केवल तपस्या करते रह जाते हैं। शस्त्र-विद्यावालों की ही राजाओं के यहाँ पूछ रह गयी है।

दूसरी बात यह थी कि वे अपना सीधा सम्बन्ध पृषत से बनाये रखना चाहते थे। इसी से वे द्रुपद से मुझे अलग रखने के पक्ष में नहीं थे।

बात तय हो गयी। हम दोनों अग्निवेश्य के यहाँ चले।

अग्निवेश्य का आश्रम विशाल था। आरण्यक वातावरण से आच्छादित इसका मूल परिवेश युद्धक था। वहाँ हमें अन्य ब्रह्मचारियों से अधिक सम्मान मिला। द्रुपद का सम्मान तो राजा का पुत्र होने के कारण था, किन्तु मेरे सम्मान का आधार मेरे पिताजी की अग्निवेश्य से मित्रता थी। गुरुपत्नी भी मुझे पुत्र जैसा मानती थीं।

द्रो०—२

ऐसी आत्मीयता वहाँ द्रुपद को नहीं मिली। सम्भव है, वह भीतर-ही-भीतर जलता रहा हो। पर वहाँ उसके पिता का उतना प्रभाव नहीं था जितना मेरे आश्रम में था। इसी से वह मुझसे दबता भी था।

मैं उसकी कमजोरी जानता था। वह बहुत बड़ा कामचोर था। केवल उत्पातों में ही उसका मन लगता था। नये-नये उत्पातों का आविष्कार करने में उसकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। आश्रम के पशु-पक्षी तो उससे संत्रस्त-से हो गये थे।

इसके लिए अग्निवेश्य ने उसे डांटा-फटकारा भी, पर कुत्ते की दुम टेढ़ी की टेढ़ी ही रही। अन्त में यह सोचकर कि वह राजपुत्र है, हिंसात्मक वृत्ति ही उसकी प्रधान है, आचार्य ने उसकी ओर से ध्यान हटा लिया। वह छुट्टे साँड़-सा विचरने लगा।

किन्तु एक दिन वह मुझे बड़ा दुःखी दिखायी दिया। एक झाड़ी के झुरमुट में वह बैठा था। उसने मुझे बुलाया और चिन्ताकुल स्वर में बोला—"सोचता हूँ। आश्रम की शिक्षा पूरी किये बिना ही यहाँ से चला जाऊँ।"

"क्यों?"

"मैं परेशान हो गया हूँ। दिन-भर आचार्य शस्त्रों का अभ्यास कराते हैं और रात को उनके सिद्धान्त पक्ष का अध्ययन। यह दोनों मुझसे नहीं होगा। ...शस्त्रों का अभ्यास तो मैं कर सकता हूँ, पर उसके सिद्धान्त पक्ष का अध्ययन करना और उनके रेखा-चित्र बनाना यह मेरे बस का कार्य नहीं है।"

"तब सारी बातें आचार्यजी से क्यों नहीं कहते?"

"किन्तु यहाँ मेरी सुनता कौन है?"—अत्यन्त उदासी-भरे उसके शब्द थे। मैंने उसे समझाते हुए कहा,—"....यदि तुम यहाँ से चले जाओगे तो तुम्हारे पिताजी क्या कहेंगे?"

"मैंने उन्हें भी सारी बातें साफ-साफ लिख दी हैं।"

उसकी मनःस्थिति और बातचीत से यह स्पष्ट था कि द्रुपद निराश हो गया है और यहाँ से चला जायेगा। मुझे दुःख हुआ। इतने दिनों से वह

मेरे साथ था। मित्रता का मोह जागा। मैंने कहा,—"इस आश्रम को छोड़ना चाहते हो तो छोड़ दो, पर मुझे मत छोड़ो द्रुपद।"

"तब तुम भी आश्रम छोड़कर मेरे साथ चलो।"

"यह मेरे लिए सम्भव नहीं हैं। ज्ञानार्जन के अतिरिक्त मेरे लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है। तुम तो राजकुमार हो।....पिता का राज्य तुम्हारे लिए सुरक्षित है, पर मैं क्या करूँगा?....दूसरी बात यह है कि मेरे पिताजी कभी भी मुझे यहाँ से हटने की अनुमति नहीं देंगे।"

"तब तुम हमारी एक बात मानो।"

"बताओ! क्या करूँ?"

दिन का अभ्यास तो मैं कर लूँगा उसमें हमारा मन लगता है, किन्तु रात का मेरा काम तुम कर दिया करो।....तुम जानते हो कि सूर्यास्त होते ही नींद से मेरी पलकें बोझिल होने लगती हैं। प्रत्येक प्रयोग का रेखाचित्र बनाकर उसे लिखना यह मुझसे जरा भी नहीं होता।"

"अच्छा भाई, यह काम मैं तुम्हारा कर दिया करूँगा।"

वह बड़ा खुश हुआ। उसने दोनों भुजाओं से मुझे छाती से लगा लिया.... और फिर मुझे एकदम उठा लिया। वह जब भी मुझ पर खुश होता था ऐसा ही करता था।

मैंने फिर पूछा—"अच्छा बताओ इसके लिए तुम मुझे क्या दोगे?"

"दूँगा क्या? तुम मेरे मित्र नहीं हो?" वह पुनः मुझसे लिपटकर जोर से हँसने लगा और बोला—"तुम मेरे संकट में काम आ रहे हो, मैं भी तुम्हारे संकट में काम आऊँगा।"

"चलो पक्का रहा।....किन्तु अपने वचन याद रखना।"—मैंने कहा।

"बिल्कुल याद रहेगा। द्रुपद पाठ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं भूलता।"—उसके कहने के ढंग पर मुझे हँसी आ गयी।

उस दिन से वह अपना प्रयोगात्मक अभ्यास करता था और मैं उसके प्रयोगों के सिद्धान्त-पक्ष को लिख देता था।

कुछ ही दिनों में इस तथ्य को सभी ब्रह्मचारी जान गये थे। अग्निवेश्य के कानों तक भी यह बात पहुँच चुकी थी। सुना, कि वे भी केवल हँसकर रह गये थे।

एक दिन मेरे पिताजी पृषत के साथ आश्रम में आये। बाण-विद्या के प्रयोग चल रहे थे। प्रयोग करने में द्रुपद तो तेज था ही। उसके कौशल को देखकर पृषत फूले नहीं समाये। उन्होंने मेरे पिताजी की ओर गर्व से देखते हुए कहा,—"आचार्य, देखा आपने अपने शिष्य का कौशल?"

"आखिर आपका ही रक्त है न।"—मेरे पिताजी ने पृषत को प्रसन्न करने के ही लिए कहा था, यद्यपि वे तथ्य से परिचित थे।

उसी रात द्रुपद ने मेरे सामने ही पृषत से कहा—"मैं अब यहाँ रहना नहीं चाहता। अच्छा हो अब आप मुझे राजधानी ले चलें।"

उस समय वहाँ मेरे पिताजी भी उपस्थित थे। उन्होंने द्रुपद को समझाते हुए कहा—"अग्निवेश्य की सारी विद्या सीख लेने के बाद ही तुम्हें आश्रम छोड़ना चाहिए।"

पिताजी का यह कथन उसने स्वीकार नहीं किया, साफ-साफ कह दिया,—"अब मेरा मन यहाँ लगता नहीं है।"

"पर मन तो लगाने से लगेगा।"—पिताजी ने पुनः कहा।

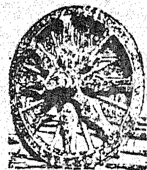
"किन्तु व्यर्थ यहाँ रहने से क्या लाभ? शस्त्र-विद्या की मुख्य-मुख्य बातें तो मैंने सीख ही ली हैं।"—द्रुपद ने कहा।

पृषत को अपने पुत्र पर पूरा विश्वास था। वे समझते थे कि मेरा पुत्र अग्निवेश्य की विद्या में पूर्ण पारंगत हो गया है। उन्होंने मुस्कराते हुए मेरे पिता जी से कहा "यदि मन लगाना ही है तो शासन-व्यवस्था में क्यों न लगाया जाय।"

इसके कुछ ही दिनों बाद मेरे पिताजी के न चाहने पर भी पृषत के चहेते ने आश्रम छोड़ दिया।

और इसके बाद पांचाल से मेरे परिवार का सम्बन्ध करीब-करीब छूट गया। यहाँ तक कि आश्रम के उस दीक्षान्त समारोह में भी द्रुपद नहीं आया जिसमें मुझे अन्तिम दीक्षा दी गयी और मैंने आश्रम से विदा ली। यह बात मुझे बहुत खटकी।





अग्निवेश्य से दीक्षा लेकर मैं पुनः अपने आश्रम चला आया।

पिताजी का वृद्ध तन अनेक रोगों का घर हो चुका था। अब उनसे आश्रम का कार्य चलता नहीं था। मैं उनकी सहायता करने लगा। अध्ययन-अध्यापन के साथ ही अन्य व्यवस्थाएँ भी मैं ही देखता था। पिताजी प्रातः-सायं केवल अग्नि-होत्र के समय उपस्थित होते थे।

एक दिन प्रातः काल पिताजी सोकर उठते समय गिर पड़े। बाद में पता चला उनके दाहिने पैर की संज्ञा शून्य होने लगी है। उस समय मैं यज्ञशाला में पिताजी की प्रतीक्षा कर रहा था।

ज्योंहीं ब्रह्मचारी ने मुझे उनकी बीमारी की सूचना दी, मैं दौड़ा हुआ पिताजी के पास आया। वे फूस की शय्या पर पड़े थे। मुझे देखते ही उन्होंने मुस्कराने की चेष्टा की। बोले,—"बेटा, मैं बिल्कुल पक चुका हूँ। पता नहीं कब चू जाऊँ।....मुझे सन्तोष इतना ही है कि तुम योग्य हो चुके हो।.... आश्रम संभाल लोगे।"

इतना कहने के बाद वे चुप हो गये। ऊपर छप्पर के छिद्रों के बाहर उनकी दृष्टि दूर—कहीं दूर कुछ खोजती रही। कुछ ही क्षणों बाद वे बड़े धीरे से मन्द्र स्वर में बोले,—"मेरी एक इच्छा थी।"

"क्या ?"—मैं जिज्ञासा की चरम सीमा पर था।

उन्होंने वैसे ही धीरे-धीरे कहा,—"मेरी इच्छा थी कि मैं तुम्हारा विवाह कर देता।"

मुझे महान आश्चर्य हुआ कि पिताजी इस समय विवाह की बात क्यों सोचने लगे ? किस संदर्भ में उनकी चिन्तना इस ओर बढ़ी ? ऐसा तो नहीं कि वे जीवन्त-भर अविवाहित थे इसलिए ? अथवा एक देवांगना के समक्ष उनका स्खलन हो

गया था इसलिए ?....चाहे जो भी रहा हो। मैंने उनकी बात चुपचाप सुन ली ।

उन्होंने पुनः कहा,—"मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी यदि तुम विवाह कर लोगे ।"

मैंने सिर हिलाकर स्वीकृति प्रदान की ।

उन्होंने पुनः कहा,—"कोई आवश्यकता पड़े तो पृषत से मिल लेना ।"

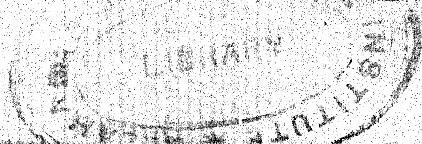
मैंने फिर स्वीकृति में सिर हिलाया ।

इसके बाद उनकी आँखें मुँद गयीं । फिर कभी नहीं खुलीं ।

जब अग्निवेश्य को मेरे पिताजी के महाप्रयाण का संवाद मिला तो वे भी बड़े दुःखी हुए । वे पिता के मित्र होने के साथ-ही-साथ उनके शिष्य भी थे । पिताजी के त्रयोदशाह के दिन वे मेरे यहाँ आये । मुझे सान्त्वना देते हुए कहा,—"बेटा, अपने पिता के ही आदर्शों पर चलना ।....देखो....यदि वे चाहते तो कितनी अर्थ-सम्पदा इकट्ठी कर लेते, पर उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया । उन्हें मोह तो छू तक नहीं गया था ।"

मैंने देखा, इतना कहते-कहते उनकी आँखों में आँसू आ गये थे । हम सब भी अत्यन्त गम्भीर थे । बर्फ जैसी जमी निस्तब्धता को आश्रम के मेरे ही वय के एक ब्रह्मचारी ने भग्न करते हुए कहा,—"मेरे सामने ही कई राजाओं ने उनसे बहुत कुछ देने को कहा, पर वे किसी प्रलोभन में नहीं आये ।"

"वे क्यों आते ? वे जानते थे कि ब्राह्मण के लिए अर्थ का लोभ अनर्थ करता है । वह रूखी-सूखी खाकर स्वयं ही नहीं जीता, वरन् पूरे समाज को जीवन-दान देता है । उसके तपःपूत भृकुटी-विलास से देश की सारी राजनीति नियंत्रित होती है, किन्तु यह सब कुछ तभी हो सकता है जब स्वर्ण के चाकचिक्य में वह फँसता नहीं है ।"



उसी समय मैंने भी पिता के आदर्शों पर चलने का निश्चय कर लिया था। घोर-से-घोर आर्थिक संकट सहूँगा पर विद्या-व्यसन नहीं छोड़ूँगा।

बातचीत के सिलसिले में यह भी मालूम हुआ कि पृषत भी अब नहीं रहे। दो ही चार दिन हुआ वह भी चल पड़े। मेरे पिताजी के कितने अच्छे मित्र थे। धरती पर तो मित्रता निबाही, स्वर्ग में भी उनका साथ नहीं छोड़ा।

किन्तु द्रुपद में वह बात नहीं है, अग्निवेश्य ने यह स्वीकार किया। उन्होंने कहा,—"गुणों को तो जाने दो, वरन् द्रुपद में वे सारे अवगुण हैं जो आजकल के राजाओं में आ गये हैं।....वह आलसी, प्रमादी, स्वार्थी और झूठा, सब कुछ है।

मैंने अग्निवेश्य को उसके दिये गये वचन को बताया। वे बोले—"जो गुरु के यहाँ पाठ भूल सकता है उसे अपने वचन को भुलाते कितनी देर लगेगी। वचन निभाना तो दूर रहा तुम यही देखना कि उसे कभी इस आश्रम की सुधि आती है या नहीं। आखिर उसने भी यहाँ अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण वर्ष बिताये हैं।"

अग्निवेश्य उस दिन आश्रम से चले गये, पर उनकी बात सच निकली। द्रुपद ने भूलकर भी हमें याद नहीं किया।

एक दिन महाराज शान्तनु स्वयं मेरे आश्रम में आये। मेरे साथ कई घण्टे रहे। शताधिक वर्षों से संसार को निरन्तर देखते रहनेवाली उनकी आँखों ने एक-एक वस्तु का निरीक्षण किया, मैं स्वयं समझ नहीं पाया कि ऐसा क्यों कर रहे हैं।

सब कुछ देखने के बाद उन्होंने मुझे कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ भी दीं और अपने प्रासाद में आने का निमंत्रण देकर चले गये। मैं प्रसन्न था, सोचता रहा, चलो कुछ और प्राप्ति हो जायेगी ही।

एक दिन समय निकालकर मैं शान्तनु के राजप्रासाद में पहुँचा। किसी प्रासाद में पहुँचने का मेरा यह प्रथम अनुभव था। एक आचार्य की तरह मेरी अभ्यर्थना की गयी। मुझे ससम्मान अतिथि-गृह में ठहराया गया। वहीं भीष्म से मेरा प्रथम साक्षात्कार हुआ। वह मेरे वय से अधिक थे, पर उनके गठीले बलिष्ठ तन को देखने से उनके वय का सही अनुमान लगाना कठिन था। उनके चन्दन से प्रशस्त ललाट पर ऊर्जस्वित ब्रह्मचर्य की आभा यज्ञ-कुण्ड की सुरभित ज्वाला की भाँति तेजोमय थी।

बातचीत में वे मुझे असाधारण लगे। आर्ष ग्रन्थों के तो वे आचार्य ही थे, साथ ही शस्त्र-विद्या का भी उन्हें अद्‌भुत ज्ञान था।

उनकी मेरी बहुत कम बातें हो सकीं। वे मेरी सुख-सुविधा की व्यवस्था कर चले गये। राज्य-कर्मचारियों की देख-रेख में मैं रख दिया गया।

मैं बड़े विस्मय में था कि आखिर यहाँ क्यों बुलाया गया। मेरा मन अनेक प्रकार के अनुमान लगाने के लिए बाध्य हो रहा था। हो सकता है, मुझे दान में कोई गम्भीर धनराशि मिले या शान्तनु मेरे आश्रम के लिए आवर्तक अथवा अनावर्तक अनुदान की व्यवस्था करें या मैं राजकीय शिक्षक नियुक्त कर लिया जाऊँ! मैं सोच सब कुछ रहा था, पर कोई बात जम नहीं रही थी।

स्वभावतः दिन में मैं कभी नहीं सोता था। आश्रम के जीवन में दिन में सोना वर्जित भी था। किन्तु पता नहीं क्यों, आज दोपहर के भोजन के बाद ही, ज्योंही मैं बिस्तर पर ढुलका, मुझे नींद आ गयी।

जब आँखें खुलीं, मैंने देखा सामने की खिड़की से दो बड़ी-बड़ी आँखें मुझे अनवरत निहार रही हैं। अद्‌भुत थी उनमें प्यास! विचित्र थी उनमें भंगिमा। लगता है वह मेरी सम्पूर्ण गति-विधि का अवलोकन कर रही थीं। मुझे जगा हुआ देखकर वे आँखें क्षण-भर में ही हट गयीं, पर उनका बोझ बहुत देर तक मन पर बना रहा।

पश्चिम की ओर ढुलके सूर्य की किरणों ने इस अतिथि-भवन की पुष्करिणी का स्पर्श छोड़ दिया था, फिर भी मेरी आँखें अनवरत उस ओर लगी थीं।

मछलियों की क्रीड़ाओं से प्रकम्पित मैं कमलनाल को देख रहा था, निरन्तर देखता जा रहा था। मुझे पुष्करिणी में ही तैरती हुई उस युवती की अनेक आँखें दिखायी दीं। मैं देखता रहा और उनमें डूबता रहा।

किसी नारी के सम्मोहन जाल में मैं पहली बार फँसा था। मैं यह कैसे कहूँ कि यह कितना सुखद था।....मैं अब सोचता हूँ कि कामिनी के दो नयनों के बोझ से निकल पाना जब मेरे लिए असम्भव हो गया तब भला मेरे पिताजी निर्वसना नारी-सौन्दर्य के समय न टिक सके तो इसमें आश्चर्य क्या?

मेरे ठंढे मन पर उसके रूप की किरणें पौष की धूप की तरह पड़ी थीं, उसमें मन की पंखुड़िया धीरे-धीरे खुलती रहीं। मैं खोता रहा। इस बीच वह कई बार मुझे देखने आयी। मैं भी उसे देखता। फूली हुई मालती लता-सा गदराया उसका मांसल तन-विन्यास मुझे उद्विग्न-सा कर रहा था। मेरी नयन-रश्मियाँ उसके रंगीन वस्त्रों को छेदकर बहुत भीतर; न जाने कहाँ-कहाँ तक पहुँच जाती थीं और मैं सिहर उठता था।

इस बार वह फिर मुझे देखने आयी। अब मैं अपने को रोक न सका, बोल पड़ा—"आइए, आइए।"

वह भीतर आयी, दाहिने हाथ की तर्जनी का सिरा दाँतों में दबाये हुए। इस बार मैंने ऊपर से नीचे तक देखा। सचमुच वह विचित्र थी, बासंती बयार-सी मादक, पुरवैया हवा-सी चंचल।

"आप कौन हैं?"—मैंने पूछा।

वह मुस्कराती रही। मेरे मन के काँपते धरातल पर जैसे बिजली गिर रही हो।

"आप इधर बार-बार आ रही हैं।"—मैंने पुनः कहा।

वह और मुखर होकर मुस्कराती रही।

"आपको मुझसे कोई काम तो नहीं है?"

इस बार वह खिलखिलाकर हँसी और इठलाती हुई चली गयी। मेरी दृष्टि ने उसकी हँसी का पीछा किया। मैंने कक्ष के बाहर आकर देखा। वह

कभी हँसती, कभी मुस्कराती, कभी इठलाती और कभी मुड़-मुड़कर मुझे देखती हुई अंतःपुर की ओर चली गयी।

कहाँ से आयी थी? क्यों आयी थी? कौन थी वह? कोई देवांगना तो नहीं? क्या मेरे जीवन में वैसा तो कुछ नहीं होनेवाला है जो मेरे पिताजी के जीवन में हुआ। मैं पुरुष हूँ, सोचता हूँ, मेरी दृढ़ता कहाँ गयी? लगता है कि मैं नारी-सौन्दर्य की ढाल पर ढुलक जानेवाला एक पत्थर मात्र हूँ जो यदि पिस गया तो सिकता-कण हो जायेगा, यदि रह गया तो शिव-लिंग की तरह पूजा जायेगा।...तो मैं दृढ़ रहूँगा, अवश्य रहूँगा। मेरी वासना मुझे पिसकर बालू नहीं बना सकेगी, वरन् मेरी दृढ़ता को मुझे शिव की तरह पूज्य बनाना चाहिए।

इतना सोचते ही मैं कक्ष में लौट आया। अपने वासना के घोड़े को विवेक की लगाम से कसने लगा।

सन्ध्या के समय प्रासाद में चलने के लिए पहले से ही निमंत्रण था। जब मैं पहुँचा, महाराज शान्तनु अपने उच्चासन पर विराजमान थे। मैंने देखा, वे अत्यन्त वृद्ध हो गये हैं। कपास जैसे बालों से आच्छादित उनका मुख-मंडल सूरज की तरह चमक रहा है।

उनके प्रमुख पारिषद भी वहाँ उपस्थित थे। मेरे पहुँचते ही सभी उठकर खड़े हो गये। यथोचित सम्मान से आसन पर बैठाये जाने के बाद महाराज बोले—
"आपको यहाँ किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है?"

"नहीं राजन्, मैं परम सुखी हूँ।"

महाराज के चेहरे पर सौजन्य की मुस्कराहट आयी। उन्होंने पुनः कहा—
"आप मेरे पारिषदों से कदाचित् परिचित न हों।"

मैंने सब पर एक दृष्टि डाली। सचमुच मैं भीष्म को छोड़कर किसी को नहीं जानता था। उन्होंने मुझे सबका परिचय कराना आरम्भ किया। अन्त में एक युवक की ओर देखकर बोले,—"क्या आप इन्हें भी नहीं जानते?"

मैंने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

"यह कृपा....मेरा पुत्र...इसे आप अच्छी तरह पहचान लीजिए।"—और फिर वे हँसने लगे।

कृपा, मेरा पुत्र ! बात कुछ समझ में नहीं आयी। मन उधेड़बुन में पड़ गया। महाराज को इस नाम का तो कोई पुत्र नहीं। फिर यह कहाँ से आया। अवश्य कोई रहस्य है। मैंने देखा, युवक का व्यक्तित्व आकर्षक था।

मैंने उस समय कुछ भी पूछना उचित नहीं समझा। महाराज ने स्वयं कहा—"आपकी तरह यह भी शस्त्र एवं शास्त्र दोनों में पारंगत हैं।"

उस व्यक्ति के सम्बन्ध में मेरी प्रश्नवाचक मुद्रा और भी गम्भीर बन गयी।

इसके बाद महाराज ने कहा—"मैंने आपको एक वस्तु देने के लिए बुलाया है।"—मुस्कराहट में लिपटी रहने के बाद भी उनकी वाणी की गम्भीरता ज्यों-की-त्यों बनी रह गयी।

मैंने अनुभव किया कि मेरा पूर्व अनुमान सही है। अवश्य ही महाराज मुझे कुछ देना चाहते हैं।

उन्होंने पुनः कहा,—"क्या आप मेरी दी हुई वस्तु स्वीकार करेंगे ?"

"क्यों नहीं, महाराज।"

वे पुनः हँसे,—"अच्छी तरह समझ लीजिए। मैं पहले वचन लूँगा तब कुछ दूँगा। बिना कुछ लिये देनेवाला मैं नहीं हूँ।"—इस बार पूरी परिषद् खिलखिला उठी।

"मेरे पास क्या है महाराज जो मैं आप को दे सकूँ।"—मैंने कहा।

"क्यों नहीं है ? ब्राह्मण की तपश्चर्या ही उसकी महान सम्पत्ति है।"

"तो ले लीजिए आप मेरी तपश्चर्या।"—मैंने हँसते हुए कहा।

"तपश्चर्या नहीं, वरन् तपस्वी का वचन चाहता हूँ।"

मैंने वचन तो दे दिया, पर कुतूहल और विस्मय से सोचता रह गया कि आखिर ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसे देने के लिए महाराज इतना वचन ले रहे हैं।

"अच्छा तो मुझे विश्वास है कि मैं जो भी तुम्हें दूँगा उसे तुम सहर्ष ग्रहण करोगे।"—इतना कहकर महाराज ने अपनी एक परिचारिका को संकेत किया। वह उसी युवती को ले आयी जो मुझसे अतिथि-भवन में मिली थी तथा जिसके रूप का बोझ अब भी मेरा मन ढो रहा था।

उसकी हाथों में एक माला थी। उसकी ओर संकेत करते हुए महाराज ने कहा,—"इसे पहचानते हो ?"

मैंने सिर हिलाकर नहीं का संकेत किया।

"यह मेरी पुत्री है। मैं यह कन्या तुम्हें देना चाहता हूँ।"

"मैं यह सुनता ही रह गया। महाराज की आवाज मेरे कानों में गूँजती रह गयी, बड़ी देर तक गूँजती रह गयी।

आप मेरी मन:स्थिति का अनुमान सहज नहीं लगा सकते हैं।···मुझे सचमुच यह कन्या मिलेगी ? मैं अब भी विश्वास नहीं कर पा रहा था। मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ ? मैं सोचने लगा।

मेरे चुप रहने से महाराज कुछ और सोचने लगे। "कदाचित् आप इस द्विविधा में पड़ गये कि यह क्षत्रिय-कन्या है। मैं इससे विवाह कैसे करूँ ?··· पर आप विश्वास कीजिए यह ब्राह्मण-कन्या है।"

"ब्राह्मण-कन्या और महाराज की पुत्री भी ! दोनों कैसे हो सकता है ?"—मेरा विस्मय अपने चरम उत्कर्ष पर था।

"आप आश्चर्य न करें, पर बात ऐसी ही हैं।···यह ऋषि शरद्वान की कन्या है।"—शान्तनु बोले।

"गौतम-पुत्र शरद्वान की कन्या ? यह कैसी माया ? उन्हें तो कोई सन्तान ही नहीं थी। वे बालब्रह्मचारी थे।"

"न तो वे ब्रह्मचारी रहे और न सन्तानविहीन ही।" महाराज इस बार जोर से हँसे और उन्होंने जो कहानी सुनायी, वह मेरे जन्म की ही तरह विचित्र और आकर्षक थी।

उन्होंने बताया—शरद्वान बड़े ही तपस्वी थे। विविध ज्ञानों में निष्णात उनका व्यक्तित्व शारदीय आकाश की तरह प्रशस्त एवं उज्ज्वल था। उनकी तपश्चर्या निरंतर चलती रही। एक दिन एक देवकन्या जानपदी उनके आश्रम में आयी।

7655

"आखिर ये देवकन्याएँ आश्रम में क्यों चली आती हैं ?"—मैंने अत्यन्त उद्विग्न होकर पूछा। मेरे जन्म के पूर्व की कहानी मेरी आँखों के समक्ष नाचने लगी।

महाराज शान्तनु हँसे। मैंने देखा, दो-एक को छोड़कर अन्य पारिषद भी महाराज की बातें बड़े ध्यान से सुन रहे थे। लगता है कि यह बात उनके लिए भी नयी थी।

"यह कहना तो बड़ा कठिन है कि देव-कन्याएँ आश्रमों में क्यों चली आती हैं।"—महाराज कहते गये—"एक ओर यौवन का उन्माद और दूसरी ओर तपस्या से सुनियोजित जीवन की दीप्तता।...चुम्बक और लौह की गति होती है ऋषिकुमार।"—इतना कहने के बाद वे पुनः हँसने लगे। विचित्र मादकता थी उनकी हँसी में। मैंने देखा, मेरे बगल से उठकर भीष्म चले गये। लेकिन महाराज कहते गये—"...किन्तु सुना है, जानपदी को तो इन्द्र ने भेजा था।"

"इन्द्र ने ही ऐसे कार्यों का ठेका ले लिया है ?"—मैं आक्रोश में बोला।

"अवश्य ही। चाहे सांसारिक समृद्धि हो या आत्मिक, इन्द्र किसी की समृद्धि देख नहीं सकता।...सम्भवतः कालान्तर में ईर्ष्या और इन्द्र एक दूसरे के पर्याय हो जाँये।"

"वैभव के शीर्ष-विन्दु पर भी ईर्ष्या ! इन्द्र की ईर्ष्या तो समझ में नहीं आती।"

"यही तो बात है ऋषिकुमार। महत्त्वाकांक्षा की मदिरा ईर्ष्या के चषक में पान की जाती है। परिणामतः ईर्ष्या पहले मुँह लगती है और महत्त्वाकांक्षा बाद में।"

अब मुझे यह समझते देर न लगी कि यह लड़की उसी देवकन्या की पुत्री है। मेरी दृष्टि पुनः कृपा की बगल में बैठी उस कन्या की ओर गयी और उसके अप्रतिम सौन्दर्य की स्निग्धता से फिसलकर वह पुनः लौट आयी। मुझे लगा कि सचमुच मैं किसी देवकन्या को देख रहा हूँ।

एक शंका हुई—"तब तो इसे आश्रम में पलना चाहिए। यह यहाँ कैसे चली आयी ?"

किन्तु महाराज ने बिना पूछे ही बताना आरम्भ किया ,—"''''जानपदी ने दो शिशुओं को साथ ही जन्म दिया था। '''वे दोनों तुम्हारे सामने ही बैठे हैं।"—उन्होंने उस कन्या और कृपा की ओर संकेत किया।

"'''और इन दोनों को जन्म देकर देवांगना चली गयी। ये दोनों बच्चे सरकण्डे की झाड़ी में पड़े थे। वहीं धनुष-बाण और काला मृगचर्म भी पड़ा था। '''उन्हें देखने से मन में कुछ ऐसा लगता है कि शरद्वान के मन में इन बच्चों को देखकर ममता अवश्य जागी होगी। वे इन्हें उठाकर आश्रम में ले जाना चाहते रहे होंगे, पर लोक-लाज के भय से उन्होंने ऐसा नहीं किया।"

एक क्षण रुककर उन्होंने कथा आगे बढ़ायी, —"मेरे एक सैनिक ने इन बच्चों को देखा। मुझे सूचना मिली और मैं इन्हें उठा लाया।"

मैंने बड़ी दबी जबान से पूछा,—"इतने से ही आपने जान लिया कि ये शरद्वान की सन्तान हैं?"

"उस समय की परिस्थिति तथा बच्चों के रंगरूप को देखने से मैंने सहज ही अनुमान लगा लिया कि किसी देवकन्या से उत्पन्न ये ऋषि-सन्तान ही हैं।'''' किन्तु इसका पता तो बहुत दिनों बाद लगा कि ये शरद्वान के ही पुत्र हैं।''' बात यह हुई कि उन्होंने इन बच्चों को तो छोड़ दिया था, पर इनके प्रति वे अपनी ममता नहीं छोड़ पाये थे। इनका समाचार जानने के लिए वे सदैव उत्सुक रहते। आश्रम में ब्रह्मचारियों को भेजते! राज-कर्मचारियों से वे कुशल-क्षेम पूछते'''और एक बार तो ऐसा हुआ कि वे स्वयं चले आये। उन्होंने बात ही बात में सारी कहानी बता दी और कहा,—"जन्म के पूर्व तो मैं इनका पिता था और जन्म के बाद अब आप ही इनके पिता हैं।'''ये आपकी ही कृपा पर पले हैं।'''इन्हें तो मैं कृपा और कृपी ही कहूँगा।"

"यह कृपा और कृपी उन्हीं का दिया नाम है।'''तब मैंने इन्हें अपनी ही सन्तान समझा।" फिर वे कुछ समय के लिए चुप हुए। कक्ष के ऊपरी वातायन की ओर एकटक दृष्टि डाली और बोल पड़े,—"यदि आज शरद्वान होते तो कितने प्रसन्न होते।"

मैं बोला तो नहीं पर मेरे मन में भी ऐसी ही आवाज उठी—"यदि आज मेरे पिताजी होते तो कितने प्रसन्न होते। उनकी अन्तिम इच्छा पूरी हो रही है आज।

हाँ तो मेरा विवाह हो गया।

मैं कितना खुश था सो कैसे बताऊँ?

दिन और रात के गोरे-काले पंखों पर समय उड़ता चला गया।

आश्रम में भी शिक्षा-दीक्षा का सिलसिला धीरे-धीरे ठंढा पड़ गया। मैं परिवार की झंझटों में फँस गया। मेरी रुचि भी आश्रम के कार्यों में कम रह गयी। दूसरे समाज भी बड़ा लोभी हो चला था। अधिकांश लोगों का पुरुषार्थ केवल अर्थ और काम तक सीमित हो गया था। धर्म और मोक्ष के सम्बन्ध में सोचना ऋषियों का कार्यमात्र रह गया था। ऐसी स्थिति में हमारे जैसे छोटे-मोटे आश्रमों की आर्थिक स्थिति खराब होनी स्वाभाविक थी। वे ही आश्रम किसी प्रकार चल पा रहे थे जो किसी-न-किसी राज्य के आश्रित थे।

किसी राज्य-कृपा का मुझे सुयोग नहीं मिला। महाराज शान्तनु ने मुझे कन्यादान मात्र देकर सन्तोष कर लिया। कुछ ही दिनों बाद वह दिवंगत भी हो गये। बड़ी आशा लगाये था द्रुपद से, किन्तु उसने तो कुछ साँस-डकार ही नहीं लिया। यह भी पता लगाना उचित नहीं समझा कि द्रोण जीवित है या मर गया।

आश्रम के ब्रह्मचारी भी धीरे-धीरे चले गये। फिर भी मैं अपनी छोटी-सी गृहस्थी में प्रसन्न था। जो कुछ भी गाँववाले दे देते थे, उन्हीं पर सन्तोष कर लेता था। कृपी भी खुश थी। उसने कभी भी इस अभावयुक्त जीवन के प्रति असन्तोष व्यक्त नहीं किया।

एक दिन मैंने ही उससे कहा—"....वैभव की गोद में पालकर फिर इस विपत्ति में फँसाया, नियति ने तुम्हारे साथ अच्छा काम नहीं किया।"

"कैसी बात करते हैं आप ? नियति सदैव मेरे साथ सदय रही है।··· विलासिता के कीचड़ से निकालकर उसने मुझे तपोभूमि में भेज दिया। क्या यह उसकी कृपा नहीं है।"—उसके इस कथन में सन्तोष था, आत्मीयता थी और थी गार्हस्थ्य जीवन की एक सुखद अनुभूति।

हम दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए, समय के प्रवाह में बहते गये।

एक ब्राह्ममुहूर्त की यह घटना है।

मैंने अभी शैय्या त्याग नहीं किया था। तपोवन की अमराई में बैठा कोकिल बोल उठा। उसने कहा,—"अजी सुनते हो। अभी तक सोये ही रहोगे, देखो कोकिल बोल रहा है।"

"सुन तो रहा हूँ, किन्तु उठकर अभी क्या करूँगा ? कोई हल थोड़े ही चलाना है।"—मैं अलसाया-सा बोला।

लगता है, वह बड़ी रात से जाग रही थी।····और अवश्य ही इधर-उधर की बातें भी सोचती रही होगी। इस बार भी वह कुछ सोचते हुए बोली,— "क्यों जी, एक दिन तुम्हीं न कहते थे कि द्रुपद मेरा साथी है।"

"है नहीं, वरन् था।"

"यह 'है' और 'था' क्या ?····सच्चा प्रेम और सच्ची मित्रता कभी पुरानी नहीं पड़ती।"

मैं हँसा।—"किन्तु तुम्हारे कहने का तात्पर्य क्या है ?"

"मैं चाहती थी कि तुम एक बार उसके यहाँ जाते।"

"पर मुझसे यह न होगा।····मेरा ब्राह्मणत्व न किसी के सामने झुका है और न झुकेगा।"

"इसमें ब्राह्मणत्व के झुकने का प्रश्न कहा है।····मैं एक ब्राह्मण को किसी राजा के यहाँ नहीं भेजना चाहती, वरन् एक मित्र को मित्र के यहाँ भेजना चाहती हूँ।"

"पर तुम ऐसा समझती हो न। मैं तो अपने को एक गरीब ब्राह्मण और वह स्वयं को राजा समझता है।"

"क्या ऐसा नहीं हो सकता कि तुम दोनों अपने को एक दूसरे का मित्र समझो ?"

"यही तो कठिन है।"

मेरी बात सचमुच उसके समझ में नहीं आयी। पिताजी और पृषत के सम्बन्धों का स्मरण कर वह अपने विचारों पर एक कर्त्तव्यनिष्ठ पहरेदार की तरह अडिग रही।

उस दिन हमने उषा की पहली किरण को एक मानसिक संघर्ष के साथ प्रणाम किया।

दोपहर को मुझे पता चला कि जमदग्नि-पुत्र परशुराम किसी ऐसे शास्त्रज्ञ ब्राह्मण की खोज कर रहे जिसे वे अपनी सारी सम्पदा दे सकें। क्षत्रियों के प्रति उनका द्रोह और मैं उनकी ज्ञान-गरिमा से परिचित था। सोचने लगा—कदाचित् मेरे भाग्य से ही उन्होंने ऐसा निश्चय किया हो।

यह भी पता चला कि परशुरामजी ने बहुत दिनों से ऐसा निश्चय कर रखा है, विलम्ब करने से सम्भव है कोई लाभ न हो सके।

मैंने उसी दिन परशुरामजी के यहाँ जाने का निश्चय कर लिया।

मैं अकेला ही जाना चाहता था। यात्रा लम्बी और कई दिनों की थी। कृपी मुझे अकेले जाने देना नहीं चाहती थी। फलतः आश्रम के आस-पास से जो भी ब्रह्मचारी मिल सके, उन्हीं को किसी प्रकार बुलाया और उनमें से कुछ को अपने साथ चलने को राजी कर लिया।

करीब चार-पाँच दिनों की लम्बी यात्रा के बाद किसी प्रकार महेन्द्र पर्वत पर पहुँचा। संध्या हो चली थी। दूर से ही परशुरामजी का आश्रम दिखायी दिया। राय हुई कि आश्रम में पहुँचने के पहले ही संध्या वंदन कर लिया जाय।

वहीं पास में एक जलाशय था। उत्तर की ओर से गिरते एक छोटे झरने का पानी वहाँ इकट्ठा हो रहा था। हमने वहीं अपना आसन लगाया। संध्या-पूजन किया।

जब आश्रम की ओर चले सन्ध्या अपना रंगीन आँचल जलाशय में डुबो चुकी थी।

परशुरामजी का आश्रम बड़ा विशाल था, पर बड़ा सूना-सूना-सा लगा। कोई दिखायी नहीं दिया। दक्षिण ओर छप्परों से ढकी एक गोशाला थी। वहीं एक आदमी गायें दुह रहा था। मैंने उधर जाना और उससे पूछना आवश्यक नहीं समझा। सीधे पर्णकुटी की ओर आया। कुटी के समक्ष ही गोबर से लिपा-पुता एक प्रशस्त चौतरा था। उसी पर चढ़कर मैंने भीतर झाँका। कुटी में अनेक तरह के परशु और शस्त्रास्त्र दीवार पर टंगे थे। परशुरामजी अब भी ध्याना-वस्थित बैठे थे।

मैं भीतर जाने ही वाला था कि पीछे से किसी ने मेरा हाथ पकड़ा। वह दाढ़ी-मूँछोंवाला तरुण था। उसने धीरे-से कान में कहा,—"आचार्य की साधना में कृपाकर विघ्न डालने का साहस मत कीजिए।"

हम लोग चुपचाप हट गये और उस ब्रह्मचारी के साथ दूसरी कुटिया में गये। उस रात परशुरामजी से भेंट तक न होने दी गयी। मैंने ऐसा विचित्र आचार्य और ऐसे विचित्र आश्रम के नियम तो देखे ही नहीं थे।

दूसरे दिन भी एक पहर दिन निकलने के बाद ही मैं उनसे मिल सका,— "तुम लोग कौन हो ?"—बादलों जैसी उनकी कड़कड़ाती आवाज थी।

मैंने अपना परिचय दिया। जब बताया कि मैं ब्राह्मण हूँ। उन्होंने प्रखर-अट्टहास किया। उनके दाढ़ी और मूँछों के जंगल में जैसे भूकम्प आ गया। वे बोले—"यहाँ जो आता है, वह ब्राह्मण बनकर ही आता है।—सूतपुत्र वसुषेण (कर्ण) भी ब्राह्मण ही बनकर आया था।"—फिर वे चुप हो गये। जैसे कुछ सोचने लगे हों।

उनकी इस मुद्रा का रहस्य मैं कुछ समझ न सका। उस समय मैं वसुषेण को भी नहीं जानता था। उन्होंने पुनः कहा—"तो तुम भरद्वाज के ही पुत्र हो ?"

"जी हाँ।"—दो अक्षरों के अतिरिक्त उस तपस्वी के समक्ष मेरी कुछ बोलने की हिम्मत नहीं हुई।

"तुम्हारा गोत्र क्या है ?"—उन्होंने मेरे ब्राह्मणत्व को अच्छी तरह जाँच लेने की इच्छा से ही पूछा। मुझे स्पष्ट लगा कि इस मामले में वे कहीं धोखा खा गये हैं और मट्ठे को फूँक-फूँक पी रहे हैं।

"मेरा जन्म अंगिरस कुल में हुआ है।"—मैंने कहा और वह सब बताया जो वह जानना चाहते थे।

जब उन्होंने मेरे जन्म की सारी बातें जान लीं तो बहुत देर तक हँसते रहे, बोले,—"हाँ मैंने भी सुना था कि भरद्वाज का कोई अयोनिज पुत्र भी है···· तभी तुम्हारे व्यक्तित्व में तुम्हारे पिता का तेज देवांगना के रूप की धूप में तपकर और तेज हो गया है।—किन्तु ब्राह्मण-पुत्र, तुमने यहाँ आने में विलम्ब कर दिया।····मैंने अपनी सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों को दे दी।····समुद्रतट तक फैला अपना विशाल भू-भाग मैंने महर्षि कश्यप को दे दिया। अब मेरे पास क्या धरा है।

मन में तो मैं चिन्तित हुआ, फिर भी अपने को संभालते हुए बोला,—"आप के पास बहुत कुछ है ऋषिराज।····मैं वस्तुतः भौतिक सम्पत्ति के लिए आपके पास नहीं आया हूँ। मैं तो आप से ऐसी सम्पत्ति लेने आया हूँ जिसका कभी नाश न हो।

"नाश ?···" जैसे वह कुछ सोचने लगे,—"इस धरती पर कुछ भी ऐसा नहीं है जिसका नाश न हो वत्स, सिवा धर्म के।"

"···और ज्ञान ?"—मैंने पूछा।

"मनुष्य का दूषित चरित्र और स्वार्थ-भरे उद्देश्य उसे भी नष्ट कर देते हैं।"

उस दिन मेरी और उनकी इतनी ही बातें हुईं। मैं उनके कथन पर विचार करने लगा। मेरे साथ आये अन्य ब्रह्मचारी भी परशुरामजी के व्यवहार के प्रति आश्चर्य-चकित थे। उन्होंने किसी भी ऐसे ऋषि को देखा नहीं था जिसकी आँखों में क्रोध और तेज, जिसके व्यक्तित्व में तपस्या और मृदुता, जिसके स्वभाव में घृणा और निश्छलता साथ-साथ मिली हो।

मैंने स्वयं उस आश्रम में रहना निश्चित किया और साथ में आये ब्रह्मचारियों को लौटा दिया। उन्हीं से कृपी के पास सन्देश भेजा कि यहाँ कई वर्ष लग सकते हैं।

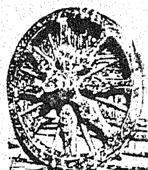
उस आश्रम में मुझे सचमुच कई वर्ष लग गये। यहाँ आने के कुछ ही दिनों बाद ज्ञात हुआ कि मैं भगवान की कृपा से पिता हो गया हूँ, फिर भी मैं नहीं लौटा।

ज्यों-ज्यों मैं इस ऋषि के सम्पर्क में आता गया मेरी श्रद्धा बढ़ती गयी। धनुर्वेद का उनका ज्ञान प्रकाण्ड था। उनके समक्ष मुझे ऐसा लग रहा था जैसे मैं कुछ भी नहीं जानता। अग्निवेश्य और मेरे पिताजी कभी इनकी तुलना में ठहर नहीं सकते थे।

मैंने निश्चय कर लिया कि जब तक प्रयोग रहस्य तथा संहार विधि सहित सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लूँगा तब तक यहाँ से हटूँगा नहीं।

और हुआ भी ऐसा ही। सम्पूर्ण धनुर्वेद का ज्ञान अच्छी तरह प्राप्त कर लेने के बाद ही मैंने वहाँ से बिदाई ली।

●●●



कई वर्षों बाद मैं घर लौटा।

मुझे देखते ही कृपी ने उठकर मेरा चरण-स्पर्श किया, पर हालत बड़ी खराब मालूम पड़ी। इतने दिनों में ही उसका चेहरा ऐसा उतर गया था कि पहचान में नहीं आती थी। उसके बाल अस्त-व्यस्त थे। मैल और रंग में अद्वैत सम्बन्ध स्थापित करनेवाली उसकी साड़ी पर कई चिप्पियाँ लगी थीं। मुझे इसकी कल्पना भी नहीं थी कि मेरे न रहने पर कृपी पर इतना बड़ा आर्थिक संकट पड़ेगा। उसकी आँखें टप-टप चू रही थीं।

मैंने देखा, दालान में कुशासन पर ही एक स्वस्थ शिशु सो रहा है। समझते देर नहीं लगी कि यही मेरा शिशु है जिसे मैंने अभी तक नहीं देखा हैं। मैं उसकी ओर बढ़ा। सिर से पैर तक उसे देख गया। उसकी उनींदी आँखों में कुछ खोजने की चेष्टा की।

"अभी सोया है क्या ?"—अचानक मेरे मुख से निकल पड़ा।

"हाँ, रोते-रोते सो गया है ?"—कृपी बोली। उसकी आँखें अब भी नम थीं। पहले तो मुझे लगा था कि मिलन की खुशी में उसकी आँखें बरस पड़ी हैं, पर अब ज्ञात हुआ कि वह बहुत पहले से रो रही है। रोते-रोते उसकी आँखें फूल गयी थीं। "....आखिर तुम रो क्यों रही हो ?" —मैंने पूछा।

"रो रही हूँ अपने करम पर।"—वह टूटे स्वर में बोली और फिर एक गहरी साँस ली।

मैं कुछ समझ नहीं पाया। "कोई बात हो गयी है क्या ?"—मैं कुछ सहमा-सहमा बोला।

वह अब भी चुप थी। केवल उसकी सिसकने की आवाज कुछ तेज हुई।

मैं उसके कन्धे पर हाथ रखकर बड़ी आत्मीयता से सान्त्वना देते हुए बोला—"देखो तो मैं इतने दिनों के बाद आया हूँ और तुम रो रही हो।"—

"यही तो मैं भी सोच रही हूँ कि आखिर तुम आये क्यों ?"—आँसुओं में डूबा नारी का क्रोध जैसे फुफकारने लगा हो।

"यदि मैं न आता, तो तुम्हें छोड़कर कहाँ जाता ?" मैंने मुस्कराने की चेष्टा की।

"जहाँ इतने दिनों तक गये थे।"

"वहाँ तो कुछ प्राप्त करने गया था।"

"तो कितने छकड़े लदा कर लाये हो ?"

"जो कुछ लाया हूँ उसे छकड़ों पर नहीं लादा जा सकता।"—मुझे अनुभव हुआ कि कृपी समझती थी कि मैं परशुरामजी की आर्थिक सम्पदा भी लेकर आऊँगा। मुझे खाली हाथों आया देखकर उसकी निराशा में उबाल आया है।

मैंने उसे समझाते हुए कहना जारी रखा,—"छकड़ों पर लादी जानेवाली सम्पदा के पीछे न तो कभी मेरा पिता दौड़ता था और न कभी मैं दौड़ूँगा।"

"बड़ा अच्छा है निश्चय आपका।....यदि यही निश्चय करना था तो विवाह क्यों किया ?"

"विवाह किया तुम्हें पाने के लिए। मैं जोर से हँसा। हँसने का सफल अभिनय करने के बाद भी जैसे मेरी बात असफल रही।"

"....और मुझे पाने के बाद उसे भी पाना जरूरी हो गया।"—उसने सोते हुए बच्चे की ओर संकेत किया।

मैं सोचने लगा कि आखिर यह कहना क्या चाहती है ?

"....सोचते क्या हैं ? उसके पाने के बाद ही आपके कर्त्तव्य की इतिश्री हो गयी न।...शायद अब और कुछ करने को रहा नहीं....केवल ज्ञानार्जन कीजिए।"

"ज्ञानार्जन ही तो ब्राह्मण की मुख्य वृत्ति है प्रिये।"

"होगी।"—वह तुनककर भीतर चली गयी। फिर भी मुझे इतना सुनायी दिया—"तुम्हारा कोरा ज्ञान लेकर मैं क्या चाटूँगी।···तुम्हारा यह ज्ञान मेरे क़िस काम का जो बच्चों को दूध तक न दे सके।"

यद्यपि वह भीतर चली गयी थी, फिर भी कोई वस्तु मेरे मस्तिष्क के चारों ओर सनसनाती हुई जैसे चक्कर काट रही थी। अब मैं करीब-करीब समझ गया था कि वह मुझसे नाराज क्यों है। मैंने उसे पुकारा, बड़ी आत्मीयता से पुकारा। फिर भी वह बाहर नहीं आयी। भीतर से ही उसकी सिसकन सुनायी पड़ती रही।

मैंने बच्चे की ओर देखा। वह अब भी सो रहा था। मुझे ऐसा लगा, मानो कुशा पर नहीं, वरन् किसी काँटों की शय्या पर कोई मोम का पुतला पड़ा हो।

वह अब भी भीतर रो रही थी। मैं भीतर गया। अपने कपड़े से उसके आँसू पोंछे। उससे बोला—"मैं समझ गया।···मेरे न रहने पर तुमने गम्भीर संकट झेला।"

वह चुप थी।

"···किन्तु विपत्ति की आँच में मोम की तरह पिघल जानेवाला मनुष्य मनुष्य नहीं होता वरन् उसे चट्टान होना चाहिए, जिस पर आपत्ति की लहरें आयें और अपना सिर फोड़कर लौट जायें।"—मैंने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा।

"हाँ तो तुम हो न चट्टान।···पर चट्टान को सन्तान नहीं होती···और न चट्टान का कोई टुकड़ा दूध पीने को ही माँगता है। वह तो जड़ है और जड़ की तरह पड़ा रहता है।···अच्छा होता, हम लोग भी जड़ हो जाते। उत्तर-दायित्व के बोझ से मुक्त।···अश्वत्थामा अपनी जिन्दगी जी लेता।"—वह एक साँस में बोल गयी।

अब मुझे मालूम हुआ कि मेरे नवजात शिशु का नाम अश्वत्थामा है। बाद में मुझे यह भी पता चला कि वह जब प्रसन्न होकर खिलखिलाकर हँसता है या बोलने की कोशिश करता है तब उसकी ध्वनि अश्व के शिशुओं की ध्वनि

से मिलती-जुलती है। इसी से ग्राम के ब्राह्मणों ने उसका नाम अश्वत्थामा रख दिया है। यद्यपि वह सुन्दर है, उसका रूप-विन्यास अश्व के रूप-विन्यास से बिल्कुल भिन्न है, उसकी आकृति का कोई भी अंश अश्व के रूप के किसी भी अंश से बिल्कुल नहीं मिलता।

कृपी के इस उलाहने के मूल में उसकी मातृ-वत्सलता थी। उसकी निरीहता और अभावयुक्त विवशता अश्वत्थामा को दूध नहीं दे पायी थी। उसका मातृत्व घायल हुआ था। उस व्यथा से वह अब भी छटपटा रही थी।

मैंने उसके घाव पर लेप लगाने की चेष्टा की, "सचमुच हम बड़े अभागे हैं जो अपने बच्चे को दूध नहीं दे पाते।"

"हम अभागे कहाँ हैं, हम तो ज्ञानार्जन करते हैं। ब्राह्मण का धन तो ज्ञान ही होता है।....कहीं हमारा ज्ञान मधु की तरह मीठा होता और हम बच्चे को चटा पाते"—मैंने अनुभव किया कि वह व्यंग्य बोल रही है। फिर भी मैंने उसका उत्तर देना ठीक नहीं समझा। मैंने सोचा, इसे वस्तुतः कष्ट हुआ है और यह अपने मन का गुबार निकाल ले।

मैं एक अनजान बच्चे की तरह बोला,—"जब तुम उसे दूध नहीं दे पाती होगी तब वह रोता भी होगा।"

"जी हाँ, रोता भी है और छैलाता भी है।....वह—वह सब कुछ करता है जो एक बच्चा करता है।"—इस बार भी उसका स्वर टेढ़ा ही था।

"तब तुम इसे चुप कैसे कराती रही होगी ?"

"अपने ज्ञान से। क्योंकि हम ज्ञानार्थी हैं न, ब्राह्मण जो ठहरे।"—इस बार उसने फिर मुझे एक सुई चुभायी।

मैंने उसे बहुत शान्त किया। करीब-करीब क्षमा तक माँगी, जब वह प्रकृतस्थ हुई तब उसने पीड़ा-भरे स्वर में बताया कि जब भी वह दूध माँगता था, वह उसे चावल का धोवन पिला देती थी। बच्चा समझ जाता था कि वह दूध पी रहा है, पर माँ तो नहीं समझ पाती थी। बच्चे को धोखे में डाला जा सकता था, पर बड़ा प्रयत्न करने पर भी मां स्वयं को धोखे में डाल नहीं पाती थी। वह दुःखी थी, अत्यधिक दुःखी थी।

मैं भी दु:खी था, सोचता था कि जिस समाज में विद्वान के बच्चे को दूध भी न मिले, उस समाज की क्या स्थिति होगी ?

बातों ही बातों में मुझे यह भी मालूम हुआ कि जब अश्वत्थामा दूध के लिए हठ करता, और किसी तरह न मानता तो कृपी उसे पीटती है और तब तक पीटती है जब तक वह रोते-रोते सो नहीं जाता। इस समय भी वह रोते-रोते ही सो गया है।

मेरी ममता ने उसे एक बार फिर निहारा। बन्द कमल की तरह मुँदी आँखें अब भी मुझे आँसू से भरी मालूम पड़ीं। मैंने कृपी से कहा,—"तुम इसे मारती हो यह अच्छा नहीं करती।"

"मैं इसे तो नहीं मारती।"—वह बड़े निठुराई से बोली।

"तुमने ही तो अभी कहा था कि मैं इसे मारती थी।"—मेरी ध्वनि में विस्मय अधिक था।—"तब तू किसे मारती हो। चोट तो इसे लगती है, रोता तो यह है।"

"यह रोता अवश्य है। चोट भी इसे लगती ही होगी।...पर वास्तव में मैं मारती हूँ तुम्हारी निष्क्रियता को, अपने खोटे भाग्य को।...मुझे कितनी चोट लगती है। इसे तुम क्या जानो !"

मैं एक बार फिर चुप होगया। मेरी आँखों के सामने से जीवन का प्रत्येक जाना-माना क्षण निकल गया। अग्निवेश्य के आश्रम से चलते समय मेरे कैसे-कैसे स्वप्न थे। आजन्म ब्रह्मचारी रहूँगा। ज्ञानार्जन करूँगा और ज्ञानदान दूँगा।...पर मैं विवाह के किस झंझट में फँस गया। गृहस्थी बसा ली। मेरी वासनाजन्य दुर्बलता ही मुझ पर हावी हुई और मेरे सारे सपनों को धर दबाया।....पर अब पछताने से क्या होगा। अपने दायित्व का निर्वाह तो करना ही होगा।

मैंने कृपी से कहा,—"अच्छा कोई बर्तन मुझे दो। मैं अभी दूध लाता हूँ।" "यह तो मैं भी कर सकती हूँ।...और किया भी है। एक-दो दिनों की बात हो, तो कोई बात नहीं। रोज-रोज पात्र लेकर जाना और दूध माँग लाना मुझे अच्छा नहीं लगता।"

"तब क्या करूँ ?"

"करोगे क्या ? समस्या का स्थायी हल तो उसी समय होगा जब तुम गाय लाकर आँगन में बाँध दोगे।"

"पर इसके लिए तो धन चाहिए।"—मैंने सोचा, आखिर किस वस्तु के विनिमय में गाय लाऊँ ?"

मैं कुछ बोला नहीं। चुपचाप बाहर चला आया। बाहरी छप्पर से ढके ओसारे में पड़े मंचक पर ढुलक गया। तन तो स्थिर था, पर मन चक्कर काटता रहा। सोचने लगा, मैं तो गरीब पर स्वाभिमानी बाप का बेटा हूँ।··· अभाव में ही पैदा हुआ। अभाव में ही पला और अब भी अभाव में ही जी रहा हूँ।····पर अपने पिता की तरह कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। जो कुछ मिल गया उसी पर ही गुजार दिया। केवल आत्मिक उन्नति ही जीवन का ध्येय था। विद्या ही एक पूँजी रही जिसे किसी के हाथों बेचा नहीं, पर मुक्त-हस्त से बाँटता अवश्य रहा।····किन्तु इस सबसे होता क्या है ? आज के समाज में न तो इतनी शक्ति ही है और न उसे अवकाश ही, जो हमारे विद्यादान का मूल्यांकन कर सके।

मेरा मन मंथन कर रहा था,—····हम तो किसी तरह कोदों और सावाँ पर दिन काट लेते हैं, पर क्या अपने बच्चों को दूध के लिए तरसने दूँ ?···कृपी तो इतने अभाव में पली नहीं। उसका बचपन तो दरबार में बीता है राज-कुमारियों की तरह। इसी से इस अभाव की पीड़ा उसे मुझसे कई गुना अधिक होती होगी। तभी तो तिलमिला जाती है। जली-कटी सुनाने लगती है और मैं चुपचाप सुन लेता हूँ।—इसी प्रकार सोचता रहा और बड़बड़ाता हुआ सो गया।

जब सोकर उठा, सन्ध्या हो चली थी। मैंने देखा कृपी अश्वत्थामा के साथ पैताने कुछ दूरी पर बैठी है। मैंने उठते ही बच्चे को उठाया। पहले तो वह हिचका किन्तु जब उसकी माँ ने उसे मेरे पास आने के लिए प्रोत्साहित किया तब वह आया। मैंने उसे प्यार किया और पूछा—"बेटा दूध पीयोगे !"

उसकी बाछें खिल आयीं। वह कितना प्रसन्न हुआ सो कैसे बताऊँ ? पता चला कि वह गाँव के बच्चों के साथ खेलता है। वे बच्चे अपने घर से दूध पीकर आते हैं। आपस में चर्चा करते हैं कि किसने आज कितना दूध पीया है। इसी से अश्वत्थामा भी अपनी माँ से दूध माँगता है। मेरे विचार से उसके दूध की इच्छा अभावजन्य कम और स्पर्धाजन्य अधिक है। वह बिना दूध के जी सकता है। कदाचित् वह दूध माँगता भी नहीं, यदि बच्चों के बीच उसे न जाना पड़ता।

यह निश्चित है कि गाय के दूध की आवश्यकता माँ का स्तन पीकर उसके सुदृढ़ होते तन को बिल्कुल नहीं थी, जितना अन्य बच्चों के साथ अपनी तुलना करनेवाले उसके मन को थी।....मैंने सोचा कि यदि इसके लिए दूध की व्यवस्था नहीं की गयी तो इसका मन दबता जायेगा और इसका व्यक्तित्व बचपन से ही विकृत हो जायेगा।

पर क्या करता ? आर्थिक दृष्टि से लाचार था। ऐसी लाचारी मेरे जीवन में अभी तक तो नहीं आयी थी।

मेरी मनःस्थिति विषम थी। मैं अश्वत्थामा को गाँव के लड़कों के बीच खेलने नहीं देता था। सदा अपने साथ ही रखता था।....पर गाय कहाँ से ले आऊँ ?

एक सन्ध्या की नहीं, वरन् यों कहिए रात की बात है। अश्वत्थामा सो गया था। मैं भी शय्या पर ढुलका पड़ा था। कृपी मेरे पास आयी। बड़ी आत्मीयता से बोली,—"देखती हूँ आजकल बड़े चिन्तित रहते हो।"

"चिन्ता का विषय तो है ही।...शास्त्रज्ञ एवं शस्त्रज्ञ होकर भी मैं अपने बच्चे के लिए गाय नहीं ला सकता।....सोचता हूँ किसी के यहाँ चाकरी कर लूँ। कम-से-कम गृहस्थी तो सुख से चल जायेगी।"

"यह क्या कहते हो ? चाकरी न करने का तो तुमने संकल्प लिया था। इतनी जल्दी संकल्प से डिग गये।"

"परिस्थितियाँ सब कुछ करा देती हैं, कृपी।"

"तुम्हीं ने तो कहा था कि परिस्थितियों के समक्ष मोम बनकर पिघलना नहीं चाहिए।"—इतना कहकर वह सम्भवतः मुस्करायी। उस अंधेरे में भी मैंने उसकी मुस्कराहट का अनुभव किया।

"देखो, मुझे चिढ़ाने की चेष्टा मत करो।"—मैं कुछ खीझते हुए बोला।

"सच, मैं तुम्हें चिढ़ा नहीं रही हूँ।....एक बात कहना चाहती हूँ।"

"क्या ?"

"तुमने कहा था न कि द्रुपद मेरा मित्र है।"

"कहा तो था।"—मैं कुछ सोचते हुए बोला।

"तब उसके यहाँ क्यों नहीं जाते ?"

"तुम बार-बार हठ करती हो, पर समझती नहीं हो कृपी। विपत्ति में मित्रता भी काम नहीं आती।....और यदि मित्रता काम देने ही लगे तो विपत्ति ही क्यों पड़े ?"

मेरी आवाज बड़ी गम्भीर थी। फिर जैसा आप उचित समझें—कहकर वह चुप हो गयी। मेरा पैर दबाती रही। मैं कब सो गया कुछ पता नहीं।

भोरे-भोरे नींद खुली। 'मैं द्रुपद के यहाँ जाऊँ या न जाऊँ'—ऐसा लगा, यह विचार रात-भर मेरे सिरहाने खड़ा रहा। उठते ही उसने मेरे मस्तिष्क को धर दबोचा। इच्छा न होते हुए भी परिस्थितिवश मैंने द्रुपद से मिलने का निश्चय किया।

मैंने सोचा, कृपी और अश्वत्थामा को भी साथ लेता चलूँ। मैंने कृपी को तैयार होने को कहा, पर वह चलने तो तैयार न हुई, बोली,—"मैं बच्चे को लेकर कहाँ चलूँ।....फिर मेरा उनसे कोई परिचय भी नहीं।"

"अरे परिचय तो मैं न कराऊँगा।....हो सकता है, तुम वह काम कर दो जो मैं नहीं कर पा रहा हूँ।"—मैं मुस्कराया।

"ऐसा कौन-सा काम है जिसे आप न कर सकते हों और मैं कर लूँ !"

"इसे तो तुम्हीं जान सकती हो ।"—इतना कहकर मैं हँस पड़ा । वह कट-कर रह गयी ।

मेरे बार-बार कहने पर भी कृपी नहीं गयी । मुझे अकेले ही जाना पड़ा ।

मैं चला तो सही पर पता नहीं क्यों मेरा मन दबा-दबा-सा था । रह-रहकर मेरे मन में एक बात उठती थी कि यदि मुझे न जाना पड़ता तो अच्छा था । फिर सोचता था कि जाकर क्या कहूँगा? क्या यह कहना पड़ेगा कि मेरे बच्चे को पीने के लिए दूध नहीं मिलता है । मुझे एक गाय दे दो ।

...नहीं नहीं, मैं ऐसा नहीं कहूँगा, कभी नहीं कहूँगा । मैं उसके साथ बराबरी के स्तर पर रहा हूँ । तब क्या याचक होकर जाऊँ ? आखिर वह क्या समझेगा मुझे ?—कुछ ऐसा ही सोचता रहा ।

मस्तिष्क उलझा-उलझा-सा था । मैंने निश्चय किया कि मैं कुछ नहीं कहूँगा । ऐसा ही उसे भास कराऊँगा कि मैं इधर ही आ रहा था, यहाँ तक चला आया । सोचा, पुराने मित्र से मिलता चलूँ ।

ज्योंही मैं पांचाल नगर की सीमा पर पहुँचा, नगरवासियों ने मेरा स्वागत किया । कुछ को तो मालूम था और कुछ को मालूम कराया गया कि मैं महाराज का गुरुभाई हूँ । लोगों की श्रद्धा मेरी ओर बढ़ी ।

अपराह्न में ही मैंने महाराज से मिलने का निश्चय किया ।

नगर की एक विशिष्ट अतिथि-शाला में दोपहर बिताने के बाद जब मैं राजमहल की ओर चला, तब मुझे कुछ दूसरा ही दिखायी दिया ।

इस बार, किसी ने मेरी ओर ध्यान तक नहीं दिया । जैसे मैं एक अनचीन्हा, अनजाना होऊँ । सैनिकों ने बिलकुल मेरा अभिवादन नहीं किया, वरन् राज्य-कर्मचारियों ने मेरी उपेक्षा ही की ।

हाँ, कुछ नागरिक अवश्य लम्बी दाढ़ी और मेरी वेश-भूषा का जैसे ध्यान रखते थे और सिर झुकाये बगल से निकल जाते थे।

इस अप्रत्याशित परिवर्तन का कारण मेरी समझ में नहीं आया। मैंने कुछ जानने की नीयत से एक कर्मचारी से पूछा—क्या आप मुझे राजभवन का मार्ग बता सकेंगे ?

पहले तो वह कुछ नहीं बोला, वरन् कुछ समय तक वह मुझे गौर से देखता ही रह गया। फिर उसने धीरे से कहा,—"क्या आप ही आचार्य द्रोण हैं।"

मैंने स्वीकृति में सिर हिलाया और उससे पूछ बैठा,—"और आप ?"

"मैं आमात्य के अंगरक्षक विभाग का हूँ।"—इतना कहते ही वह आगे बढ़ने को हुआ।

"हाँ, तो आप ने राजभवन का मार्ग नहीं बताया।"—मैंने उसे रोकते हुए कहा।

मैं जिधर जा ही रहा था। उस ओर उसने संकेत किया, और फिर एक क्षण के लिए भी वह नहीं रुका।

इतना तो मैं समझ ही गया कि इन राज्य-कर्मचारियों को कुछ संकेत कर दिया गया है पर वह क्या संकेत है, कुछ भी पता नहीं चला।

जब मैं राजभवन के मुख्य द्वार पर पहुँचा, द्वारपाल ने मुझे रोक दिया। मैं जानता था कि राजभवन के प्रथम द्वार पर कोई नहीं रोका जाता। महाराज पृषत के समय में एक बार आया था, तब ऐसी व्यवस्था नहीं थी।

"क्यों, इस द्वार पर ही लोगों को रोक लिया जाता है।"—मैंने शंका व्यक्त की।

"जी नहीं।"

"तब मुझे क्यों रोकते हो ?"

"क्योंकि आपको रोकना है।"

मैं अब आश्चर्य-चकित था। मैंने पूछा,—"किसके आदेश से ऐसा कर रहे हो ?"

"महामात्य के।"

"क्या महाराजा द्रुपद का यह निर्देश है ?"

"यह तो नहीं मालूम ।"

"तब महामात्य कौन होता है मुझे रोकनेवाला ?"

'द्रुपद मेरा मित्र है, मेरा गुरुभाई है । मैं अवश्य जाऊँगा । देखता हूँ मुझे कौन रोकता है ।"—इतना कहते हुए मैं झटके से भीतर घुसा । उसने मुझे बलात् रोकने की चेष्टा भी नहीं की ।

मैं तप्त वायु के झोंके-सा चला जा रहा था । मेरे फड़फड़ाते उत्तरीय का एक छोर धरा का स्पर्श कर रहा था और दूसरा मेरी एक भुजा से लिपटकर उसके संचालन में अवरोध उत्पन्न करने की एक असफल चेष्टा कर रहा था । मुझे राजभवन के अन्य लोग आतंकित दृष्टि से देख रहे थे ।

जब मैं भीतरी द्वार पर पहुँचा । अनेक द्वारपालों को एक साथ सजग देखकर मेरी गति स्वयं मंद पड़ती गयी, पर मेरी उत्तेजना मंद पड़नेवाली नहीं थी । वह तो भभकती गयी । घृत प्रक्षालित यज्ञ की अग्नि की तरह वह भभकती गयी ।

किन्तु मैं रुकनेवाला नहीं था । आगे बढ़ा ।

"क्या प्रासाद में प्रवेश के लिए अनुमति-पत्र है ।"—बड़ी शालीनता से आगे बढ़कर उसमें से एक ने मुझे रोकने की चेष्टा की ।"

अब मैं और भभका । "कौन मुझे यहाँ अनुमति-पत्र देनेवाला है, जरा मैं उसकी आकृति तो देखूँ ।"

इतना सुनना था कि महामात्य क्षण-भर में ही मेरे सामने आ गया ।

"कहिए क्या आज्ञा है ? आप किससे मिलना चाहते हैं ?"—उसने पूछा ।

"तुम जानते नहीं ? मैं तुम्हारे महाराज का सहपाठी हूँ ।"

"होंगे ।"

"सहपाठी ही नहीं, वरन् मैं उनका घनिष्ठ मित्र रहा हूँ ।"

"रहे होंगे ।"

"उन्होंने मेरे आश्रम में रहकर मेरे पिताजी से शिक्षा पायी थी ।"

"पायी होगी ।"

वह बड़ी शान्ति से संक्षिप्त उत्तर देता चला जा रहा था, मानो वह मेरी क्रोधाग्नि में जल के छींटे छोड़ रहा हो, और वह और अधिक भभकती जा रही हो।

मैं आश्चर्य-चकित था कि यह सब क्या हो रहा है।

"किन्तु महाराज से आप चाहते क्या हैं ?"—उसने पुनः पूछा।

"मैं द्रुपद से मिलना चाहता हूँ।"

"पर इस समय वे नहीं मिल सकते।"

"क्यों ? क्या वे अन्तःपुर में हैं ?"

मुस्कराते हुए वह बोला,—"आप देखने में तो जानकार और अनुभवी मालूम पड़ते हैं, किन्तु बातें ऐसी कर रहे हैं कि क्या बताऊँ।····यह समय भला अन्तःपुर में जाने का है।"

"तब क्या बात है कि महाराज नहीं मिल सकते ?"

"वे अस्वस्थ हैं।"

"तब तो मुझे अवश्य मिलना चाहिए।····तुम्हारे महाराज अपने छात्र जीवन में जब भी बीमार पड़ते रहे मुझे अवश्य बुला लेते रहे।····एक बार तो, अग्निवेश्य के आश्रम में मैं रात-भर उनकी शय्या के सिरहाने बैठा रहा।"—मेरे क्रोध की बाढ़ कुछ नीचे उतरी।

"किन्तु इस समय महाराज किसी से मिलना नहीं चाहते।"

"उनसे कहिए कि द्रोण आये हैं।"

वह एक क्षण के लिए चुप हुआ। फिर मेरी ओर से मुँह हटाकर बोला—वे आचार्य द्रोण से भी मिलना नहीं चाहते।"

"····तो क्या उन्हें मालूम है कि मैं यहाँ आया हूँ।"

'मालूम होगा तभी तो।"

चोट खाये सर्प की तरह मेरी क्रोधाग्नि फनफनाने लगी। "उसे मालूम है कि मैं आया हूँ ?···सचमुच वह क्या जानता है कि मैं आया हूँ ?"—मैं ओठ काटते हुए बुदबुदाया। जैसे मुझे विश्वास ही नहीं था। "···भला मेरे आगमन का समाचार मिले और वह मुझसे न मिलना चाहे। यह हो नहीं सकता।"

पर हुआ यही था। मैं अपने को संभाल नहीं सका। मुझे कुछ ऐसी आहट लगी कि वह निकट के कक्ष में ही बैठा है। मेरा अहम् घायल सिंह की तरह दहाड़ता भीतर घुसा। किसी का साहस नहीं जो मुझे रोक ले।

मैंने कक्ष में आकर देखा, वह सिंहासन पर ढुलका पड़ा था। मुझे देखते ही उसने मुँह फेर लिया। मुझमें एक तेज लपक उठी। मैं जैसे जल-सा गया।

"तुम मुझे पहचानते हो ?"—मैंने पूछा।

वह कुछ नहीं बोला।

"आप मुझे पहचानते हैं।"—मैं दूसरी बार तड़पा।

"हाँ, कहीं देखा तो है आपको।"—इस बार वह बोला।

"पहली बार मैंने उसे तुम शब्द से सम्बोधित किया था। कदाचित् इसी-लिए उसने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया था।

"क्या कहा ? कहीं देखा है।" क्रुद्ध साँड़ों-सा मैं फुफकारने लगा। "क्या तुम्हें मालूम नहीं कि मैं तुम्हारा मित्र हूँ ?"

"मित्र ऽऽऽ, हाँ....हाँ...हाँ...।" वह जोर से हँसा। "मित्रता ?....कैसी मित्रता हमारी-तुम्हारी, राजा और रंक की मित्रता ही कैसी ?"

"क्या बात करते हो द्रुपद।"

"ठीक कहता हूँ द्रोण ! तुम रह गये मूढ़ के मूढ़। जानते नहीं हो ? वय के साथ-साथ मित्रता भी पुरानी पड़ती है, धूमिल होती है और मिट जाती है। हो सकता है, कभी तुम हमारे मित्र रहे हो, पर अब समय की झंझा में तुम्हारी मित्रता उड़ चुकी है।"

"हमारी मित्रता नहीं, वरन् तुम्हारा विवेक उड़ चुका है।....और वह भी समय की झंझा में नहीं, वरन् तुम्हारे राजमद की झंझा में। पीलिया के रोगी को जैसे समस्त सृष्टि ही पीतवर्णी दिखायी देती है वैसे ही तुम्हारी मूढ़ता भी दूसरों को मूढ़ ही देखती है।

"देखती होगी।" वह बीच में ही बोल उठा और मुस्कराया,—"कहीं कोई दरिद्र किसी राजा को अपना सखा समझे, कोई कायर शूरवीर को अपना मित्र समझे, तो मूढ़ नहीं तो और क्या समझा जायेगा ?"

"....किन्तु मूढ़ समझने की धृष्टता करनेवाला द्रुपद! राजमद ने तेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी है। तू यह भी नहीं सोच पा रहा है कि तू किससे और कैसी बातें कर रहा है। तुझे अपनी कही हुई बातें भी शायद याद नहीं हैं।....तू मेरे पिताजी के शिष्यत्व को तो भुला ही बैठा। अग्निवेश्य के आश्रम में मेरी सेवा भी तुमने भुला दी।

"भुलाने ही योग्य रही होगी।"—वह बड़ी अन्यमनस्कता से बोला।

"आज भुलाने योग्य कहता है!"—मैं भभक पड़ा।—"....और उस समय मेरे चरणों पर नाक रगड़ता था कि मैं तेरे पाठ की दो-तीन आवृत्ति तुझे करा दिया करूँ।....याद कर, तुमने मुझे वचन नहीं दिया था कि तू मेरी विपत्ति में काम आ, मैं तेरी विपत्ति में काम आऊँगा।"

"विपत्ति में काम आने की बात कही होगी पर सखा होने की बात तो नहीं कही होगी।....यदि तुम पर विपत्ति है और तुम कुछ अर्थ की याचना करने आये हो तो माँग लो। याचना के लिए मित्रता का नाटक रचने की क्या आवश्यकता? तुम अपनी दीनता दिखाकर किसी से भी माँग सकते हो। माँगों, कितनी स्वर्ण-मुद्राएँ चाहिए।"....और वह फिर हँसने लगा, एक विचित्र हँसी हँसता रहा।

उस कक्षा की राजसी गम्भीरता को प्रकम्पित करनेवाले अट्टहास ने मेरे संयम को भी जैसे झकझोर दिया। मेरी सहिष्णुता मृत्तिका-पात्र की तरह चूर-चूर होकर बिखर गयी। मेरा अहं तड़प उठा,—"मैं याचना करने नहीं आया हूँ, वरन् एक ऐसे मित्र से मिलने आया था जिसकी मित्रता का गला उसके राजमद ने घोंट दिया। अब मुझे उस राजमद का गला घोंटना पड़ेगा। तेरा विवेक अन्धा हो गया है, उसकी आँखें खोलनी पड़ेंगी और विश्वास कर मैं खोल-कर रहूँगा। यदि मैं ऐसा नहीं कर सका तो फिर मैं भरद्वाज का पुत्र द्रोण नहीं।"

मैं क्रोध से काँप रहा था, पर वह हँस रहा था। मुझे चिढ़ाने के लिए ही वह हँसता जा रहा था।

मेरा स्वाभिमान फन काढ़कर खड़ा हो गया था। वह रह-रहकर फुफकारता था।

"आराम कहाँ है कृपी।···जब तक उस नीच से बदला नहीं लूँगा शान्ति नहीं मिलेगी।"—इतना कहते हुए मैंने करवट बदल ली। मेरी व्याकुलता का उसे अनुभव हो गया। वह धीरे-धीरे मेरा सिर थपथपाती रही। उसका एकमात्र प्रयत्न था कि मैं सो जाऊँ।

पर मैं सो न सका। रात्रि का यौवन उभार पर आया। वह ऊँघती रही और एक क्षण के लिए उसका सिर मेरी छाती पर ढुलक गया। शीघ्र ही वह सजग होकर फिर सहलाने लगी।

"जाओ, सो जाओ।"—मैंने कहा।

"तो आप क्यों नहीं सोते ?"

"मेरे सोने न सोने से तुम्हें क्या ?"—मेरे स्वर में अनायास रूक्षता आ गयी।

"आपके सोने के बाद ही मैं सो पाऊँगी।"—उसने कहा।

"मैं सोऊँगा नहीं, जागता रहूँगा, जागता रहूँगा। तब तक जागता रहूँगा जब तक उस नीच के मद का घड़ा फोड़ नहीं लूँगा।"

वह बोली,—"मैं आपके मन की स्थिति समझ रही हूँ, किन्तु इतनी चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं है। इतना समझिए, परमात्मा जो कुछ करता है अच्छा ही करता है।"

"नहीं, नहीं, बिल्कुल नही। परमात्मा सब कुछ अच्छा ही नहीं करता। यदि वह अच्छा करता, तो मैं दरिद्र न होता, मेरा बेटा दूध के लिए न तड़पता।····वह नीच द्रुपद राज-सुख न भोगता।···यही तो सबसे बड़ा दुःख है कृपी कि परमात्मा अच्छा नहीं करता।" इतना कहते-कहते मेरा स्वर भर आया। आँखें डबडबा गयीं। मैं अनुमान करता हूँ कि कृपी भी अत्यधिक दुःखी हुई होगी, पर उसने बड़े संयम का परिचय दिया। उसने कहा,—"इतना दुःखी होने से कोई लाभ नहीं। प्रतिहिंसा वह आग है जो स्वयं से ही पैदा होती है और स्वयं को ही जलाती है।···जरा संयम से काम लें।····आपही ने तो कहा था कि हमारी सम्पत्ति हमारा सन्तोष है, हमारी विद्या है। हमारा त्याग है।"

"किन्तु मैंने झूठ कहा था। असत्य कहा था। वह सन्तोष किस काम का जो मेरे बच्चे को दूध बिना जिलाये।....वह विद्या लेकर मैं चाटूँगा जो द्रुपद के समक्ष मेरा अपमान कराये ?"

"तब सिवा इसके कि आप तड़पते रहें और कर क्या सकते हैं ?"

"मैं बहुत कुछ कर सकता हूँ ।....हस्तिनापुर जाऊँगा। चाकरी करूँगा। शक्ति अर्जित करूँगा।'

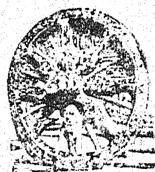
"क्या कहा ? चाकरी करूँगा।....एक आश्रम के संचालक होकर तुम अपनी विद्या बेचोगे।" कृपी को जैसे आश्चर्य था।

"विद्या ही नहीं बेचूँगा और जो भी करना होगा करूँगा।"—मैं बड़े आवेश में बोला।

कृपी अच्छी तरह समझ गयी कि द्रुपद की कृतघ्नता ने मेरे अन्तर में जो आग जलायी है वह शीघ्र शान्त होनेवाली नहीं है। उसके अपनत्व ने बड़ी मृदुता से कहा।"....अच्छा तो कल जाइएगा न आप। अभी तो सो जाइए।.... कितने अच्छे हैं आप, सो जाइए।"—उसका स्नेहिल स्पर्श मुझे सुलाने में सफल तो न हो सका, पर वह सुलाते-सुलाते स्वयं मेरी बगल में ढुलक गयी।

छप्पर पर छाये पकड़ी पर बैठी टिटिहरी बोल पड़ी।

● ● ●



हस्तिनापुर में मैं आया तो अवश्य, पर मुझे ऐसा लगा जैसे कृपा को मुझे देखकर प्रसन्नता न हुई। उन्होंने प्रत्यक्ष तो मेरा सत्कार ही किया, पर प्रच्छन्न रूप से वे दुःखी थे। मुझे ऐसा लगता है कि वे नहीं चाहते थे कि उनका बहनोई ऐसी विपन्न अवस्था में हस्तिनापुर पहुँचे।

दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि हम दोनों में सैद्धान्तिक मतभेद भी था। उन्होंने अपनी विद्या राजकुल के हाथों सहर्ष बेच दी थी। यह मुझे पसन्द नहीं था। यद्यपि इससे वे सम्मानित भी हुए थे। सबकी जबान पर कृपाचार्य, कृपाचार्य, कृपाचार्य थे। उनकी तूती बोलती थी।

किन्तु मैं विद्यादान देने के पहले दान लेनेवाले की पात्रता को अच्छी तरह परखनेवालों में था। मैं अब तक कुपात्र को विद्यादान करने के पक्ष में नहीं था। धन के लोभ में द्रुपद ऐसे कुपात्र को विद्या देकर मेरे पिता और अग्निवेश्य ने जैसी भूल की थी मैं वैसा करना नहीं चाहता था।

पर कृपा के जीवन में धन का अधिक महत्त्व था, वह मनुष्य को नहीं, वरन् वैभव के हाथों विद्या बेचा करते थे। यह वह सैद्धान्तिक विन्दु था जहाँ हम दोनों मिल नहीं पाते थे।

मेरे कटु अनुभवों ने अब मुझे बता दिया था कि मैं गलती पर था। इस अर्थ-प्रधान युग में आदर्श की बातें सोचना पानी को पानी से धोने का प्रयास था।

मैंने कृपा को अपने विचारों से अवगत कराया और स्वयं पर बीती सारी बातें बतायी। वह मुस्कराया, उसकी मुस्कराहट व्यंग्य-भरी थी मानो वह विजयोन्माद में मुस्करा रहा हो, उसकी विलक्षण मुद्रा मानो मुझसे कह

रही हो,—"नहीं, नहीं, अब मैं ऐसा नहीं करूँगा। मैं किसी को भी अपनी विद्या दे सकता हूँ।....केवल मुझे धन चाहिए, शक्ति चाहिए। ऐसी शक्ति, जिससे मैं द्रुपद से प्रतिशोध ले सकूँ।"

दिन बीतने लगे।

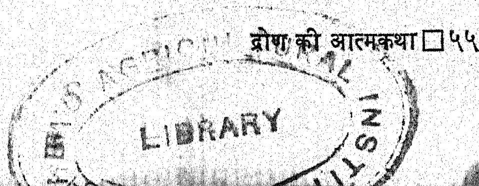
मेरी उपस्थिति हस्तिनापुर में प्रचारित नहीं हुई। मैं बहुधा छिपकर ही निकलता था। नगर की ओर अधिकतर नहीं जाता था। घूमने का जी चाहता, तो जंगल की ओर नदी के किनारे चला जाता था। फिर वहाँ मुझे पहचानने-वाला ही कौन था। विवाह के समय दो-चार दिन हस्तिनापुर में बिताये अवश्य, पर महल में ही। उस समय तो अनेक लोगों से सामना भी हुआ था, पर किसे याद है कि मैं ही द्रोण हूँ।

फिर अब वह बात भी नहीं रही। उस समय की यौवन की हाहाकार करती उन्मत्त नदी परिस्थितियों की चट्टानों से टकराकर शिथिल पड़ चुकी थी। व्यक्तित्व में भी अब उषाकाल की कोमलता नहीं थी, वरन् मध्याह्न का ताप था। एक विलक्षण ताप, जो दूसरों की अपेक्षा स्वयं को अधिक जलाता है।

उसी ताप को दाढ़ी-मूँछोंवाली श्यामवर्णी आकृति में छिपाये इधर-उधर भटकता हुआ मैं दिन काट रहा था। यदि ठीक से कहूँ तो दिन ही मुझे काट रहा था।

बात कुछ ऐसी हुई कि एक दिन मैं ऐसे ही निरुद्देश्य घूम रहा था। दिन ढलने को आया। मैंने सोचा कि यहीं सन्ध्या-पूजन कर लूँ। निकट ही एक कुआँ था। जल प्राप्त करने के उद्देश्य से उधर चल पड़ा

कुएँ पर बहुत से बालक एकत्र थे। उनकी चेष्टाओं से ऐसा लग रहा था, जैसे उनकी कोई अत्यन्त प्रियवस्तु कुएँ में चली गयी है।



—ज्योंही मैं कुएँ के निकट पहुँचा। मुझे एक बालक की आवाज सुनायी पड़ी,—"बड़े भइया ने डाला है, वे ही निकालें। हम लोग कुछ नहीं जानते। हम लोग तो उनसे लेकर रहेंगे।"

"हाँ, हाँ, यह सारी गलती बड़े भइया की है।"—यह दूसरे बालक की आवाज थी। मैंने देखा, बच्चे जिसे 'बड़े भइया' से सम्बोधित कर रहे हैं, वह बेचारा बड़ा व्यग्र है। कभी कुएँ में झाँकता है और कभी कोई टहनी उठाकर उसमें फेंकता है। झम्म से आवाज होती है, पर उस लाचार बड़े भइया की समस्या का कोई हल नहीं निकलता।"

"तुम लोगों ने यह क्या कोलाहल मचा रखा है?"—मैं कुएँ के निकट पहुँचते ही बोला।

"आप कौन हैं?"—उसमें से एक ने पूछा।

"एक ब्राह्मण हूँ।"

"यह तो देखने से ही मालूम होता है।"—यह आवाज एक नटखट बालक की थी।

"आप यहाँ क्यों पधारे हैं?"—उनमें से एक ने पूछा।

"जल लेने आया हूँ।"—मैंने कहा।

"पर आप के पास न तो डोर है और न पात्र। आखिर आप जल लेंगे-किसमें? निकालेंगे कैसे?"

"पत्तों का दोना बनाऊँगा और सींकों के सहारे उस दोने को कुएँ में भर-कर निकाल लूँगा।"

"ऐं....सींकों से पानी निकल आयेगा"—जैसे उन्हें विश्वास ही न हो। वे एकटक हमारी ओर देखने लगे। मैंने मुस्कराते हुए पूछा—"..तुम लोग कौन हो?"

"हम लोग राजकुमार हैं, क्षत्रिय हैं।"

"पर देखने से तो मालूम नहीं होता।" मैंने चुटकी लेते हुए कहा।

"क्यों?"

"क्योंकि तुम बाण-विद्या नहीं जानते।"

"बाण-विद्या तो हमें कृपाचार्य सिखलाते हैं।"—उन लड़कों के बड़े भैया ने कहा, और कुछ सोचते हुए थोड़ी देर बाद बड़े आतुर स्वर में बोला,—"आप सींकों से मेरी गेंद निकाल देंगे ?"

"कैसी गेंद ?"

"खेलते समय हमारी गेंद इस कुएँ में चली गयी है।"

"क्या तुम नहीं निकाल सकते ?"

बड़े भइया ने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

मैंने हँसते हुए कहा,—"अच्छा तो मैं निकाल दूँगा।"—तब तक मुझे उस बड़े भइया के हाथ में एक अँगूठी चमकती हुई दिखायी दी। मैंने उसकी ओर संकेत करते हुए पूछा—क्या तुम इसे मुझे दे सकते हो ?"

"गेंद निकालने के पारिश्रमिक के रूप में ?" उसकी मुख-मुद्रा ने बताया कि वह मुझे लोभी समझ रहा है।

मुझे हँसी आ गयी।,—"इतने मामूली कार्य का पारिश्रमिक ऐसी बहुमूल्य अँगूठी कैसे हो सकती है ? मैं तो यो ही माँग रहा था।"

हँसते हुए उसने भी निकालकर दे दी। मैंने अँगूठी लेते ही उसे पानी में फेंक दिया।

"अरे यह क्या ?"—आश्चर्यचकित हो सबके सब एक साथ चिल्ला पड़े।

"आपने अँगूठी क्यों फेंक दी ?"—बड़े भैया ने पूछा।

"मैंने सोचा जब गेंद कुएँ से निकालनी ही है तब अँगूठी को भी निकालकर तुम लोगों को दिखा दूँ।"—मैंने कहा।

किन्तु गेंद तो पानी के ऊपर तैर रही है, वह दिखायी दे रही है। आप बाण-कौशल दिखा सकते हैं, पर अँगूठी तो पानी के भीतर चली गयी है, वह बिल्कुल नहीं दिखायी पड़ रही है।"—बड़े भैया से छोटे एक उसके ही जैसा बालक बोला। उसमें बाण-कौशल के प्रति उत्सुकता अधिक थी। बाद में उसका नाम मुझे अर्जुन मालूम हो गया।

उसकी इस बात पर मुझे हँसी आ गयी। मैं जोर से हँसा।····"अँगूठी इस समय मुझे भले ही न दिखायी पड़ रही हो, पर पानी में जाते समय मैंने उसे देखा है।····मैं ऐसी सींकें मारूँगा जो उसे खोज लायेगी।"

परम आश्चर्य की मुद्रा में बालक मुझे देखते रह गये।

मैंने एक लम्बी टहनी मँगवायी और वटवृक्ष के बरोह की प्रत्यंचा से धनुष बनाया। बहुत सारी सींकें इकट्ठी की गयीं।··और फिर मन्त्र पढ़कर उन सींकों के बाण कुएँ में मारने लगा।

पहली सींक गेंद में लगी। दूसरी सींक पहली सींक में, और तीसरी, दूसरी में। इस प्रकार एक दूसरे से लगती हुई सींकों का छोर कुएँ के ऊपर तक आ गया, और तब बड़ी सरलता से डोर की तरह खींचकर गेंद निकाल ली गयी। सभी बच्चे मंत्र-मुग्ध-सा मुझे देखते रहे।

"लो अपनी गेंद।"—मैंने कुएँ की जगत पर से गेंद नीचे फेंकते हुए कहा।

"और मेरी अँगूठी ?"—बड़ा भैया बोला।

"यदि मैं उसे न निकालूँ तो ?"—मैंने मुस्कराते हुए कहा।

"···तो जैसी आपकी इच्छा।"—उसने अत्यन्त विनीत भाव से कहा। वह बालक शिष्ट एवं श्रृद्धालु था। किसी ने शायद बाद में मुझे बताया कि उसका नाम युधिष्ठिर है। वह पाण्डु-पुत्रों में सबसे बड़ा है।

मैंने उसी तरह सींकों के बाण मारकर अँगूठी भी निकाल दी। युधिष्ठिर श्रद्धावश मेरे चरणों पर गिर पड़ा।

"आप हमें बाण-विद्या सिखा सकेंगे ?"—यह उस बालक ने पूछा, जिसे लोग दुर्योधन कहते थे।

"हम भी आप से धनुर्विद्या सीखेंगे।····पर इसके लिए आप हमारे कृपाचार्यजी से अनुमति लेकर पितामह से मिलिए।"—युधिष्ठिर ने कहा।

"इसमें अनुमति लेने की क्या आवश्यकता है ?—आप यों ही पितामह से मिलिए।"—दुर्योधन बोला।

"अनुमति की आवश्यकता तो पड़ेगी ही। हम एक आचार्य के रहते हुए बिना उसकी सहमति के दूसरा आचार्य कैसे बनायेंगे ?"—मैंने देखा, युधिष्ठिर का विवेक उसके भय से कहीं अधिक है।

पर दुर्योधन माननेवाला नहीं था। उसने कहा,—"आचार्य की नियुक्ति करना हमारे ऊपर है। हम इनकी नियुक्ति करायेंगे। इसमें कृपाचार्य की सहमति की क्या आवश्यकता।....हम चाहे एक को आचार्य रखें या दस को। वृत्ति तो हमें देनी है।"—मुझे दुर्योधन के स्वर में अहं की मात्रा अत्यधिक दिखायी पड़ी। उसमें छात्रोचित विनय का अभाव था। जब विनय नहीं तो विद्या कैसी ? यदि मैं अपने आदर्शों का पालन करता तो दुर्योधन को कभी भी अपना शिष्य न बनाता, पर इस समय वह द्रोण मर चुका था। एक नये द्रोण का जन्म हुआ था, जो प्रतिहिंसा और वैभव की आकांक्षा लेकर जन्मा था।

मैंने देखा, वय में बड़ा होने पर भी दुर्योधन के अहं के समक्ष युधिष्ठिर मौन हो गया। यह मुझे अच्छा नहीं लगा। मैं परिस्थिति को सामान्य करते हुए बोला—"इसमें विवाद करने की आवश्यकता नहीं। आप लोग स्वयं पितामह से इस घटना का वर्णन करें और मेरी हुलिया बतायें।....देखें पितामह क्या कहते हैं ?"

"पितामह आपको जानते हैं क्या ?"

"यह तो नहीं मालूम।"

राजकुमार मेरा उचित अभिवादन कर चलते बने।

उस रात मैंने सारी बातें कृपा को बतायीं। सोचा था कि वह सुनकर प्रसन्न होगा, पर ऐसा नहीं हुआ। उसने सब कुछ गम्भीरता से सुना और बड़े दबे मन से बोला,—"आज भीष्म को पता चल जायेगा कि द्रोण यहीं कहीं ठोकरें खा रहा है।"—इसके बाद वह मेरे पास से उठकर चला गया।

मैंने समझ लिया कि व्यावसायिक दृष्टि से वह मुझे अपना प्रतिद्वन्द्वी समझता है।""किन्तु इसके लिए मैं क्या करूँ ? इन सारी परिस्थितियों से मैं स्वयं को हटा भी तो नहीं सकता।"

"सुना, राजकुमारों ने सारी चर्चा पितामह से उसी दिन की। पितामह को यह समझते देर न लगी कि हो न हो वह धनुर्विद्या-विशारद ब्राह्मण द्रोण ही होगा। उन्होंने दूसरे ही दिन कृपा को बुलाया और उन्हें राजकुमारों की बातें बताकर कहा,—"लगता है, आचार्य द्रोण कहीं आये हैं।"

अब कृपा क्या कहता ? वह यह नहीं कह सकता था कि नहीं मालूम, क्योंकि बात तो एक-न-एक दिन फूट ही जायेगी। अतएव वह विवश था। उसने धीरे से कहा,—"हाँ, वह तो दो-तीन दिनों से आये हैं।"

"तब आपने मुझे क्यों नहीं बताया ?"

उसने बड़ा अच्छा बहाना बनाया,—"द्रोण ने स्वयं मुझसे कहा था कि मेरे आगमन की सूचना किसी को भी मत देना। मैं यहाँ कुछ दिन प्रच्छन्न प्रवास में बिताना चाहता हूँ।"

"यह प्रच्छन्न प्रवास कैसा ?"

मुझे एक दरबारी ने बताया था कि पितामह द्वारा ऐसा पूछने पर कृपा एकदम चुप-सा हो गया था। वह झूठ से पुनः झूठ छिपाते हुए बोला था,—"उनकी मंशा शान्तिपूर्वक विश्राम करने की है।"

विश्राम करने की है तो खुशी-खुशी विश्राम करें। इसमें छिपे रहने से क्या लाभ ? यदि मैं जान ही जाता तो उनसे कोल्हू थोड़े ही ढकेलवाता।"

स्पष्ट था कि मेरे आगमन की सूचना कृपा द्वारा न देना पितामह को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने दूसरे ही दिन मुझे बुलवाया।

कृपा ने तोड़-मरोड़कर यह सारी बातें मुझे बता दी थीं।

"मैं उसी दिन पितामह के यहाँ गया। उन्होंने मुझे देखते ही मुस्कराते हुए कहा,—"सुना है आप प्रच्छन्न प्रवास में निकले हैं—और मैंने आपको बुला लिया। क्षमा कीजिएगा।"

मैं तो कटकर रह गया । बड़ी चेष्टा की कि कुछ बोलूँ, पर कुछ कह नहीं पाया । जबान मुख के भीतर-ही-भीतर हिली और फिर शान्त हो गयी ।

वे कहते गये, "···यदि आप मेरे यहाँ आते और शान्तिपूर्वक विश्राम करते तो मैं अपने को गौरवान्वित अनुभव करता, पर आपने ऐसा नहीं किया । ···खैर कोई बात होगी ।"

मैं इस बार भी बोल नहीं पाया । लज्जायुक्त ग्लानि से भरी मेरी दृष्टि धरती में गड़ गयी । मेरे अधरों पर एक कुँम्हलायी मुस्कराहट पसर गयी ।

उन्होंने पुनः कहा, "राजकुमार आप पर प्रसन्न हैं । वे आप से शस्त्र-विद्या सीखना चाहते हैं ।"

यह तो मेरे मन की ही बात थी । मैंने छूटते ही कहा,—"मैं भी तो आपकी सेवा में उपस्थित हूँ ।"

"यह तो आपकी कृपा है ।···तो मैं समझ लूँ कि राजकुमारों को शिक्षा देना आपको स्वीकार है ।"

"अवश्य ।" मैं अधिक बोलने की स्थिति में नहीं था ।

"तो इसके लिए आप क्या दक्षिणा चाहेंगे ?"

मैंने अनुभव किया कि पितामह आज बड़ी सीधी बातें कर रहे हैं । स्पष्ट मालूम हो रहा था कि मेरे यहाँ न आने के कारण वे नाराज हैं । मैं भी समझता हूँ कि मैंने गलती की थी, पर कृपा ने ही मुझे किसी से न मिलने की सलाह दी थी । मैं क्या करता ? आतिथेयी की बात मानना अतिथि का धर्म होता है ।

दक्षिणा के प्रश्न पर भी मैं चुप ही रहा । केवल इतना बोला,—"दक्षिणा के विषय में सोचना हमारा काम नहीं है ।···हम तो ब्राह्मण हैं, शिक्षा देना भर जानते हैं ।"

पितामह मुस्कराने लगे ।

दो-चार दिनों के बाद ही शुभ मुहूर्त में, एक सादे समारोह में मैं राजकीय आचार्य घोषित किया गया । राजभवन के अतिथि-गृह में मेरे निवास की सम्प्रति व्यवस्था की गयी । प्रथम दिन ही अनेक रत्न एवं स्वर्ण-मुद्राएँ मुझे

दक्षिणा में मिलीं। मेरे जीवन की मरुभूमि लहलहा उठी। एक गाय क्या, अनेक गायों को खरीदने की सामर्थ्य मुझमें आ गयी।

मैं और कृपा दोनों राज-आचार्य थे। एक म्यान में दो तलवारें! किन्तु दोनों ने एक दूसरे से न खटखटाने की शपथ ली थी।

कालचक्र चलता रहा। समय बीतता गया।

मैं कौरवों और पाण्डवों, दोनों को शस्त्र-शिक्षा देता रहा। जीवन वैभव के उस शिखर पर चढ़ गया जहाँ सम्पन्नता के बादलों ने मेरे बीते दिनों की यादों को अच्छी तरह ढँक लिया था। कदाचित् ही मुझे अब इतना अवसर मिल पाता कि मैं सोच सकूँ कि मैं उसी पुत्र का पिता हूँ जिसे कभी पीने के लिए दूध भी नहीं मिल पाता था।

अब मैं सभी दृष्टियों से सुखी था। पितामह ने तो यह कह ही दिया था कि प्रभु की हम पर महती कृपा है जो आप ऐसा गुरु हमें मिला है।···आप राजकुमारों को शस्त्र-शिक्षा दीजिए और हस्तिनापुर का स्वयं को ही राजा समझिए।

बात ऐसी ही थी। मेरा सम्मान किसी राजा से कम नहीं था। अनेक पुरवासी मेरी कृपा के भिखारी थे। मैं जो भी चाहता, प्राप्त हो सकता था। वैभव तो मेरे पास था ही। मैं यदि चाहता तो सुरा से ही स्नान करता और हर क्षण सुन्दरियों को अपने आलिंगन-पाश में जकड़े रहता। अनेक वार-वधुएँ राज्य-सम्मान पाने के लिए मेरे समक्ष आँखें बिछाये रहती थीं। एक संकेत पर सब कुछ न्योछावर कर सकती थीं, पर मेरी स्थिति बड़ी विचित्र थी। मेरा कार्य पवित्र था, उसमें ऐसे कुकर्म की गुंजाइश नहीं थी। इच्छा होते हुए भी बदनामी के भय से इस ओर नहीं बढ़ा क्योंकि प्रतिष्ठा की दीवारों में ऐसा घिर गया था कि इस रास्ते पर निकल पाना भी कठिन था।···और फिर कृपी? वह तो अद्भुत थी। मेरे सम्मान की निरंतर बढ़ोतरी से बढ़ता हुआ लोगों का मेरे

प्रति आकर्षण कृपी के सन्देह का कारण था। वह जहाँ तक चौकसी रख सकती थी मुझ पर रखती थी। घर के बाहर भी अपनी छाया की तरह अश्वत्थ को मेरे पीछे लगा देती थी।

यह नियंत्रण आत्मीय होने के कारण मुझे अप्रिय नहीं था। इसने मुझे अनेक संकटों से बचाया भी।

रात-दिन कौरव और पाण्डव मेरे नियंत्रण में रहते थे। मैं उन्हें शस्त्र-शिक्षा देता कभी हस्तिनापुर में और कभी हस्तिनापुर से दूर जंगलों में।

अपने शिष्यों में मुझे अर्जुन बड़ा प्रिय था। उसकी सेवा और अभ्यास से मैं प्रभावित था। उसमें विद्या-ग्रहण की शक्ति भी अद्भुत थी। थोड़ा-सा मैं बताता था, वह बहुत अधिक सीख जाता था।

बात इस घटना से और अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

हस्तिनापुर में गंगा के किनारे वह शर-संधान का अभ्यास कर रहा था। स्थान निर्जन था। संध्या हो चली थी। उसका तन श्लथ था, वह अभ्यास करते-करते पसीने-पसीने हो गया था।

पीछे दूर पर खड़ा मैं उसकी इस लगन को बड़े ध्यान से देख रहा था। शिष्य की इस कर्तव्यनिष्ठा ने मेरे आचार्यत्व के अभिमान की छाती फुला दी थी।

वह एक क्षण के लिए रुका। कदाचित् गंगा की ओर पानी पीने के लिए बढ़ा। अब उसकी दृष्टि मुझ पर पड़ी। वह दौड़कर आया और मेरे चरणों पर गिर पड़ा। मैंने उसे छाती से लगा लिया, पूछा—"कब से अभ्यास कर रहे हो ?"

"प्रातःकाल से ही, केवल मध्याह्न भोजन के लिए एक घड़ी का अन्तराल दिया था।"

"....और कब तक अभ्यास करते रहोगे ?"

"जब तक सूरज डूब नहीं जायेगा।"

"क्यों, इसके बाद तुम अभ्यास नहीं कर सकते ? लगता है तुम काफी थक गये हो।"—मैंने मुस्कराते हुए कहा।

"थकावट की बात नहीं है गुरुदेव !.......अन्धकार में अभ्यास कैसे हो सकता है ?

".....किन्तु अभ्यास तो वही है जो अन्धकार में भी चलता रहे।"—मैंने कहा। वह मेरा मुँह ताकता रह गया, जैसे वह मेरी बात समझ नहीं सका।

"खैर, कोई बात नहीं। तुम मेरे योग्य शिष्य हो।....अभ्यास करते रहो।"—इतना कहकर मैं चला आया।

दिन डूबते ही मैं राजभवन के भोजनालय में पहुँचा। हर एक मुझे देखकर हक्का-बक्का रह गया। आखिर क्या बात है कि आज आचार्य भोजनालय में चले आये। इधर तो कभी नहीं आते थे। कुछ ने संकेतों से, कुछ ने प्रत्यक्ष ही मेरे आने का कारण पूछा। मैंने सब को चलता-सा मुस्कराते हुए उत्तर दिया और मुख्य बात टाल गया।

मैंने प्रधान रसोइए को बुलाया और उसे एकान्त में ले जाकर बोला—"आज कुछ ऐसा करो कि रात्रि में अर्जुन के भोजन करते समय प्रकाश एकदम लुप्त हो जाये।"

"यह कैसे हो सकता है, महाराज। प्रकाश का नियंत्रक तो मैं नहीं हूँ।

"किन्तु यह कार्य करना तुम्हीं को है....यहाँ तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा मेरे निकट का ऐसा नहीं है जिससे मैं यह बात कह सकूँ।"

रसोइयाँ चुप हो कुछ सोचने लगा, और फिर बोला—"दीपशिखा मैं बुझाने लगूँगा तो लोग क्या कहेंगे ?"

"यही तो तुम्हें करना है कि तुम बुझाओ भी और बुझाते हुए तुम्हें कोई देखे भी न।"

वह फिर सोचने लगा। मैंने उसे समझाते हुए कहा—"इसमें सोचने की कौन-सी बड़ी बात है। जब तुम भोजन परोस देना, तो किसी को संकेत कर देना, वह दीपक बुझा देगा।...किसने बुझाया ? क्यों बुझाया ? यह तो बाद की बात होगी न।"

"...अर्जुन अकेले तो जेवने आता नहीं। वह अन्य अपने भाइयों के साथ रहता है।"—उसने अपनी कठिनाई बतायी।

"....किन्तु आज वह अकेले ही आयेगा।"

"यह कैसे सम्भव है आचार्य ?"

"इससे तुमसे मतलब ?....इसे तुम मुझ पर ही छोड़ दो।"—मैंने हँसते हुए कहा।—"आज रात उसके साथ मैं भी भोजन पर आऊँगा।"

"तब तो ठीक ही है।"

योजना बन गयी। रसोइए की जिज्ञासा ज्यों-की-त्यों बनी रही कि आचार्य आखिर यह सब क्यों करा रहे हैं।

रात्रि के प्रथम पहर तक मैंने अर्जुन को बातों-बातों में उलझाये रखा। जब मुझे विश्वास हो गया कि अन्य राजकुमारों ने भोजन कर लिया होगा, तब मैंने उसे छोड़ा, और साथ में भोजनालय तक आया।

अर्जुन को इसी बात की प्रसन्नता थी कि आज गुरुदेव मेरे साथ भोजन करेंगे। पूर्वयोजना के अनुसार प्रकाश को बिदा कर दिया गया।

"अरे यह क्या ?"—अर्जुन बोल पड़ा।

"कोई बात नहीं, दीप बुझ गये होंगे, जला दिये जायेंगे।"—मैंने उस अन्धकार को महत्त्वहीन बताते हुए कहा।

भोजन चलता रहा।

जब अर्जुन को अनुमान हो गया कि मैंने खा लिया, तब उसने मुझसे उठने का आग्रह किया।

"तुमने कैसे जाना कि मैं खा चुका हूँ। लगता है तुझे अंधेरे में दिखायी देता है।"—मैंने मुस्कराते हुए कहा। उस अंधेरे में भी मेरे मुस्कान की लहर उसे छू गयी।

"....तो क्या मैं उल्लू हूँ ?"—वह जोर से हँसा। उसकी हँसी अन्धकार में दूर तक तैरती निकल गयी।"

"आखिर तुमने अनुमान लगा लिया न कि मैं भोजन कर चुका हूँ।"

"जी हाँ।"

"...और तुमने भी भोजन कर लिया न ?"

"जी हाँ।"

"अन्धकार में किसी प्रकार की कठिनाई तो नहीं हुई ? हाथ मुँह में ही गया न ?"

अर्जुन ने अनुभव किया कि आचार्य परिहास कर रहे हैं। वह हँसने लगा, बोला,—"हाथ मुँह में न जाता तो कहाँ जाता। चाहे प्रकाश रहे या न रहे, अभ्यास से हाथ मुँह में ही जायेगा।"

"जब अभ्यास से हाथ मुँह में ही जायेगा, तो अभ्यास से बाण लक्ष्य पर ही लगेगा, चाहे आकाश में सूर्य रहे या न रहे।"—मेरे स्वर में अपेक्षा से अधिक गम्भीरता थी।

अर्जुन ने उसी क्षण समझ लिया कि यह सारा नाटक क्यों किया गया है। वह अत्यधिक गम्भीर हो गया।

इसके बाद उसे लोगों ने अन्धकार में भी अभ्यास करते हुए देखा।

एक बार मध्य रात्रि में मेरी नींद खुल गयी। मैंने निकट से ही आती प्रत्यंचा की टंकार सुनी। बात क्या है ? मेरी जिज्ञासा जागी। मैंने वातायन से देखा कुछ दिखायी नहीं दिया। विवश हो बाहर आया। अब मेरी दृष्टि पड़ी। राजभवन के विशाल प्रांगण की पुष्करिणी के दक्षिण ओर अर्जुन अभ्यास कर रहा था।

उसे देखकर मैं कितना प्रसन्न हुआ इसे कैसे बताऊँ ! जब सारे लोग इस संसार से दूर—कहीं दूर सपनों में खोये हुए अपने शयन-कक्ष में पड़े हैं, तब भी यह बेचारा अभ्यास में रत है। मैं पुलकित हो उठा। आखिर इससे अधिक एक गुरु को क्या चाहिए था। मैं विह्वल हो उसके निकट पहुँचा। मेरे मुख से

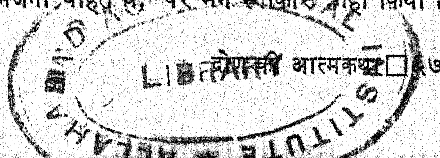
अचानक निकल पड़ा,—"बेटा अर्जुन, कोई भी धनुर्धर तुम्हारे समान नहीं हो सकता।"

यह एक ऐसा आशीर्वाद था जो स्वतः स्फूर्त था। अर्जुन गद्गद् हो 'गुरुदेव' कहता हुआ मेरे चरणों पर गिर पड़ा।

ऐसा था अर्जुन। जिसके ज्ञानार्जन से न किसी की समता की जा सकती थी, न अभ्यास से, और न व्यक्तित्व से। यदि पराक्रम और प्रतिभा में उसकी किसी से तुलना की जा सकती थी तो वह था कर्ण। वह भी अद्भुत था। था तो सूतपुत्र, पता नहीं कैसे क्षत्रियों का संस्कार लेकर पैदा हुआ था। इस तरह तो मैं उसे कुछ भी न बताता था और न सिखाता था। न तो उसे मैं अपना शिष्य ही मानता था। अन्य शिष्यों को सिखाते समय वह देखकर सब सीख जाता था। उसे एक बात को दुबारा देखने या सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वह कठिन-से-कठिन धनुष के 'करतब' क्षण में स्वतः सीख जाता था और कर दिखाता था। इतना होने पर भी उस सूतपुत्र का अहं हिमालय से भी ऊँचा था जिसने कभी उसे मेरे निकट आने नहीं दिया।....दूसरी ओर अर्जुन मेरे निकट आता गया, और अन्तर्तम के उस कोने तक पहुँच गया, जहाँ मेरा बेटा अश्वत्थ भी नहीं पहुँच पाया था। इसमें मेरे ममत्व का कम, अर्जुन की गुरुभक्ति का हाथ अधिक था।

यह उसकी श्रद्धा थी या मेरे प्रति उसकी पूजा थी, जो अन्य किसी को भी मैं उसकी तुलना में देख नहीं सकता था।

यों तो सभी मेरे शिष्य थे। धनुष, परशु, असि, पाश, शूल, यष्ठि आदि सभी अस्त्र-शस्त्रों के संचालन की शिक्षा मैं देता था। मेरी यह ख्याति दूर-दूर तक पहुँच चुकी थी। अन्य देशों के अनेक राजा अपने पुत्रों को शिक्षा प्राप्त करने लिए मेरे यहाँ भेजना चाहते थे, पर मैंने स्वीकार नहीं किया।



करता भी तो कैसे ? अब मैं मुक्त रूप से शिक्षा देनेवाला आश्रम का आचार्य नहीं था; वरन् था एक बिका हुआ हस्तिनापुर का राजकीय चाकर।

एक दिन सवेरे-सबेरे, जब मैं राजकुमारों को अभ्यास करा रहा था, भाद्रपद के बादलों की भाँति काला एक हृष्ट-पुष्ट बालक आया। उसने चरण-स्पर्श किया और शिष्य होने की इच्छा व्यक्त की। मैंने उस नवागन्तुक को गौर से देखा। उसके श्यामल व्यक्तित्व से किरणें फूट रही थीं। लगता था, कोई सूर्य उसके भीतर छिपा है जो अवसर पाते ही उदित हो जायेगा।

मैंने पूछा,—"तुम्हारा परिचय ?"

"मैं निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र हूँ।"—उस बालक ने कहा।

"तुम निषादपुत्र हो और धनुर्विधा सीखना चाहते हो ?" मैंने कुछ आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा।

मेरी मुद्रा देखकर वह सहम-सा गया। केवल संकेतों से उसने अपनी इच्छा पुनः दोहरायी।

"....पर शास्त्र निषाद को धनुर्विधा सिखाने की अनुमति नहीं देता।

वह मौन ही था। बहुत धीरे से बोला,—"कोई भी विद्या किसी जाति के अधिकार में रहे....क्या यह ठीक है ?"

"मुझे उससे ऐसा सुनने की आशा नहीं थी। मेरी मुख-मुद्रा अचानक बदली। मैं बादलों-सा गंभीर होकर बोला,—"....ठीक है या अठीक है! शास्त्रों की व्यवस्था के सम्बन्ध में उँगली उठानेवाले तुम कौन हो ?"

अब वह घबराया। मेरे चरणों पर गिर पड़ा और गिड़गिड़ाते हुए कहने लगा—"मुझसे भूल हो गयी, क्षमा करें गुरुदेव !"

मेरे मस्तिष्क में एक हल्की-सी उत्तेजना हुई,—"गुरुदेव ? तुम मुझे गुरुदेव क्यों कहते हो ? महाराज कहो, आचार्य कहो। मैंने तुम्हें अपना शिष्य तो नहीं बनाया। फिर मैं गुरुदेव कैसा ?

"पर मैं तो आपको अपना गुरु मान चुका हूँ, आप मुझे अपना शिष्य बनायें या न बनायें।....मेरे मन-सिंहासन पर जिस गुरु की प्रतिमा विराजमान हो चुकी है, वहाँ अब दूसरे के लिए कोई स्थान नहीं है।"—उसके प्रत्येक शब्द में

गम्भीरता थी। उसके स्वर में संस्कार था। उसकी मुख-मुद्रा पर एक विचित्र तेज था। मुझे अच्छी तरह याद है, जिस समय उस निषादकुमार ने ऐसा कहा था। कौरव और पाण्डव विस्फारित नेत्रों से उसे देखते रह गये थे। उन्हें आश्चर्य था उस नवागन्तुक बालक की दृढ़ता पर।....किन्तु वह बालक रुका नहीं। मेरा पुनः चरण-स्पर्श कर चलने को हुआ।

इन कुछ क्षणों में ही मैं उससे बहुत प्रभावित हुआ। मेरे मन ने मुझसे कहा,—"इस बालक में तुम्हारे शिष्य होने की पूर्ण योग्यता है। इसे अपना शिष्य स्वीकार करो। शास्त्र की व्यवस्था को तोड़ दो। शिष्य की पात्रता को देखो। तुम आचार्य हो न!"

किन्तु मेरी बुद्धि बोल उठी,—"तुम ऐसा कभी मत करना। तुम्हारा शिष्यत्व प्राप्त होते ही इसका तेज सूर्य की तरह प्रचण्ड हो जायेगा।....तब तुम्हारे शिष्य कौरवों और पाण्डवों का क्या होगा? इनमें से शायद कोई भी इस बालक का सामना न कर सके।....फिर तुमने अर्जुन को अतुलनीय होने का आशीर्वाद दे दिया है। उसका क्या होगा? तुम सोचते हो कि आर्यावर्त के आचार्यों की महान परंपरा में मैं एक आचार्य हूँ। यह तुम्हारी भूल है। तुमने तो अपना आचार्यत्व बेच दिया है।....इस समय तुम हस्तिनापुर के मात्र राजकीय चाकर हो।....राजकीय अनुमति के बिना तुम किसी को शिक्षा नहीं दे सकते। तुमने इस पराधीनता का वरण केवल प्रतिशोध की ज्वाला को शान्त करने के लिए किया है।...कहाँ है तुम्हारा आचार्यत्व? कहाँ है तुम्हारा गुरुत्व? तुम केवल प्रतिशोध और प्रतिहिंसा के पिण्ड मात्र हो।...प्रतिशोध, प्रतिहिंसा! प्रतिशोध प्रतिहिंसा!! प्रतिशोऽऽऽ...."—मेरा मस्तिष्क चकराने लगा। ऐसा लगा, मैं एकाएक बहुत ऊँचाई से गिर रहा हूँ।

तब तक वह दूर चला गया था। मैंने फिर उसे पुकारा। वह आया और अपनी विनम्रता के अनुसार चरणों पर पुनः गिर पड़ा। वह बड़ा आशान्वित लगा। जैसे उसे विश्वास होगया हो कि आचार्य का मस्तिष्क बदल गया है, अब वे मुझे अपना शिष्य स्वीकार कर लेंगे।

किन्तु मैंने उससे इतना ही पूछा,—"तुम्हारा नाम ?"

'एकलव्य।'

पुन: मैंने उसे चले जाने का संकेत किया। उसके आशा की हल्की किरण निराशा के बादलों में फिर से खो गयी। उसके डगमग डग लौट पड़े।

वह चला गया।

घटनाओं का रथ समय के पथ पर चलता रहा।

मेरे शिष्य शस्त्र-विद्या में पारंगत हो चले। मैंने एक दिन उनकी परीक्षा लेने का विचार किया। यह जानते हुए कि अर्जुन की कोई तुलना नहीं है, फिर भी मैं आतंकित था क्योंकि अधिरथ का पुत्र कर्ण भी किसी से कम नहीं था। उन दिनों उसे लोग कर्ण के नाम से नहीं, वरन् राधेय के नाम से जानते थे। दैवी कवच-कुंडल से युक्त उसका व्यक्तित्व अहं का पहाड़ था। झुकना जानता ही नहीं था। यदि उसमें विनय होता तो इसमें सन्देह नहीं, उसकी विद्या अर्जुन से कम फलवती न होती।

वह दुर्योधन का साथी था और अर्जुन से जलता था। अर्जुन मेरे अधिक निकट था। इसी से कर्ण मुझसे भी जलता था। मैं भी नहीं चाहता था कि वह किसी भी दशा में अर्जुन को पराजित करे। अतएव मैं कोई ऐसी स्थिति आने नहीं देना चाहता था जिसमें उन दोनों का सामना हो।

किन्तु एक घटना हो ही गयी।

मैंने अपने सभी शिष्यों की एक खुली प्रतियोगिता हस्तिनापुर के ही निकट आयोजित की। उस विशाल प्रतियोगिता में हस्तिनापुर के सभी नर-नारी आमंत्रित थे।

दुर्योधन बहुत चाहता था कि इस प्रतियोगिता में कर्ण को भी बुलाया जाय। उसने पहले कृपाचार्य से कहा और फिर मुझसे स्पष्ट आग्रह किया—"बड़ी कृपा होगी आप राधेय को भी बुला लें।

"पूरा हस्तिनापुर आमंत्रित है। वह भी आ जाये।"

"हस्तिनापुर तो दर्शक के रूप में आमंत्रित है।"

"तो वह भी दर्शक के रूप में आ जाये। तुम्हारे ही शिविर में उसे बैठा दिया जायेगा।"—मैंने कहा।

"किन्तु, ऐसा न कीजिए आचार्य।"

"तब तुम चाहते क्या हो?"

"मैं चाहता हूँ कि राधेय को प्रतियोगी के रूप में आमंत्रित किया जाये और प्रतियोगिता में वह भी भाग ले।"

"ऐसा नहीं हो सकता।"—मेरे स्वर में दृढ़ता थी—"यह प्रतियोगिता राजकुमारों की है। राधेय राजकुमार नहीं है।"····मेरे मन ने मुझसे धीरे से कहा,—"वह क्षत्रिय भी तो नहीं है। क्षत्रियों की प्रतियोगिता में सूतपुत्र कैसे भाग ले सकता है?"—किन्तु यह बात मैंने दुर्योधन से नहीं कही। कर्ण को सूत-पुत्र कहकर मैं उसका मन दुखाना नहीं चाहता था क्योंकि वह उसे अपने भाई से भी अधिक चाहता था।

दुर्योधन के मन में बस इतनी ही बात थी,—"राधेय राजकुमार नहीं है, वह प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकता।"

निश्चित समय पर प्रतियोगिता आरम्भ हुई। सारा हस्तिनापुर जैसे उमड़ पड़ा था, पर व्यवस्था इतनी अच्छी थी कि किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ। राज-परिवार ऊँचे मंच पर बैठा था। उत्तर के मंच पर धृतराष्ट्र, विदुर आदि थे। दक्षिण ओर मंच पर कुन्ती, गान्धारी आदि महिषियाँ थीं।

मैं राजकुमारों के शिविर के निकट ही था। कृपाचार्य प्रतियोगिता का संचालन कर रहे थे। बारी-बारी से राजकुमार अपने 'करतब' दिखाने लगे।

राजकुमारों के शिविर के बगल में ही, धरती पर बैठे कुछ पुरवासी आपस में बातें कर रहे थे। उनकी बातें साफ सुनायी पड़ रही थीं।

"ये धृतराष्ट्र अपने सपूतों के करतब किन आँखों से देखते होंगे?"—उसके ऐसा पूछते ही आस-पास के लोग हँस पड़े।

एक वृद्ध व्यक्ति ने उत्तर दिया,—"विदुर की आँखों से।"

"और गान्धारी ?"—पहले व्यक्ति ने पुनः पूछा।

"कुन्ती की आँखों से।" वृद्ध पुनः बोला।

"एकदम झूठ है, बाबा। तुम सारे संसार को अपनी ही आँखों से देखते हो।"—भीड़ में से एक युवक ने इठलाते हुए कहा।

"तो क्या मैं तेरी आँखों से देखूँ ?"

"मेरी आँखों से मत देखो बाबा, पर इतना तो मानो कि धृतराष्ट्र कभी विदुर की आँखों से नहीं देख सकते और न गान्धारी कुन्ती की आँखों से।""यदि ये दोनों ऐसा कर सकते तो हस्तिनापुर स्वर्ग का स्वर्ग ही रहता।

"तो क्या अब नरक हो गया है ?"

"हो नहीं गया है, वरन् नरक की शुरुआत हो चली है।

मैंने अनुभव किया कि राजपरिवार के विद्वेष की गन्ध जनमानस को स्पर्श कर गयी है। भविष्य को बड़ी सतर्कता से देखती उन आँखों में आतंक-भरे सपने तैरने लगे हैं।"'किन्तु मुझे यह सब सोचने का अधिक अवकाश नहीं था, प्रतियोगिता चल रही थी।

अब अर्जुन की बारी आयी। अद्भुत था अर्जुन। उसने धनुष के ऐसे बारीक-से-बारीक काम दिखाये कि जनता चमत्कृत हो उठी। रंग-स्थल की गम्भीरता अनेक बार तालियों की गड़गड़ाहट और लोगों के कोलाहल से मुखरित हो गयी।

इसी बीच अचानक मुख्यद्वार की ओर जोर का धमाका हुआ और उधर साधारण-सा हल्ला हुआ। आयोजन आरम्भ होते ही मुख्यद्वार तो बन्द कर दिया गया था। लगता है, कुछ लोगों ने धक्का देकर उसे तोड़ दिया। व्यवस्था कर रहे सैनिक उधर लपके। प्रतियोगिता इधर चलती रही, कोई असुविधा इधर नहीं आयी।

अर्जुन अपना प्रदर्शन समाप्त करे, इसके पहले ही भीम रंग-स्थल पर आ तड़पा—"है कोई मेरे भाई की बराबरी करनेवाला ?"

इतना कहना था कि पता नहीं किधर से कर्ण निकल आया। लगता था, वही मुख्यद्वार तोड़कर भीतर घुस आया था और कहीं भीड़ में छिपकर देख रहा था।

"तुम्हारे अर्जुन की बराबरी करने के लिए मैं उपस्थित हूँ।"—कर्ण ने फुफकारते हुए कहा।

सूरज की जगमगाती किरणों से कर्ण के व्यक्तित्व से पौरुष जैसे फूट पड़ रहा था। सभी उसे देखते ही अवाक् से रह गये। वह पुनः तड़पा— "मैं वह हर करतब दिखा सकता हूँ जिसे अर्जुन ने दिखाया।''''और यदि आचार्य अनुमति दें तो उससे भी विलक्षण पराक्रम दिखाऊँ।

अब मैंने कृपाचार्य की ओर देखा और कृपाचार्य ने मेरी ओर। मैंने अपनी असहमति पहले ही दुर्योधन को सुना दी थी, अतएव चुप ही रहा।

किन्तु कृपाचार्य से चुप न रहा गया। वे बोले—"यह राजकुमारों की प्रतियोगिता है। अर्जुन तुमसे द्वंद्व करने को तैयार है, किन्तु यह तो बताओ कि तुम कौन हो? किस राजवंश को विभूषित करते हो?''''क्योंकि द्वंद्व युद्ध बराबर-वालों में ही होता है। बिना कुल का परिचय पाये, अर्जुन क्या कोई भी राज-कुमार तुमसे द्वंद्व नहीं करेगा।"

मैंने अनुभव किया कि उसके फन पर जैसे किसी ने लाठी मारी। वह फनफनाया—"मेरा कुल पूछकर आप क्या करेंगे? मेरा पराक्रम देखिए।

कृपाचार्य हँसने लगे। सम्पूर्ण जन-समूह में एक विशेष प्रकार की भनभनाहट हुई। दुर्योधन सबसे अधिक क्रुद्ध दिखायी दिया। "यह अन्याय है आचार्य।"— उसने कहा।

"आचार्य के रहते न्याय और अन्याय के निर्णय की धृष्टता शिष्य को नहीं करनी चाहिए।"—कृपाचार्य के स्वर में ऐसी दृढ़ता मैंने इसके पूर्व कभी नहीं देखी थी।

दृढ़ता और महत्त्वाकांक्षा के विचित्र मिश्रण से बना दुर्योधन का व्यक्तित्व क्रोध से काँपने लगा। उसे कृपाचार्य से ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी।

अच्छा तो मैं अभी अपने मित्र राधेय का अभिषेक करता हूँ।……उसे राजा बनाता हूँ।" इतना कहते हुए उसने राज-पुरोहित को बुलाया और अभिषेक की सामग्री एकत्र करने की उसे आज्ञा थी।

यद्यपि इस समय दुर्योधन को छेड़ना अग्नि से खेलना था। न चाहते हुए भी, मेरे मुख से निकल पड़ा—"राजा के रहते राजकुमार किसी का अभिषेक करे, यह शास्त्रोचित नहीं है।"

मुझे विश्वास था कि धृतराष्ट्र कभी भी राधेय का राजा घोषित किया जाना पसन्द नहीं करेंगे। वे नहीं चाहेंगे कि कोई बाहरी व्यक्ति उनके वंश का तिरस्कार करें।

किन्तु जब दुर्योधन ने ललकारते हुए कहा कि मैं अभी महाराज से अनुमति ले लेता हूँ, तब मंच पर बैठे उस अन्ध महाराजा की गरदन गिरगिट की तरह स्वीकार में कई बार हिल गयी। दुर्योधन के प्रति अधिक आशक्ति ने धृतराष्ट्र को अर्जुन से बहुत दूर कर दिया था। लगता था, अर्जुन का अपमानित होना उन्हें अभिप्रेत था।

तिलक लगाकर, अभिमंत्रित जल छिड़ककर राधेय को अंग देश का राजा बनाया गया। अब वह अंगराज हो गया। इस उपलक्ष्य में कुछ लोगों ने तालियाँ भी बजायीं, किन्तु अधिकांश जन-समुदाय मूर्तिवत् यह नवीन तथा नाटकीय सन्दर्भ देखता रह गया।

कर्ण ने दुर्योधन को गले लगा लिया। वह परम-विह्वल था। कौरवों के खेमें से अंगराज की जय का गगनभेदी घोष सुनायी दिया। स्पष्ट था कि राजकुमार कौरव और पाण्डव दो खेमे में विभाजित हो चुके हैं।

तब तक जाने किस ओर से एक बूढ़ा लाठी टेकते हुए चला आया। वह कुछ बोलना चाहता था पर कण्ठ भरा-भरा-सा था। कर्ण को छाती से लगा लेने की इच्छा से उसने अपने दोनों हाथ फैलाये और लाठी फेंकते हुए काँपते स्वर में बोला—"आओ मेरे राजा……।"

कर्ण उसके चरणों पर गिर पड़ा। भावातिरेक में उसकी आँखें भर आयीं। इसके पहले कि बूढ़े का जर्जर शरीर उसे उठाने के लिए झुके, वह स्वयं उठा और उस वृद्ध से आलिंगन-पाश में आबद्ध हो गया।

इतना सब कुछ हो गया, किन्तु मैं उस वृद्ध को पहचान नहीं पाया। मैंने प्रश्नवाचक मुद्रा में कृपाचार्य की ओर देखा। उन्होंने बताया कि यह अधिरथ है, राधेय का पिता। पहले धृतराष्ट्र का सारथी था।.........अब तो बड़ा वृद्ध हो गया है। बहुत दिनों से दिखायी नहीं पड़ा था।

कर्ण के उत्कर्ष के शिखर पर वात्सल्य के बादल ऐसे छाये कि अधिरथ उसे छोड़ना नहीं चाहता था।

कुछ सोचते हुए कृपाचार्य आगे आये और बोले—"राधेय, अंगराज होने के लिए तुम मेरी भी बधाई स्वीकार करो।"

अब कर्ण ने अपने पिता को छोड़ा और 'धन्यवाद' कहता हुआ कृपाचार्य की ओर सिर झुकाया।

कृपाचार्य ने पुनः कहा—"अंगराज हो जाने मात्र से तुम अर्जुन से द्वन्द्व करने के अधिकारी नहीं हो सकते?"

"क्यों?"—दुर्योधन ने विस्फारित नेत्रों से देखा और कर्ण की आकृति पर भी कुछ ऐंठन आयी।

"क्योंकि यह सूतपुत्र है।.....सूतपुत्र भला क्षत्रियकुमार से द्वन्द्व करेगा।"

"इससे क्या? यह प्रतियोगिता सभी राजकुमारों के लिए है और राधेय भी राजकुमार है?" दुर्योधन बोला।

".........पर बनाया हुआ राजकुमार है, मूलतः तो वह सूतपुत्र ही है।"कृपाचार्य ने कहा। अब कर्ण भभका, क्या सूतपुत्र राजकुमार नहीं हो सकता?"

"क्यों नहीं, वह राजकुमार हो सकता है, पर क्षत्रिय तो नहीं हो सकता।"

"क्या धनुर्विद्या क्षत्रियों की बपौती है।"—कर्ण की क्रोधाग्नि ने धुआँ फेंका।

"हाँ, हाँ, बपौती है।" चिल्लाता हुआ और विचित्र रूप से अट्टहास करता हुआ भीम बीच में आ गया। उसने अधिरथ की धरती पर पड़ी लकड़ी उठायी और उसे चाबुक-सा हिलाने लगा और मटकते हुए बोला—"सारथी के बेटे! धनुष तेरे हाथ में शोभा नहीं देता। फेंक दे उसे और यह चाबुक ले।.........जीवन-भर तेरा बाप घोड़े की रास पकड़े टिक-टिक करता रहा और तू चला है अर्जुन से युद्ध करने।"

इतना सुनना था कि दुर्योधन आपे से बाहर हो गया। वह बाज की तरह भीम पर झपटा, किन्तु कर्ण अपने स्थान पर खड़ा-खड़ा क्रोध से काँपता रह गया। लगता था, जैसे अपरिमित अपमान के घेरे में उसकी बुद्धि बन्दी हो गयी है। वह कुछ सोच नहीं पा रहा है।

निकट ही बुझती हुई लौ-सा अधिरथ भी काँप रहा था।

कृपाचार्य ने भीम को और मैंने दुर्योधन को पकड़ा और उसे समझाते हुए बोला, "बेटा मर्यादा का उल्लंघन मत करो।"

"आप भी व्यर्थ मुझे ही कहते हैं।"—वह झुंझलाया—"पहले मैंने मर्यादा तोड़ी या भीम ने ?"

"अरे वह तो मूर्ख है।"—इतना कहकर चुपचाप पुचकारता हुआ उसे खेमे में ले गया।

खलबली मच गयी। जन-समुदाय अनियंत्रित हो गया। कहीं से किसी ने शंख बजाया और कहीं से किसी ने तुरही। कुछ लोग अपने मुख से ही विभिन्न प्रकार की आवाजें निकालने लगे।

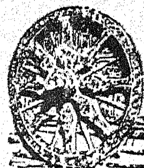
सूरज डूब चुका था। मशालें जलायी गयीं और जल्दी में ही प्रतियोगिता की समाप्ति की घोषणा की गयी।

इसी समय मुझे पता चला कि कुन्ती मंच पर ही बेहोश होकर गिर पड़ी है। सभी को आश्चर्य था कि कोई बहुत बड़ी बात तो थी नहीं, फिर कुन्ती के हृदय पर ऐसा गहरा धक्का कैसे लगा ? कुछ समझ में नहीं आया। लोग उसे होश में लाने का प्रयत्न करने लगे। पाण्डव अधिक व्यग्र दिखायी पड़े।

कुन्ती के बेहोश होने से एक ही लाभ हुआ कि लोगों का ध्यान आकस्मिक संघर्ष से हटकर इस ओर खिंच गया। उस समय फिर किसी प्रकार के द्वंद्व की आशंका न रही।

यह प्रतियोगिता आपसी वैमनस्य का ऐसा विषवृक्ष था जो परिस्थितियों के अनुसार और अधिक पल्लवित होता चला गया।

● ● ●



अतीत चाहे दुःखद ही क्यों न हो, किन्तु उसकी स्मृतियाँ बड़ी मधुर होती हैं। एक दिन ऐसी ही मधुर स्मृतियों की ओर मेरा मन बरबस चला गया।

बात नितान्त साधारण होते हुए कुछ असाधारण-सी लगी।

सन्ध्या के पहले ही मैं अपने आवास पर लौट आया। स्वास्थ्य कुछ गड़बड़ था। ज्वरांश का अनुभव कर रहा था।

कुछ शिथिल-सा ज्योंही अन्तःकक्ष की ओर गया, मैंने देखा प्राङ्गण में दुग्ध की धारा बह चली है और कलश एक ओर ढुलका पड़ा है। स्पष्ट था जैसे किसी ने दूध-भरे पात्र को ठोकर मारकर ढुलका दिया हो।

उसे देखते ही मेरे मुख से निकल पड़ा—"अरे यह क्या ?"

'यह है तुम्हारे लाड़ले की करनी।'—कृपी बोली और मेरी अगवानी में बाहर निकल आयी। मेरे शिथिल तन और तमतमाये हुए चेहरे को देखकर उसकी मुख-मुद्रा अचानक बदली,—"क्या बात है ? स्वास्थ्य तो ठीक है न ?"

"नहीं देवि, ज्वर का कुछ अनुभव कर रहा हूँ।"—इतना कहते हुए मैं शयन-कक्ष में विश्राम के लिए चला गया।

मेरे पीछे कृपी भी दौड़ी हुई आयी, दो-एक परिचारिकाएँ भी थीं। मैं उत्तरीय खूँटी पर लटकाकर पर्यंक पर लेट गया। कृपी ने पहले मेरे सिर पर हाथ रखकर ताप देखा और फिर सिर सहलाने लगी, परिचारिकाएँ पंखा झलने लगीं।

"क्या बात हुई ? इतना दूध कैसे गिर गया ?"—मैंने करवट बदलते हुए पूछा। अभी-अभी गोशाला से आकर आँगन में रखा ही था कि उधर से अश्वत्थ निकला····उसके पैर से लगकर कलश ढुलक गया।

"पैर से लगकर ढुलक गया ? क्या वह अन्धा था ।"—मेरे स्वर में थोड़ी तेजी आयी । कृपी सहमकर चुप हो गयी ।

थोड़ी देर बाद मैंने स्वयं ही एक दासी से पूछा,—"क्योंजी, कैसे गिरा है···· सही-सही बताना ।"

पहले तो वह हिचकिचायी और सहमी-सी धरती देखती रही, किन्तु जब दूसरी बार सावधान किया तब उसने सब सच-सच बता दिया ।

अब मुझे मालूम हुआ कि अश्वत्थामा ने जान-बूझकर कलश को पैर से मारकर गिरा दिया था, तभी तो कलश एक ओर ढुलका पड़ा था और दूध पूरे आँगन में फैल गया था ।

"उसे शायद मालूम नहीं कि एक-एक बूँद दूध के लिए वह बचपन में तरस चुका है ।····और आज उसे पैरों से मारकर ढुलका रहा है ।"—मैंने कहा और फिर विगत दिनों की स्मृतियाँ आँखों के सामने नाचने लगीं ।

मैं तो चुप था, पर कृपी एक तिक्त मुस्कराहट के साथ बोली—"तब वह एक तपस्वी आचार्य का पुत्र था और आज वह एक राजकीय आचार्य का लाड़ला"—कृपी का यह कथन मुझे चुभा जरूर, पर मैं एकदम प्रकृतस्थ था । उसने स्वयं अपनी मुद्रा बदलते हुए कहा,—"आज कल अश्वत्थ की मन:स्थिति कुछ विचित्र-सी लगती है । वह बहुत जल्दी भभक पड़ता है ।····आज भी वह जैसे ही बाहर निकला कि द्वार के निकट उसे दूध दिखायी दिया ।····उसने इसे महान अपशकुन समझा और क्रोध में कलश पर एक लात जमा दी ।

अश्वत्थ का यह क्रोध था या एक विचित्र तरह की खीझ जो दूध से पुराना वैर निकालने के लिए उसे बाध्य कर रही थी ? कुछ और विचार करने पर ऐसा लगा कि इतनी दूर तक सोचना बेकार है । इधर अश्वत्थ का स्वभाव ही कुछ विचित्र हो गया था, वह मुझसे भी खिचा-खिचा-सा रहता था । शस्त्रों के अभ्यास के समय में भी वह बहुत कम ही जिज्ञासा करता था । घर में तो उसका मेरा सामना ही कम होता था । बहुधा वह अपने कक्ष में रहता या उद्यान में अपने मित्रों के साथ कल्लोल करता था ।

मेरे ज्वर के साथ-ही-साथ अश्वत्थ के सम्बन्ध में मेरी चिन्ता भी बढ़ती जा रही थी। एक परिचारिका ने आकर मेरे शिर पर कमलनाल का लेप लगाया।

कृपी बोली—"क्या राज्य-वैद्य को बुलाया जाय ?"

"राज्यवैद्य ? वह मेरे तन का ज्वर तो उतार देगा, पर मेरे मन पर चढ़ा ज्वर क्या वह उतार सकेगा ?"—मेरे कथन का तात्पर्य कृपी समझ न सकी, किन्तु शीघ्र ही मैंने अश्वत्थामा के सम्बन्ध में जिज्ञासाएँ की तब उसे भान हो गया कि आचार्य पुत्र के बदले हुए रुख से अत्यन्त दुःखी हैं।

बातचीत के सिलसिले में कृपी ने ही बताया कि एक दिन अश्वत्थ पूछ रहा था कि आचार्य का मैं असली पुत्र हूँ या नकली ?"

"क्यों यह असली नकली की कौन-सी बात आ पड़ी ?"

"उसका कहना था कि जैसे मैं नकली पुत्र हूँ।"—कृपी ने कहा।

"तब उसकी दृष्टि में मेरा असली पुत्र कौन है ?"

"वह तो अर्जुन को मानता है।····कहता है कि आचार्य चाहते हैं कि अपना सारा ज्ञान उसकी मेधा में उँड़ेल दें।"

"अश्वत्थ मूर्ख है।" मेरी ध्वनि में थोड़ी तीव्रता आयी,—"असली-नकली तो देखता है, पर यह नहीं देखता कि किसके मेधा की सामर्थ्य कितनी है ?··· तुम में जब ग्रहण की शक्ति होगी तभी न कुछ दिया जायेगा।

कृपी मुस्करायी। शायद बात बदलने के लिए ही वह बोली,—"आपका पुत्र होकर भी उसकी मेधा में सामर्थ्य न हो, यह कैसे हो सकता है ?"

"····इसलिए हो सकता है कि हमारा होने के साथ-ही-साथ वह तुम्हारा भी····उसकी बुद्धि पर तो तुम्हारी ही बुद्धि की छाया है।"—मैं मुस्कराया और मेरे साथ ही कृपी भी हँस पड़ी।

उस समय तो मैं गर्म दूध पीकर सो गया, पर मैं समझ गया था कि अश्वत्थ मुझसे नाराज क्यों है। दूसरे दिन कृपी ने भी मुझसे वही बात बतायी,—"···· सुना है आपने अर्जुन को ब्रह्मशिर नामक अस्त्र प्रदान किया है,····उसका प्रयोग और उपसंहार भी उसे बता दिया है।

"हाँ, उसे ब्रह्मशिर अस्त्र और उसके संचालन की सारी विद्या बता दी है।"

कृपी आगे पूछे इसके पहले ही मैं उससे प्रश्न करते हुए बोला,—जानती हो, मैंने यह ज्ञान उसे क्यों दिया है ?"

वह एकदम चुप थी। अनवरत मेरी ओर देखती रही।

"क्योंकि उसने मुझे जीवन दान दिया था।"

'जीवन-दान !'—कृपी जैसे चकित-सी हो गयी। उसने अत्यन्त व्यग्रता से पूछा—"आखिर ऐसी कौन-सी स्थिति आ गयी कि आप को जीवन-दान लेना पड़ा ?"

मैंने अनुभव किया कि मुझे यह बात कृपी से छिपानी नहीं चाहिए थी। शायद इसी संकोच में एक सलज्ज मुस्कराहट मेरे अधरों पर आकर चिपक गयी। मैं बनावटी हँसी हँसते हुए बोला,—"कदाचित् तुझसे मैंने बताया नहीं था, बड़ी विलक्षण बात होगयी थी।...लगभग दो माह पूर्व की घटना है। मासिक परीक्षा लेने के लिए मैं अपने शिष्यों को हस्तिनापुर से करीब तीन योजन उत्तर-पूरब की ओर ले गया था।....कई दिनों तक शिविर पड़ा रहा। उसी आरण्यक वातावरण का हम सुख लेते रहे।....गंगा का मनोरम तट था। हम लोग सुबह-शाम स्नान करते थे।....एक दिन सुहावनी सन्ध्या को,....सूरज करीब-करीब डूब गया था। केवल आकाश में उसकी लाली रह गयी थी। शिष्यगण स्नान करके निकल आये थे, पर मैं अब भी तैर रहा था, एक शिशु-सा माँ की गोद में कल्लोल कर रहा था। इतने में....अचानक ही मेरे पैर को ग्राह ने धर दबाया। मैं चिल्लाया, मृत्यु के प्रकोष्ठ में जाने के पहले छटपटाया, पर हमारे शिष्य दूर से तमाशा देखते रहे, शायद वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये थे।"

कृपी विस्मय से विस्फारित नेत्रों से मुझे देखती रही, मुझे सुनती रही, मैं कहता गया,—"....ग्राह मुझे पूरा-का-पूरा पानी में खींच ले गया था, मैं करीब-करीब डूब गया था। जीवन और मृत्यु के बीच शायद कुछ ही साँसों का फासला था कि अचानक एक तेज बाण उसे लगा और फिर लगातार कई सनसनाते तीर और आये। ग्राह की पकड़ ढीली पड़ी और मैं निकल आया।"—इसके बाद मैंने कृपी को दाहिने पैर का वह निशान दिखाया जहाँ ग्राह का दाँत लगा था।

गौर से देख लेने के बाद वह बोली,—"इसकी चर्चा तो तुमने कभी नहीं की थी।"

"औरतों को हर बात बतायी नहीं जाती।"—मुस्कराहट मेरे अधरों के बीच खेलती रही।

"अच्छाजी; इसका मतलब है कि तुमने बहुत-सी बातें छिपा रखी हैं।"

"हो सकता है।"

"तब मैं तुमसे नहीं बोलूँगी।" इतना कहकर उसने बनावटी ढंग से अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की और झटके के साथ कक्ष से बाहर चली गयी। मैं चुपचाप बिस्तर पर पड़ा रहा, शायद सो भी गया।

बहुत देर बाद वह स्वयं आयी,—"भोजन का समय हो गया है, कुछ लीजिएगा या नहीं।"—बड़ी आत्मीयता से उसने पूछा।

"तुमने तो न बोलने की प्रतिज्ञा की थी।"—मैंने हँसते हुए कहा।

"हाँ, की तो थी, पर क्या करूँ, मन नहीं मानता।"—हम दोनों हँस पड़े।

भोजन की बात तो यों ही थी, उसे पूछना था कि आगे क्या हुआ? मैंने उसे बताया कि यह अर्जुन के ही बाण थे, जो मेरी रक्षा कर सके। मैं पूरी तरह डूब गया था और करीब-करीब नदी की मध्य धारा तक मकर द्वारा खींच लिया गया था।

"डूब जाने के बाद भी उसका बाण लक्ष्य पर ही लगा''''संयोग अच्छा था।"—कृपी बोली।

"यह संयोग नहीं है देवि''''यह अभ्यास है अभ्यास।'''और सत्य कहूँ तो मेरी सिखायी विद्या है।"—मैं पुरानी बात बताते हुए बोलता रहा,—"इस राज-परिवार के परिचय के मूल में भी इसी विद्या ने भूमिका निभायी है।"

मेरी मुख-मुद्रा पर अतीत की स्मृतियों की परतें जमने लगी थीं। कृपी मुझे देखती रही और मैं कहता रहा,—"तुम्हें शायद याद हो, हस्तिनापुर में जब पहले-पहल मैं इन बालकों से मिला था तब मैंने तमाशा दिखाने के लिए

ही युधिष्ठिर की अंगूठी कुएँ में फेंककर मामूली सींक के बाणों से निकाल दी थी।

"हाँ, हाँ, उसी समय न, जब इन बच्चों की गेंद कुएँ में चली गयी थी और वे परेशान थे ?"

"हाँ····तभी से अर्जुन जैसे मेरे पीछे पड़ गया था। वह बराबर मुझसे पूछता रहा कि आचार्य जल में खोये हुए लक्ष्य के भेदन की वह कौन-सी कला है ?····ऐसा जिज्ञासु शिष्य तो मैंने कभी देखा ही नहीं।····आखिर एक दिन मैंने यह कला उसे बता दी।"—इसके बाद मैंने सन्तोष की साँस ली,—"····अच्छा हुआ जो मैंने बता दी, नहीं तो शायद आज मैं धरती पर न होता।"

"तब आपने यह कला अश्वत्थ को क्यों नहीं बतायी ?"—कृपी बोली।

"फिर तू अश्वत्थ····अश्वत्थ कहती है।····आखिर रह गयी तू मूर्ख की मूर्ख। जानती है, विद्या पात्र को दी जाती है, बेटे को नहीं।"

"तब तुमने एकलव्य को क्यों नहीं अपना शिष्य बनाया ?"—कृपी ने बड़े बेमौके मुझे धर दबाया। मैं निरुत्तर हो गया। वह बोलती रही—"क्या उसमें पात्रता नहीं थी ?····क्या वह तुम्हारा शिष्य बनने के योग्य नहीं था ?"

मैं क्या उत्तर देता ? वह कहती गयी—"तुम्हीं ने कहा था न, कि वह बालक बड़ा ही मेधावी और जिज्ञासु था।"

उसके विवेक के चंगुल में मेरा तर्क ऐसा फँस गया था कि मैं कुछ बोल नहीं पाया, पर मैंने मन-ही-मन अनुभव किया कि अर्जुन के मोह एवं स्वर्ण-मुद्राओं की चमक में मेरा आचार्यत्व पथ-भ्रष्ट हो गया था, अन्यथा मैं एकलव्य ऐसे शिष्य को कभी न ठुकराता।

किन्तु कृपी अपनी आदत से लाचार थी, उसकी जबान जब चलने लगती थी तब रुकने का नाम नहीं लेती थी। वह बोलती गयी—"········कहीं पात्रता देखते हो और कहीं वंश-परम्परा।········तुम्हारे सिद्धान्त में कहीं तो संगति होनी चाहिए।····तब यदि अश्वत्थ कहता है कि अर्जुन ही पिताजी का असली पुत्र है तो क्या बुरा कहता है ?"

"तुम्हारी दृष्टि से बुरा तो नहीं कहता''''पर देनेवाले से लेनेवाले की इच्छाशक्ति को कई गुना प्रबल होना चाहिए। इस क्षेत्र में तुम्हारे अश्वत्थ की इच्छा-शक्ति बड़ी दुर्बल है।"

"कभी कहते हो इच्छा-शक्ति नहीं है, कभी कहते हो पात्रता नहीं है, कभी कहते हो योग्यता नहीं है।''''तुम्हारी तरह-तरह की बातें मेरी समझ में नहीं आतीं।"—कृपी ने कहा।

"समझ में आये कैसे ? तुम्हारे मस्तिष्क में तो गोबर भरा है गोबर''''।" मैं जोर से झुंझलाया और बोलता गया—''''"योग्यता, पात्रता और इच्छा-शक्ति एक ही वस्तु के तीन पहलू हैं। जब योग्यता होगी तभी पात्रता होगी और जब पात्रता होगी तभी इच्छाशक्ति भी होगी।"

मेरी आवाज इतनी तेज थी कि वह चुप होने के लिए विवश हो गयी। पर सत्य कहा जाय तो कृपी ठीक कह रही थी, मैंने एकलव्य को अपना शिष्य न बनाकर बहुत बड़ा अपराध किया था।

उस समय तो नहीं, किन्तु बाद में मैंने कृपी को बताया कि मैंने बड़ी चेष्टा की कि मैं अपनी सारी विद्या अश्वत्थ को दे दूँ। पर ऐसा हो नहीं सका।

वह 'क्यों' कहे और मुझसे कुछ पूछे, इसके पहले ही मैंने उसे बता दिया कि एक बार सभी शिष्यों से छिपाकर शस्त्र-विद्या के कुछ गूढ़ मन्त्र अश्वत्थ को बताने की मैंने योजना बनायी थी।'''मैंने उसे कुछ बताया भी था, पर यह बात अर्जुन को किसी तरह पता चल गयी। इसने कुछ कहा तो नहीं, पर सेवा के बहाने छाया की तरह वह मेरे साथ लग गया। उठते, बैठते, सोते, जागते'''' उसकी दृष्टि हर समय मुझ पर ही रहने लगी।''''और तुम्हारा अश्वत्थ, सच मानो मुझसे दूर होता गया।''''देखती नहीं हो, घर में भी वह मेरा सामना करने से कतराता है।

कृपी कुछ सोचती हुई चुप ही रही।

हस्तिनापुर के निकट ही, नगरीय वातावरण से एकदम दूर, गङ्गा के किनारे मैंने एक आश्रम बनवाया था। बहुधा मैं अपने शिष्यों को वहीं रखता था और

स्वयं भी वहीं रहता था। ऐसा केवल इसलिए था कि राजकीय वैभव और चाकचिक्य की छाया में शिक्षा का स्वस्थ बिरवा पनप नहीं सकता था।

जब इच्छा होती थी, हम लोग नगर में भी चले आते थे, पर अधिक-से-अधिक समय आरण्यक वातावरण में ही बिताते थे। इस वातावरण में शिक्षा के साथ-ही-साथ शिष्यों में चारित्रिक विकास का अधिक अवसर था।

इस बार आश्रम का प्रवास लम्बा था।

ब्राह्ममुहूर्त में जगने के बाद सामूहिक प्रार्थना होती थी। फिर छात्र अपने नित्यकर्म से निवृत्त होकर आश्रम के लिए गङ्गाजल ले आते थे।...इस कार्य के लिए सभी जाते थे, पर मैं अश्वत्थ को किसी-न-किसी बहाने रोक लेता था।

पुत्र पिता की सबसे बड़ी कमजोरी होता है, और शायद यही कमजोरी अश्वत्थ को रोक लेने के मूल में थी। बात यह थी कि जब सब चले जाते थे, तब सबसे छिपाकर अश्वत्थ को बाण-विद्या के कुछ गूढ़ रहस्य बताने की कुचेष्टा करता था।

आखिर ऐसा क्यों? मैं सोचता हूँ। आश्रम में मैं पिता नहीं था और न अश्वत्थ मेरा पुत्र। वहाँ तो मैं आचार्य था और सब मेरे शिष्य। फिर अश्वत्थ के ही लिए ऐसी व्यवस्था क्यों? अवश्य ही मेरा आचार्यत्व वहाँ स्खलित हो गया था, पुत्र-प्रेम का उस पर परदा पड़ गया था। मोह ने मुझे अन्धा कर दिया था।...और सच बताऊँ, ऐसी ठोकर लगी कि मैं तिलमिलाकर रह गया।

अभी सबेरा नहीं हुआ था। पूरा आश्रम सो रहा था। मेरी भी आँखें खुली नहीं थीं, खुलने को थीं। जाग्रत और नींद की सन्ध्या में मैं ढुलका पड़ा था। मैंने अनुभव किया कि कोई मेरा पैर दबा रहा है।

"कौन?"—अचानक मेरे मुँह से निकला।

"मैं हूँ आचार्य।"—वह मुस्कराते हुए बोला। पश्चिम के वातायन से झाँकते हुए चतुर्दशी के चन्द्र की मुस्कराहट और अधिक घुल गयी थी। मुझे पहचानते देर न लगी कि यह अर्जुन है।

"बहुत सबेरे आ गये, वत्स।"

"हाँ आचार्य, नींद कुछ जल्दी खुल गयी।"

"स्वास्थ्य तो ठीक है।"

वह केवल मुस्कराया, जैसे वह बोलना नहीं चाहता था। फिर भी उसकी मुस्कराहट बहुत कुछ कह गयी, जिसे मैंने उस समय नहीं, किन्तु बाद में समझा।

मैंने पुनः पूछा,—"प्रार्थना कर ली?"

"जी नहीं।....वह तो सामूहिक होती है।....ॐ सहनाववतु सः नौ भुनक्तु सः वीर्यं करवावहै तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।

'तो क्या तू उठकर सीधे मेरे पास चला आया?"

"जी नहीं, उठकर पहले गंगा से जल ले आया हूँ।"

'क्या?...तू जल लेने चला गया और तुमने प्रार्थना नहीं की।"—मैं आश्चर्य से बोलता गया,—"तुम कहते हो कि प्रार्थना सामूहिक होती है इसलिए तुमने एकाकी नहीं की...पर गंगा से जल लाना भी तो आश्रम का सामूहिक कार्य था। सभी शिष्य साथ ही जल लेने जाते थे, तब तुम एकाकी क्यों चले गये? प्रार्थना तुम एकाकी नहीं कर सकते थे, पर जल ला सकते थे?"

अर्जुन मेरे इस तर्क पर एकदम मौन था। मैंने समझ लिया दाल में कुछ काला अवश्य है।

वह पैर दबाता जा रहा था। कभी मेरे चरणों की ओर और कभी, वातायन के बाहर ठण्ढे पड़ते चन्द्र की ओर उसकी दृष्टि जाती थी। एक बार भी उसने मेरी दृष्टि से दृष्टि नहीं मिलायी। स्पष्टतः वह मुझसे कुछ छिपा रहा था, या तो कुछ कहना चाहता था, वह कह नहीं पा रहा था।

"क्या तुम्हें सभी शिष्यों के साथ जल भरना रुचिकर नहीं लगता?"

"जी नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है।"

"तो क्या तुम सबके साथ जल लेने जाओगे?"

वह चुप था।

"इसका तात्पर्य है कि तुम सबके साथ जल भरने जाना नहीं चाहते।"

वह कुछ क्षणों तक चुप था। फिर बड़े धीरे से बोला—"मैं आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ।"

अचानक मेरे मस्तिष्क में जैसे कुछ कौंध गया। मैं समझ गया कि इसे अश्वत्थ को छिपाकर बाण-विद्या सिखाने का रहस्य मालूम हो गया है।

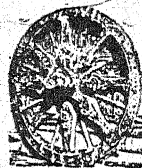
ऐसा लगा, मानो अर्जुन ने खींचकर मेरे आचार्यत्व को एक तमाचा लगाया हो। भीतर-ही-भीतर मैं तिलमिला-सा गया। यह पहला अवसर था जब मेरा ज्ञान नहीं, बल्कि मेरा अहं अपने शिष्य से पराजित हुआ था।

मेरी जिह्वा पर लज्जा और ग्लानि की बर्फ जमने लगी थी। मौन मेरी आकृति पर आकर चिपक गया था। अपराध खुल जाने के बाद एक शीलवान अपराधी की भाति मैं चुप था।

वातायन से चाँदनी अब भी छन-छनकर आ रही थी। अर्जुन बराबर पैर दबाता जा रहा था। उसके अधरों के बीच अब भी नटखट मुस्कराहट रेंग रही थी। सबेरा निकट था।

आश्रम की निस्तब्धता को प्रकम्पित करता हुआ पीपल के झुरमुट से कोई पक्षी प्रभाती गाने लगा।

● ● ●



बहुधा मैं अपने शिष्यों को आखेट के लिए भी ले जाता था। शौर्य-प्रदर्शन के साथ-ही-साथ मनोरंजन का इससे अच्छा और आकर्षक कोई दूसरा साधन नहीं है। कभी-कभी दो-चार दिनों का कार्यक्रम बनाकर हम चलते थे। वस्त्र और अस्त्र के अतिरिक्त और कोई व्यवस्था करने की आवश्यकता नहीं थी। बाकी सारी व्यवस्था मार्ग में स्वयं हो जाती थी।

यह केवल हमीं लोगों की बात नहीं थी। जो भी मृगया के लिए निकलते थे, उन सबकी यही हालत थी। आखेट किया, जंगल में लकड़ियाँ जुटायी और मांस पकाया।

अपने हाथों बनाया बड़ा स्वादिष्ट होता था वह भोजन। और लोग तो इस मांसाहार के साथ मैरेयन (मदिरा) का भी सेवन करते थे। तन की भूख मिटाने के साथ-ही-साथ इन वनों में मन की भूख मिटाने के लिए वन-सुन्दरियाँ भी उपलब्ध हो जाती थीं। आपने सुना होगा कि आखेट के प्रसंग में ही अनेक राजाओं और राजकुमारों ने अपनी रातें वनवासियों की झोपड़ियों में बितायी हैं, पर शिक्षार्थियों के लिए यह सब वर्जित था। सुरा और सुन्दरी स्वयं में एक ऐसी खाई है जिसमें यौवन की दहलीज में विचरते मेरे शिष्यों का विवेक बड़ी सरलता से गिर जाता और शिक्षा चूर-चूर हो जाती।

इसीलिए मैं कभी भी अपने शिष्यों को स्वतन्त्र रूप से आखेट के लिए जाने नहीं देता था। सदैव उनके साथ रहता था। मेरे रहते किसका साहस था कि वह किसी वन-कन्या की ओर आँखें उठाकर देखता।''''और मैरेय वह तो बिल्कुल अस्पृश्य था। इतना होने पर भी दुर्योधन और उसके कुछ भाइयों पर मेरा अनुशासन पूर्ण रूप से नहीं चलता था। वे बहुधा मेरे निर्देशों का उल्लंघन

कर देते थे। मैं भी उन पर बहुत शासन नहीं कर पाता था, क्योंकि वे धृतराष्ट्र के लाड़ले थे और मैं था उन्हीं के नमक पर जीनेवाला मात्र चाकर।

दंतहीन सर्प, बँधा हुआ सिंह और बिका हुआ आचार्य सचमुच बड़ा निरीह प्राणी होता है। अनुशासन तो दूर रहा, कभी-कभी उसे अपनी इच्छाओं तक की हत्या करनी पड़ती है। कौरवों के सम्बन्ध में मेरी यही स्थिति थी, पर पांडव मेरी आज्ञाओं और निर्देशों का समुचित तथा विधिवत् पालन करते थे।

हाँ, तो मेरा पूरा शिष्य-समूह आखेट के लिए निकला था।

युधिष्ठिर को कुत्तों का बड़ा शौक था। वह बड़े प्रेम से उन्हें मांस खिलाया करता था। ढेर सारे आवारे कुत्ते उसके इर्द-गिर्द मँडराया करते थे। यह मुझे अच्छा नहीं लगता था। मैं उसे मना करता, वह मेरी आज्ञा भी मानता, पर अपनी आदत से लाचार था।

आखेट के लिए मेरे साथ चलते हुए उसने अपने सभी कुत्ते भगा दिये थे, फिर भी एक कुत्ता उसके रथ के पीछे दौड़ता चला आ रहा था।

मैंने व्यंग्य करते हुए उससे कहा,—"तुम्हारा असली मित्र तो रथ के पीछे दौड़ता चला आ रहा है।"

उसने सिर घुमाकर उस ओर देखा और मुस्कराकर रह गया।

मध्याह्न हम लोगों ने उस वन्य प्रदेश के मध्य एक जलाशय के किनारे बिताया और निश्चय किया कि सन्ध्या तक किसी बस्ती की ओर पहुँच चलेंगे।

सन्ध्या का रंगीन अंचल फैलते ही हम लोग बस्ती की खोज में निकल पड़े। हम मौज-मस्ती में अपनी स्वाभाविक गति से चले जा रहे थे कि अचानक कुत्ते के अनवरत भूँकने की आवाज सुनायी पड़ी। मैंने तो कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, पर युधिष्ठिर थोड़ा व्यग्र मालूम पड़ा। उसने अनुभव किया कि मेरा कुत्ता आगे निकल गया है। उसने अपने सभी साथियों को रोका।—"लगता है कोई हिंसक जीव निकट है।"—उसने कहा।

"मालूम होता है, तुम कुत्ते की बोली के अच्छे जानकार हो।"—मैंने पुनः व्यंग्य किया।

"नहीं आचार्य, मैं उसकी बोली का जानकार तो नहीं हूँ, पर उसकी प्रकृति पहचानता हूँ।"—उसने अत्यन्त विनीत हो कहा। उसने यह भी बताया कि यह उसी कुत्ते की आवाज है जो हम लोगों के साथ आया था। अवश्य ही वह आगे निकल गया है और किसी हिंस्र पशु को देखकर हमें सचेत करने के निमित्त भूँक रहा हैं।

शिष्यों ने अपने अस्त्र संभाले। मैं भी सजग हुआ, किन्तु अचानक कुत्ते का भूँकना एकदम बन्द हो गया।

"लगता है जानवर ने कुत्ते को मार डाला।"—अर्जुन बोला और जिधर से कुत्ते के भूंकने की आवाज आयी थी उधर ही लक्ष्य करके शब्दवेधी बाण मारने के लिए उसने प्रत्यञ्चा संभाली।

"इतनी जल्दी क्या पड़ी है। शब्दवेधी बाण मारने के पहले बहुत कुछ सोचना चाहिए। कभी-कभी बड़ा धोखा हो जाता है।"—मैंने उसे रोका, मेरे मस्तिष्क में श्रवणकुमार के मृत्यु की कथा अचानक कौंध गयी।

रथ को वहीं छोड़कर हम लोग पैदल ही धीरे-धीरे उधर की ओर बढ़े जिधर से कुत्ते के भूंकने की आवाज आयी थी। कुछ ही डग आगे बढ़े होंगे कि वह कुत्ता आता दिखायी दिया। उसका मुँह खुला था, उसमें अनेक बाण भरे थे, पर कहीं से रक्त नहीं चू रहा था।

"अद्‌भुत''''विलक्षण''''आश्चर्यजनक''''।"—मेरे मुख से अचानक निकल पड़ा। मैंने अपने सभी शिष्यों को सम्बोधित करते हुए कहा,—"आप सभी निकट आकर देखिए किस चतुराई से बाण मारा गया है।"

सभी ने उसे बड़े ध्यान से देखा। मैंने पुनः पूछा—"कुछ बात समझ में आयी ?"''''और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये स्वयं बोलने लगा,—"देखिए सात बाण उसके मुंह में हैं और सातों एक साथ तथा एक ही प्रत्यञ्चा से मारे गये हैं। यदि बारी-बारी से मारे जाते तो प्रत्येक बाण कुत्ते के मुंह में आकर विंध जाता। कुत्ता भूँकता भी रहता और उसकी मौत भी हो जाती।"

एक ही टंकार से तो कई बाण मैं भी मार सकता हूँ।—"दुर्योधन का अभिमान अपनी ऊँचाई से बोला।

मुझे हँसी आ गयी ।—तुम बाण तो चला सकते हो, पर लक्ष्यवेध सकते हो या नहीं ?—यह सोचना पड़ेगा ।....और इस प्रकार का लक्ष्य वेधना तो तुम्हारे लिए असम्भव है । देखते नहीं हो, सभी बाण एकदम कुत्ते के मुँह में समान रूप से घुस गये हैं, किन्तु बाण का नोक तालू में घुसा नहीं होगा, कुत्ता बिल्कुल स्वस्थ है । बाण निकाल लेने के बाद वह पहले जैसा भूँकने भी लगेगा ।

सब ने पुनः बड़े गौर से कुत्ते की ओर देखा । अर्जुन आकर उसका मुँह और उभाड़कर देखने लगा । मैंने उसे रोकते हुए कहा,—"इसका मुख अब और अधिक खुल नहीं सकता । यदि और खुलने की गुंजाइश होती तो मारनेवाले ने एक बाण और मारा होता ।"—इतना कहकर मैं हँसने लगा—"अब कोई बात आपकी समझ में आ रही है ?"

तब मैंने उन्हें इस लक्ष्य-वेध का रहस्य विधिवत् समझाया,—"इस लक्ष्य-वेधन की तीन विशेषताएँ हैं । पहली विशेषता तो मैं बता ही चुका हूँ कि धनुष की एक ही टंकार से सातों बाण चलाये गये हैं पर यह कोई बहुत बड़ी विशेषता नही हैं । इसे आप सब कर सकते हैं ।....किन्तु इसकी दूसरी विशेषता अद्भुत है ।...हर बाण के पीछे प्रत्यञ्चा की इतनी ही शक्ति लगायी गयी है कि प्रत्येक बाण कुत्ते के मुख में तो चला जाय पर जरा भी आगे न बढ़े । ऐसा करना साधारण काम नहीं है । बहुत बड़े अभ्यास का परिणाम है ।....और तीसरी विशेषता भी विलक्षण है । जिस समय कुत्ते का सबसे अधिक मुँह खुला होगा, उसी समय बाण मारा गया है । इस समय की परिधि अधिक-से-अधिक एक पल की दशांश रही होगी ।....और चौथी विशेषता यह है कि कुत्ते के मुख में अधिक-से-अधिक जितना बाण जा सकता था, बाण मारनेवाले ने उतना ही बाण मारा है । यह अनुमान लगाना भी सामान्य बात नहीं है ।"

अब मेरे शिष्यों की आँखें खुलीं । अब उन्हें अनुभव हुआ कि सचमुच यह असाधारण कर्म है । किसी बड़े कौशल का परिणाम है । वे एकदम चकित थे जैसे कूप-मंडूक समुद्र देख रहा हो ।

फिर मैंने कुत्ते को स्वयं उठाया और एक मिट्टी के ढूहे पर खड़ा किया, जिससे इस कौशल को मेरे शिष्य अच्छी तरह देख और समझ सकें ।

मैंने कुत्ते की गर्दन ऊपर उठाकर धीरे से एक बाण निकाला। तुरन्त ही कुत्ते ने सारे बाण उगल दिये और भूंकने लगा। अर्जुन ने सभी बाण उठा लिये।

"क्या करोगे इन्हें बटोर कर ?"—मैंने पूछा।

"मैं इन्हें स्मृति-स्वरूप अपने पास रखूँगा।...अभी तक मैंने ऐसी बाण-विद्या देखी नहीं है।"

"....इसमें विद्या नहीं है।...केवल अभ्यास है, कौशल है....यदि तुम भी अभ्यास करो तो ऐसा कर सकते हो।"—इतना कहकर मैंने कुत्ते को उधर चलने का संकेत किया जिधर से वह आया था, और उसके पीछे-पीछे हम सब चल पड़े।

सचमुच मैं चकित था। ऐसा अभ्यासी जीव भी इस धरती पर होगा मैंने कभी कल्पना नहीं की थी। मेरे अहं को बहुत बड़ा धक्का लगा। अब तक मैं समझता था कि यदि कोई बाण-विद्या का आचार्य है तो मैं हूँ, यदि कोई इस विद्या का अभ्यासी है तो मेरा शिष्य अर्जुन है पर अब लगा कि हम हवा में हैं। हमारी हस्ती कहीं कुछ नहीं है।

चूर-चूर होकर धूल बन गये अपने अहं के पहाड़ को लेकर मैं बढ़ा चला जा रहा था। शिष्य मेरे पीछे थे। कुछ दूर आगे बढ़ने के बाद बाण की सन-सनाती ध्वनि लगातार सुनायी पड़ने लगी।

मैंने देखा एक काला, अत्यन्त काला युवक जिसके बाल खड़े-खड़े हैं, लगातार बाण चला रहा है। कुत्ता उसे देखकर और जोर से भूंकने लगा। मुझे समझते देर न लगी कि कुत्ता इसे ही देखकर भूंक रहा था।

मैं पीछे से चुपचाप उसके निकट तक पहुँच गया, किन्तु वह अपने कार्य में इतना तल्लीन था कि मेरी उपस्थिति का उसे बिल्कुल भान नहीं हुआ।

केवल उसका ध्यान आकृष्ट करने के लिए मैंने बड़े ही बनावटी ढंग से खाँसा। उसने मेरी ओर दृष्टि घुमायी और दौड़कर मेरे पैर पर गिर पड़ा।" कौन हो तुम ?"—मैंने पूछा।

"आप मुझे पहचान नहीं रहे हैं क्या ?"—इतना कहकर उसने अपनी आँखें मेरी आँखों में डाल दी,—"…मैं आपका शिष्य…।"—बस इतना ही बोला और मुस्कराने लगा।"

"तुम मेरे शिष्य ?"—मैं सोचने लगा, किन्तु मेरा मन अभी बुद्धि पर अधिक दबाव नहीं दे पाया था कि वह सहज ही बोल पड़ा,—"यह तो एकलव्य है।"

"मैंने तो तुम्हें अपना शिष्य नहीं बनाया था।"—मैं बड़े विश्वास से बोल पड़ा।

"किन्तु मैंने तो आपको अपना गुरु मान लिया था।"

"मानने से क्या होता है ? तुम जो मान लोगे मैं क्या वही हो जाऊँगा ?"—मेरे स्वर में खीज-भरा तिरस्कार था। वह चुप हो गया और पुनः मेरे चरणों की ओर देखने लगा। उसकी मुख-मुद्रा से स्पष्ट था कि मुझसे उसे ऐसे व्यवहार की आशा नहीं थी।

मेरा सद्-विवेक एक क्षण के लिए पुनः जागा। उसने मुझसे कहा—"अपने शिष्यों की आस्थाओं का धरातल यदि इतनी निर्ममता से तोड़ोगे तो तुम्हारा आचार्यत्व आखिर कहाँ खड़ा रहेगा ?"

मैं सोचता रहा। अत्यन्त मन्द गति से दो एक डग आगे बढ़ा। कुत्ता उसे देखकर अब भी भूंकता रहा। मैंने या मेरी नीचता ने उससे पुनः पूछा,—"तुम कहते तो हो कि तुमने मुझे अपना गुरु बनाया है, पर इसका प्रमाण क्या है ?"

इस बार वह बोला नहीं, केवल दाहिने हाथ की तर्जनी से वटवृक्ष की ओर उसने संकेत किया। मैंने देखा, वहाँ एक प्रतिमा है, और वह निश्चित ही मेरी है। मैं बड़ी क्षिप्रता से उस ओर बढ़ा।

निर्विवाद रूप से मूर्ति बड़ी सुन्दर थी। मेरे गदगद् कंठ से सहज ही निकल पड़ा, "किससे बनवायी इतनी सुन्दर प्रतिमा ?"

"किसी से नहीं।"

"तो क्या तुमने बनायी है ?"

उसने स्वीकार करते हुए सिर हिलाया।

अब मुझे उस बालक की प्रतिमा से ईर्ष्या होने लगी थी। मैंने एक बार अर्जुन की ओर देखा फिर उसकी ओर देखकर मुस्कराते हुए बोला""अच्छा होता तुम बाण-विद्या में अभ्यास न करके मूर्तिकला में अभ्यास करते।"

"तब तो मुझे किसी किसी कुम्भकार या मूर्तिकार को अपना गुरु बनाना पड़ता।""पर मेरे मन ने तो आप को अपना गुरु मान लिया था।"

मैंने अनुभव किया, उसने एक मीठी चपत मुझे जमा दी, किन्तु मैं एक निर्लज्ज अपराधी की भाँति अपने में ऐंठा खड़ा था।

विभिन्न दृश्य का। मेरे सभी शिष्य मुझे घेरे खड़े थे, एकटक उसे देख रहे थे, जैसे वह स्वयं में एक चमत्कार हो। वह कभी मुझे देखता था, कभी मेरे शिष्यों को और कभी उसकी आँखें धरती में गड़ जाती थीं। विनय, शिष्टता एवं आस्था में वह मेरे सबसे प्रिय शिष्य अर्जुन से बहुत आगे था।

क्या वह बाण-विद्या में भी अर्जुन से आगे है? अब मुझे केवल इसका पता लगाना था। मैंने बड़े ही सहज भाव से कहा—"यदि मैं तुम्हारा गुरु हूँ तो तुम्हारी परीक्षा भी ले सकता हूँ।"

"अवश्य..."—उसकी बाँछें खिल गयीं और दौड़कर वटवृक्ष के नीचे से उसने अपना धनुष उठा लिया। परीक्षा देने के लिए एकदम तैयार हो गया।

पहले मैंने अपने शिष्यों से परीक्षा लेने के लिए संकेत किया। इस कार्य में सबसे पहले दुर्योधन सामने आया, फिर दुःशासन और बाद में जलसन्ध आदि कौरव। जब कौरव पूर्णतया पराजित हो गये तब अर्जुन ने धनुर्विद्या के कठिन-से-कठिन प्रश्न पूछे और अभ्यास दिखाने को कहा। उसने सारे 'करतब' सफलतापूर्वक दिखाये।

तब अर्जुन ने बड़ी दयनीय दृष्टि से मेरी ओर देखा, जैसे वह कह रहा हो कि मैं पराजित हो गया। उसकी आकृति पर एकलव्य की धनुर्विद्या का आतंक एकदम उभर आया।

अब मैंने परीक्षा आरम्भ की। अञ्जालिक, अन्तर्भेदी, अर्धचन्द्र, कणय, नाराच, क्षुरप्र आदि बाणों के सम्बन्ध में प्रश्न किये। पर्जन्य (वर्षा करनेवाला

बाण) और वायव्य (आंधी उत्पन्न करनेवाले बाण) के प्रयोग के सम्बन्ध में पूछा। उसने सब कुछ ठीक-ठीक बताया।

तब मैंने कहा,—"अब मैं तुम्हारी अन्तिम परीक्षा लेता हूँ। यदि तुम उसमें उत्तीर्ण हुए तब मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।"

इतना कहकर मैंने उससे बरगद की सात दृढ़ शाखाओं को तोड़ने का निर्देश दिया। वह मर्कट-शिशु की तरह लपककर पेड़ पर चढ़ गया और पल-भर में ही सात शाखाएँ तोड़कर ले आया।

तब मैंने सातों शाखाओं को वर्तुलाकार, करीब-करीब अर्द्धवृत्त बनाते हुए पृथ्वी में गाड़ा और उससे एक ही बाण में गिरा देने को कहा।

वह मुस्कराया। उसने कहा—"सुग्रीव ने भी बाली को मारने के पहले राम से ऐसी ही परीक्षा ली थी।"

"परीक्षा ली थी।" मैं साश्चर्य बोल पड़ा।

"जी नहीं। क्षमा कीजिए। राम से ऐसा करने का उसने आग्रह किया था।"

"यह बात तुम्हें कैसे मालूम है?"

"एक ब्राह्मणकुमार से मैंने रामायण की पूरी कथा सुनी है।"

मैंने अनुभव किया कि इसके संस्कार भी उच्चकोटि के हैं।

वह अत्यन्त प्रसन्न दिखायी दे रहा था जैसे उसके लिए यह कोई बड़ी बात न थी। इसी मुदिता अवस्था में उसने मेरे पैर छूए और पूछा—"कहाँ से लक्ष्य-भेदन करूँ आचार्य?"

मैंने निर्देश किया कि मेरे पास ही से।

मेरे निकट ही खड़े-खड़े उसने विचित्र ढंग से हाथ घुमाते हुए एक सन-सनाता तीर मारा। सातों शाखाएँ निकलकर हवा में उलझ पड़ीं। मेरे मुख से सहज भाव में 'वाह' निकल पड़ा। दुर्योधन ने बड़ी तेजी से तालियाँ बजायीं और अर्जुन की ओर एक वक्र दृष्टि से देखने लगा मानो उससे कह रहा हो, क्योंजी तुम अपने को बड़ा भारी धनुर्धर समझते थे न।

पर अर्जुन एकदम चुप था। वह काष्ठवत् खड़ा रहा। उसके विस्फारित नेत्र एकलव्य के 'करतब' का लोहा मान रहे थे।

"अब आचार्यजी इसे दीक्षित कीजिए।"—यह आवाज दुर्योधन की थी। उसकी यह प्रबल इच्छा थी कि किसी-न-किसी रूप में अर्जुन को नीचा दिखाया जाय। किसी वर्ण और किसी जाति का कोई क्यों न हो यदि वह शस्त्र-विद्या में अर्जुन से बढ़ जाय तो दुर्योधन के द्वेष को परम संतुष्टि मिलती। इसी भावना से वह एकलव्य को दीक्षित करने के लिए जोर दे रहा था और निश्चित रूप से इसी भावना के कारण ही उसने कर्ण को अपना बना लिया था।

किन्तु मैं दुर्योधन के बिलकुल विपरीत सोचता था। मैं कभी नहीं चाहता था कि अर्जुन किसी से कम रहे। उसके प्रति मेरा सहज मोह था। ऐसा क्यों? मैं कह नहीं सकता। अवश्य ही इसके मूल में पूर्वजन्म का कोई संस्कार काम कर रहा था। अर्जुन की पराजय मैं अपनी पराजय समझता था।

साथ ही, मैं यह भी सोचता था कि कौरव और पांडवों की महत्वाकांक्षाओं का टकराव किसी-न-किसी दिन भयंकर युद्धाग्नि पैदा करेगा। मैं उसके लिए भी अर्जुन को तैयार करने की चेष्टा कर रहा था।

तब भला मेरी ईर्ष्या एकलव्य के पराक्रम को विकसित कैसे देख सकती थी। वह कैसे देख सकती थी कि दुर्योधन उसे अपनी ओर मिला ले और अर्जुन को परास्त करे। मैं कुछ समय तक सोचता रहा। सब चुप थे, पर दुर्योधन ने दूसरी बार कहा,—"आचार्य अब इसे दीक्षित कीजिए।"

"हाँ, मैं इसे दीक्षित करने जा रहा हूँ, पर दीक्षित होने के पहले इसे मुझे गुरु-दक्षिणा देनी पड़ेगी।"

"मैं तैयार हूँ, आचार्यवर।"—एकलव्य बड़ी व्यग्रता से बोला।

"पर अच्छी तरह सोच लो। मेरी गुरुदक्षिणा साधारण नहीं होती।"

"....मैं भी आपका साधारण शिष्य नहीं हूँ।"—इतना कहकर एकलव्य जोर से हँसा। यह पहला अवसर था जब उसकी हँसी उसके अहं से बोझिल मुझे दिखायी दी।

मेरा मन गुरुदक्षिणा माँगने के पहले एक बार फिर काँपा जैसे मैं कोई पाप करने जा रहा हूँ, फिर भी मैं बड़े साहस से बोला,—"अच्छी तरह सोच ले, मैं गुरुदक्षिणा माँगने जा रहा हूँ।

"इसमें सोचना ही क्या है? आप माँगिए। मैं देने को तैयार हूँ।"

तब मैंने माँगा। ऐसा माँगा जैसा मैंने जीवन में कभी नहीं माँगा था। कितनी नीचता से माँगा, यह कहने की बात नहीं है। वास्तव में मैंने नहीं माँगा, मेरी उस वासना ने माँगा जिसने अर्जुन को अपना बना लिया।

मैंने माँगा कि तुम अपने दाहिने हाथ का अँगूठा काटकर मुझे गुरुदक्षिणा में दे दो। इतना कहना था कि मेरे सारे शिष्य स्तब्ध रह गये। अर्जुन मेरा मुख देखने लगा। दुर्योधन मेरी नीचता पर किटकिटाकर रह गया, पर एकलव्य जरा भी विचलित नहीं हुआ। वह बिल्कुल प्रसन्न था। गौरैये कि तरह फुदकता हुआ मेरे पास आया और बिना मेरी अनुमति के मेरी कमर में लटकती असि बड़े ही सामान्य भाव से निकाल ली। पलक झपकते ही अत्यन्त निर्मम ढंग से उसने अपना अँगूठा काट दिया। कितना निर्मोह था उस अँगूठे के प्रति जैसे वह उसका नहीं किसी दूसरे का हो।

रक्त से सना अँगूठा समर्पण के लिए अंजलि में रखकर जब वह मेरे सामने खड़ा हो गया तब मेरे पैर के नीचे की धरती खिसक गयी। सचमुच मेरे लिए यह अप्रत्याशित था। मैंने कभी नहीं सोचा था कि कोई शिष्य ऐसा भी कर सकता है, अँगूठे के माध्यम से अपनी सारी बाण-विद्या मुझे समर्पित कर सकता है। मुझे आकाश काँपता नजर आया, मुझे धरती हिलती नजर आयी। एक शिष्य के महासमर्पण पर या आचार्य की नीचता पर?

मुझे चक्कर आ गया। अर्जुन ने सहारा देकर मुझे निकट के अश्वत्थ (पीपल) की जड़ की ऊँची भूमि पर बैठाया। सबने समझ लिया कि मेरे मन पर इसकी गम्भीर प्रतिक्रिया हुई है।

अँजलि में कटा हुआ अँगूठा लिये एकलव्य अब भी मुस्करा रहा था। अनीति के धरातल पर ढुलकता हुआ मेरा आचार्यत्व अपने कम्पित स्वर में बोल पड़ा,—"वत्स, तेरी साधना सफल हो।"

द्रो०—७

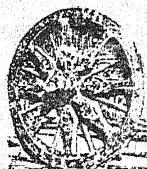
"क्या सफल होगी साधना ? अब तो आपने अँगूठा कटवा लिया। बेचारा प्रत्यञ्चा भी खींच नहीं सकेगा।"—बड़ी तीखी चोट थी दुर्योधन की इस ध्वनि में।

मैं कुछ बोल न सका। मैंने बड़ी ग्लानि से उसका समर्पण ग्रहण किया। अपना उत्तरीय फाड़कर मैंने स्वयं उसके कटे अँगूठे पर पट्टी बाँधी और बड़ी निर्लज्जता से बताया कि तर्जनी और मध्यमा के सहारे संधान कैसे किया जाता है।

वह अब भी मुस्कराता ही रहा मानो उसे यह युक्ति पहले से ही आती हो। ...और जब हम सब वहाँ से लौटने को हुए उसने बड़ी श्रद्धा से मेरे चरण छुए। शिष्यों को एक सलज्ज नमस्कार किया और अर्जुन की ओर देखकर अन्तिम बार मुस्कराया।

युधिष्ठिर का कुत्ता रह-रहकर अब भी भूँक रहा था, एकलव्य के तन की कालिमा पर या मेरे मन की कालिमा पर, कह नहीं सकता।

• • •



आप विश्वास नहीं करेंगे; मुझे तीन दिनों तक नींद नहीं आयी। मेरी आँखों के सामने एकलव्य की व्यंग्य-भरी मुस्कराहट ही नाचती रही। एक बात और हुई। मैंने उसका कटा हुआ अँगूठा तेल में डालकर एक पारदर्शक पात्र में रख छोड़ा था। यह पात्र मेरे शयन-कक्ष में ही था। जब मैं शय्या पर पड़ता था, तब मेरी दृष्टि बरबस उस पात्र पर चली जाती थी और ऐसा लगता था जैसे वह अँगूठा हम पर खिलखिला रहा है। यह खिलखिलाहट विचित्र थी, अद्भुत थी, जो केवल मुझे सुनायी पड़ती थी, जिससे अँधेरा मुझे काँपता दिखायी देता था और नींद मुझ तक आते हुए डरती थी।

इतना होने पर भी मुझे एकान्त बड़ा अच्छा लगता था। मैं अपने कक्ष में किसी और को आने नहीं देता था, न कृपी, न अश्वत्थ, न सेवक और न सेविकाएँ।

कृपी को मेरी मनःस्थिति का आभास हो गया था, पर लगता है, उसे मुझसे कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ। तीसरे दिन जब मुझसे रहा नहीं गया तब मैंने उस पात्र को शयन-कक्ष से हटा देने का निश्चय किया। सबेरा होने के कुछ पहले ही मैंने कम्पित करों से वह पात्र उठाया और चुपचाप बाहरी उद्यान की ओर दबे पाँव बढ़ा, जिससे कोई मुझे देख न ले। मनुष्य का अपराधी मन स्वयं से भी कितना भयभीत होता है, इसका अनुमान मुझे उसी समय हुआ।

उद्यान के वटवृक्ष की जड़ के निकट उसे ले जाकर रख दिया और ब्राह्म-मुहूर्त के मन्द गन्धवाह को अपनी सुरभि बिखरते कुछ पुष्पों को तोड़ लाया। उन्हीं से उस पात्र को अच्छी तरह ढककर वापस लौटा। अब तक मैं समझ रहा था कि कोई मुझे देख नहीं रहा है, पर मैंने अनुभव किया कि दूर पर कृपी खड़ी है। वह बड़े कुतूहल से मुझे निहार रही है।

लौटते हुए वह बड़ी सहमी-सहमी-सी मेरे पास आयी और बड़े धीरे से पूछा,—"वह क्या है ?"

"मेरा पाप।"—मैं झटकते हुए बोला और अपने शयन-कक्ष में सीधा चला आया। कृपी वहीं खड़ी-की-खड़ी रह गयी।

कक्ष में आकर मैंने जी भरकर मैरेय (एक प्रकार की मदिरा) पी और सो गया। कहते हैं मैं चौबीस घण्टे तक सोता रहा, किसी ने मुझे जगाया नहीं।

दूसरे दिन जब मैं उठा, कुछ हल्का-हल्का-सा अनुभव कर रहा था। नित्य-कर्म एवं सन्ध्या-पूजन से निवृत्त होकर जब जलपान के लिए बैठा तब कृपी ने कहा कि पितामह (भीष्म) ने आपके स्वास्थ्य का समाचार पुछवाया था। मुझे यह भी बताया गया कि कई बार अर्जुन मुझसे मिलने आया था, पर उसे मिलने नहीं दिया गया।

इसके अतिरिक्त मेरी पत्नी ने न कुछ कहा और न कुछ पूछा। लगता है उसने अश्वत्थ से सब कुछ जान लिया था।

मैंने ही उससे कहा—"उस पात्र को वट की जड़ में गाड़ दो और वहाँ एक छोटा-सा चबूतरा बनवा दो।"

सन्ध्या के पहले ही मेरी इच्छा पूरी कर दी गयी। दिन ढलते-ढलते जब मैं पितामह से मिलकर लौटा तब मेरी दृष्टि उस पर पड़ी। मुझे ऐसा लगा कि वटवृक्ष के नीचे अब भी एकलव्य बैठा बाण-विद्या का अभ्यास कर रहा है।

मेरा मन पश्चात्ताप के धुएँ से ढँक गया था। मैं बड़ी ऊब का अनुभव कर रहा था। किसी काम में मेरा जी नहीं लगता था। पर काम तो करने ही पड़ते थे। शिष्यों के बीच में भी जाता था, पर यह एकलव्य का अंगूठा था जो मेरा पीछा नहीं छोड़ता था। वह प्रतिक्षण मेरी आँखों के सामने नाचता रहता था। उसकी खिलखिलाहट कानों में गूँजती रहती। मैं बड़ा व्यग्र-सा हो गया था और लोगों से कटा-कटा-सा रहने लगा।

एक दिन मैं शिष्यों के बीच बैठा था। मुझे ठीक याद तो नहीं है, शायद विकर्ण ने ही कहा था—"आचार्यजी, इधर आपने शायद विद्या का कोई नया 'करतब' नहीं सिखाया।"

"जो कुछ सिखाना था सब सिखा चुका हूँ।"—मैंने कहा।

"तो अब कुछ भी सिखाना शेष नहीं है ?"

मैंने बिना कुछ बोले नकारात्मक ढंग से सिर हिला दिया।

"तब अब हम लोग क्या करें ?"

"जो अब तक सीखा है उसका अभ्यास कीजिए।"

दुर्योधन मुस्कराया। वह बड़े नाटकीय ढंग से बोला—"अच्छा तो यह हमारा अभ्यास-पर्व आरम्भ हुआ।"

मुझे उसकी मुस्कराहट बड़ी गहराई तक चुभ गयी। मैं कुछ झुंझलाया—अभ्यास-पर्व नहीं गुरुदक्षिणा-पर्व।"

मेरी ध्वनि में इतना तीखापन था कि अर्जुन मेरा मुँह देखता रह गया। अधिकांश शिष्य स्तब्ध थे, पर दुःशासन अपनी दुष्टता से बाज नहीं आया और बड़े विचित्र ढंग से मुँह बनाते हुए बोला—"लगता है गुरुदेव हम लोगों का भी अंगूठा कटवा लेंगे।"

"आखिर इतना अंगूठा कटवाकर करेंगे क्या ?" यह आवाज कर्ण की थी।

"·······अचार डालेंगे।" दुर्योधन बोला और हँसने लगा। विष में घुली और द्वेष से धुली उसकी हँसी नागफनी की भाँति चुभ गयी। पर मैं चुप था।

मैंने अनुभव किया कि अर्जुन को यह अच्छा नहीं लगा। युधिष्ठिर ने दुर्योधन पर एक गम्भीर दृष्टि भी डाली। ऐसा लगा जैसे उसकी दृष्टि कह रही हो कि तुम अपनी सीमा से दूर जा रहे हो, पर दुर्योधन हँसता ही रहा।

कितना विचित्र था, ऐसे दुर्व्यवहार पर भी मेरा आचार्यत्व शान्त था, क्योंकि वह बिका हुआ था, वह स्वर्ण-खण्डों की कारा में बन्दी था। मैं चुपचाप वहाँ से उठकर चला आया।

दूसरे दिन नहीं गया, केवल अपने आवास से लिखकर भेज दिया कि आप लोग तैयार रहिए कल सबको गुरुदक्षिणा देनी पड़ेगी।

अगले दिन जब मैं शिष्यों के बीच पहुँचा तब सब अत्यन्त गम्भीर थे। अनुमानों की तलैया में डूबते-उतराते रहे, पता नहीं आचार्य गुरुदक्षिणा में क्या माँगेंगे।

दुर्योधन ने इस बार भी अपनी नीचता से भरी चालाकी दिखायी—"आचार्य का जो सबसे प्रिय शिष्य होगा, वह सबसे पहले दक्षिणा देगा।"—उसका संकेत अर्जुन की ओर था।

अर्जुन ने इसे समझ भी लिया। वह उत्साह से सामने आया—"मैं सहर्ष गुरुदक्षिणा के लिए तैयार हूँ।"

"पर मैं सबसे एक साथ गुरुदक्षिणा लूँगा। मैंने मुस्कराते हुए कहा—"जो मुझे मेरी माँगी हुई गुरुदक्षिणा दे देगा मैं उसे ही अपना प्रिय शिष्य समझ लूँगा।"

शिष्यों के मन में जिज्ञासा फिर अपने शिखर पर चढ़ गयी।

मैंने अत्यन्त गम्भीर स्वर में कहा—"आप लोगों में वही मेरा प्रिय शिष्य होगा, जो द्रुपद को बन्दी बनाकर मेरे सामने ले आयेगा। यही आपके लिए गुरुदक्षिणा है।"—पुराना प्रतिशोध मेरे कण्ठ से उछल पड़ा।

द्रुपद को बन्दी ! द्रुपद को बन्दी !! द्रुपद को बन्दी !!! विचित्र भुनभुनाहट मेरे शिष्यों में रेंग गयी। वे समझ नहीं पाये, आखिर बात क्या है ?

"इसे तो हम चुटकी बजाते कर दिखायेंगे।"—कर्ण ने कहा और फिर दुर्योधन की ओर मुस्कराते हुए बड़े अभिमान से देखा।

"अरे उस खूसट को बन्दी बनाने में क्या धरा है ? गुरुदक्षिणा में माँगनी ही थी तो आचार्य को कोई बड़ी चीज माँगनी चाहिए थी।"—एक दम्भ से बोझिल हँसी हँसकर दुर्योधन कर्ण को साथ लेकर चला गया।

मैंने सुना कि दूसरे ही दिन सेना लेकर कौरवों ने पांचाल पर चढ़ाई कर दी। वीरता से लड़े, फिर भी द्रुपद हाथ नहीं आया और कौरवों को हार का मुँह देखना पड़ा।

यह सूचना हमें भीम ने ही दी थी। मन तो प्रसन्न हुआ कि कौरवों का दम्भ चूर्ण हो गया, पर मेरे प्रतिशोध की भावना को शान्ति न मिली। मैंने भीम से पूछा—क्या अर्जुन उनके साथ नहीं गया था ?"

"उसे तो हम लोगों ने रोक दिया था।""सोचा कि जरा देखा जाये कि उनकी बाँहुओं में कितना बल है।" इतना कहते ही अभिमान उसके अधरों को बीच मुस्कराने लगा।

पर मैं शान्त था, कुछ बोला नहीं। सोचने लगा कि दुर्योधन को तो पराजित होना ही था, किन्तु कर्ण ऐसा पराक्रमी भी पराजित हो गया। उसका मुझे बड़ा भरोसा था। अब तक द्रुपद की शक्ति के सम्बन्ध में जो मेरी धारणा थी वह काँपने लगी। सोचने लगा कि जब कर्ण की ऐसी हालत हुई""तब पांडव ही क्या कर लेंगे?" मेरी चिन्तन मुद्रा पर निराशा के बादल छाने लगे।

भीम को मेरा मन पढ़ने में जरा भी देर नहीं लगी। वह दृढ़ निश्चय से बोला—"आप विश्वास करें आचार्य। हम लोग शीघ्र ही आपका निर्देश पालन करेंगे और गुरुदक्षिणा के रूप में द्रुपद को जीवित या मृतक आपकी सेवा में उपस्थित करेंगे।"

"मृतक नहीं, वरन् जीवित।" मैंने सावधान करते हुए—"गुरुदक्षिणा में शव प्राप्त करना वर्जित है।"

भीम के ओठ हिले, जैसे वह कुछ कहना चाहता था, पर चुप ही रह गया। मेरे मन की कालिमा ने ही मुझसे कहा—भीम पूछना चाहता है कि एकलव्य का जो कटा अंगूठा आपने गुरुदक्षिणा में प्राप्त किया था, वह अंगूठा मृतक था या जीवित?

किन्तु तब तक भीम बहुत दूर चला जा चुका था।

प्रतिहिंसा अपनी चरम उपलब्धि पर कितनी सुखदायी होती है इसका आभास मुझे उस समय हुआ जब मैंने प्रथम बार अपने समक्ष द्रुपद को बन्दी के रूप में देखा। उसका हाथ-पैर बँधा था। रथ से उतारकर अर्जुन ने उसे मेरे सामने खड़ा किया और—आचार्य यह है आपकी गुरुदक्षिणा—इतना कहता

हुआ वह मुस्कराता मेरे चरणों पर गिर पड़ा। मैने उसे उठाकर छाती से लगा लिया।

बन्दी होने पर भी द्रुपद की दृष्टि में न तो पराजय की भावना थी और न लज्जा ही। वह बँधे हुए साँड़ की तरह ऐंठा हुआ मेरे सामने खड़ा था।

"क्यों द्रुपद, अव तो तुमने मुझे पहचान लिया होगा।" मैंने विजयोल्लास में विहँसते हुए पूछा।

"जी हाँ, मैंने इस समय भी तुम्हें पहचाना है और उस समय भी तुम्हें पहचानता था।"—बड़ी बेहयाई थी उसके स्वर में।

"किस समय ?"

"जिस समय तुम बच्चे को दूध न देने की असमर्थता में दौड़े हुए मेरे यहाँ पहुँच गये थे।"

"क्या पहचानते हो ?"

"यही कि तुम कितने गिरे हुए हो।"

"मैं गिरा हुआ !" मुझे क्रोध उतना नहीं था जितना आश्चर्य। एक पराजित व्यक्ति का स्वाभिमान इतनी ऊँचाई पर, मैं कुछ समझ नहीं पाया।

"जानते हो द्रुपद इस समय तुम पराजित हो।"—मैंने कहा।

"……और तुम मुझसे बहुत पहले से पराजित हो चुके हो।"

"क्या कहते हो, मैं पराजित ? किससे पराजित ? कब पराजित ?"—मेरा आश्चर्य तीखेपन से व्यक्त हुआ।

"तुम्हें शायद याद नहीं है, तुम भूलते बहुत हो द्रोण।……तुम्हारा ब्राह्मणत्व सबसे पहले उस समय पराजित हुआ जब मात्र पारिवारिक सुविधा के लोभ में तुमने अपनी विद्या राज-परिवार के हाथों बेच दी। एक आचार्य का स्वाभिमान थोड़े से स्वर्ण-खण्डों से खरीद लिया गया। आश्रम के मुक्त वातावरण से हटाकर तुम्हें वैभव की दीवारों के बीच बंदी बना लिया गया।… तुम भरद्वाज के पुत्र, अग्निवेश्य के शिष्य, अपने पिता की तरह आश्रम चला सकते थे। सारे आर्यावर्त के आचार्य बन सकते थे, पर तुमने मात्र एक परिवार के घेरे में ही अपने कर्त्तव्य को बाँध रखा।"

वह आवेश में बोलता जा रहा था और मुझे चोट लग रही थी। मैं घायल होते हुए चीखा,—"क्या बकवाद करते हो? सीधी-सीधी बातें करो।"

"मैं जानता हूँ कि इस समय तुम्हें मेरी बात टेढ़ी लगेगी, तिक्त लगेगी क्योंकि सत्य कटु होता है.........और कटु पचा लेने का सामर्थ्य कभी तुम में नहीं रहा है, आचार्य।"

"यदि कटु पचा लेने का सामर्थ्य मुझमें न होता, तो मेरा ब्राह्मणत्व उसी समय तुम्हें भस्म कर देता जिस समय तुम्हारे कटु वचनों ने मुझे पांचाल से निकाल देने का दुस्साहस किया था।"—मैंने कहा।

"भस्म!...हाँ हाँ हाँ...."—वह एक विचित्र अट्टहास कर उठा।"—वह क्या भस्म करता जो स्वयं क्रोधाग्नि में भस्म हो रहा था।....द्रोण, तू मेरे मित्रता की परीक्षा लेने गया था और मैं स्वयं तेरे धैर्य की परीक्षा ले बैठा।.... तू उसमें शत-प्रतिशत असफल हुआ। तब मुझसे बदला लेने की भावना ने तेरे मन में ऐसा जोर मारा कि तू काम्पिल्य छोड़कर हस्तिनापुर चला आया और चाकरी करने लगा।....ऋषि-परम्परा की तपःपूत विरासत तेरे माध्यम से राज्य-परिवार का दास होकर श्रीहत हो गयी।"

वह कुछ क्षणों के लिए रुका। मैं चकित था कि वह क्या कहता जा रहा है।.........."क्या समझते हो? मैं सब जानता हूँ। तुम्हारी एक-एक गति-विधि से परिचित हूँ।....मुझे अच्छी तरह मालूम है कि तुम्हारा पतन किस सीमा तक हो चुका है।"

मैं समझ रहा था कि अपनी पराजय की खीझ मिटाने के लिए द्रुपद मुझ पर बराबर वाक्-प्रहार करता जा रहा है। पहले तो मैं मुस्कराता रहा, बाद में जब मुझसे रहा नहीं गया, तब मैंने कहा—"इस समय तुम बन्दी हो। अवध्य हो। अपनी अवध्यता की आड़ में खड़े-खड़े, कड़े-कड़े वाक्य-बाण मारते हो और यह नहीं जानते कि इस अनीति का परिणाम कितना बुरा होगा।"

"अनीति, हाँ-हाँ-हाँ....।"—वह जोर से हँसा। नीति को बेचकर खा जाने-वाला ब्राह्मण, तू अनीति के प्रति मुझे सावधान करने चला है। वह कौन-सी नीति थी कि शिष्य बना लेने की एकलव्य की याचना तुमने ठुकरा दी।....याद

है, जब मैंने तुम्हारी मित्रता की बात यह कहकर टाल दी थी कि अकिंचन ब्राह्मण और राजा द्रुपद की मित्रता कैसी ? मित्रता तो समान लोगों में होती है, तब तुमने कहा था कि क्या राजा का रक्त लाल होता है और अकिंचन ब्राह्मण का काला ? अब मैं तुमसे पूछता हूँ कि क्या अर्जुन का रक्त लाल था और एकलव्य का काला ? क्या एकलव्य में एक शिष्य की मर्यादाएँ सुरक्षित नहीं थीं ? तब उसे तुमने क्यों ठुकराया ?···केवल इसलिए कि वह कहीं अर्जुन से आगे न बढ़ जाये ? यह एक गुरु का पतन नहीं तो और क्या था ?····और जब तुमने उसे अपना शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया तब तुम्हें उसका अंगूठा गुरुदक्षिणा में माँगने का क्या अधिकार था ? क्या यह अनीति नहीं थी ?··· और चले हो मुझे नीति की शिक्षा देने···!"

मेरे मर्म पर आघात पर आघात हो रहा था, मैं भीतर-ही-भीतर तिलमिला रहा था, पर उसकी सुनता जा रहा था,—"वाह रे गुरु और वाह रे तुम्हारी गुरुदक्षिणाएँ। एक गुरुदक्षिणा में एक निष्ठावान शिष्य का अंगूठा और दूसरे में बन्दी द्रुपद ! तुम्हारी इन आकांक्षाओं के भीतर से तुम्हारे मन का कलुष झाँकता है द्रोण !····मैं अर्जुन द्वारा बन्दी बनाया गया हूँ परन्तु तुम्हें तुम्हारी अनीतियों ने बन्दी बनाया है, तुम्हारी पतित आकांक्षाओं ने बन्दी बनाया है। मेरा शरीर बन्दी है और तुम्हारा मन बन्दी है। मेरा बन्धन बाह्य है और तुम्हारा आन्तरिक। मेरा बन्धन तो टूट भी सकता है, किन्तु तुम उस बन्धन से कभी मुक्त नहीं हो सकते। मैं बन्दी होकर भी उन्मुक्त हूँ और तुम उन्मुक्त होकर भी बन्दी।····"

वह कहता गया,—"···और सुनो, मैं तुम्हारा नहीं, बल्कि तुम्हारे शिष्य का बन्दी हूँ, और तुम अपनी बदला लेने की भावना के बन्दी हो।···मुझे बन्दी देखकर तुम प्रसन्न हो रहे हो और तुम्हें बन्दी देखकर मैं दुःखी हो रहा हूँ, क्योंकि बन्दी होना और मुक्त होना एक क्षत्रिय के लिए कोई बहुत बड़ी बात नहीं है, पर जिस देश का ब्राह्मण बन्दी हो जायेगा—अपनी प्रतिहिंसा में, लोभ में और स्वार्थ में—उस देश का भगवान ही भला करेगा।"

मैंने अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया था कि द्रुपद इतना वाक्-पटु है। उसने मेरी कमजोरियों को इतना पकड़ रखा था कि मुझसे बोलते नहीं बन रहा था।

मैंने अपने ऊपर बड़ा नियंत्रण किया, किन्तु सारी झुँझलाहट मेरी एक गरज में निकल पड़ी—"मैंने तुम्हें बन्दी बनाकर यहाँ भाषण देने के लिए नहीं बुलाया है।"

"यह तो मैं भी जानता हूँ कि मैं बन्दी भाषण देने के लिए नहीं, वरन् तुम्हारी प्रतिहिंसा को शान्त करने के लिए बनाया गया हूँ।"

"नहीं। ऐसी भी बात नहीं है। मैंने तुम्हें बन्दी बनाया है तुम्हारा आधा राज्य छीनकर स्वयं राजा होने के लिए। क्योंकि तुम्हारी दृष्टि में राजा की मित्रता राजा से ही होती है न।"

"तो क्या मुझे बन्दी बनाने के पीछे तुम्हारी मित्र बनने की आकांक्षा थी?"

मैं स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाते हुए मुस्कराया।

इस बार भी वह अजीब व्यंग्यात्मक हँसी हँसते हुए बोला—"कीचड़ से कमल भले ही पैदा हो सकता है, पर प्रतिहिंसा से मित्रता पैदा नहीं हो सकती द्रोण।...बहुत प्रयत्न करने पर हो सकता है कुछ समय के लिए हम मित्र भी हो जायें, पर यह मित्रता चिरस्थायी नहीं होगी।...तुम्हारी प्रतिहिंसा यदि अपने शिष्य से हमें बन्दी बनवा सकती है तो हमारा प्रतिशोध भी निर्बीज नहीं होगा। वह किसी-न-किसी दिन अवश्य अंकुरित होगा और तब तुम...।"

इतना कहने के बाद वह कुछ सोचने लगा। उसकी दृष्टि निरभ्र आकाश में कुछ खोजने लगी।

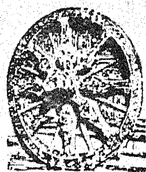
मैंने अत्यन्त सामान्य ढंग से कहा—"अब कुछ अधिक सोचने का समय नहीं है द्रुपद! मेरा एक ही निष्कर्ष है कि अपने राज्य के गंगा के उत्तर का भाग मुझे दे दो और दक्षिण के भाग पर तुम राज्य करो।"

वह कुछ नहीं बोला। मैंने उसके बंधन खुलवा दिये और उसे रथ पर बैठाकर बिदा किया, पर वह जाते समय एक बार फिर बड़बड़ाया—"...मेरी

भी प्रतिहिंसा निर्बीज नहीं होगी द्रोण। वह ऐसी ज्वाला उगलेगी जिसमें तुम भस्म हो जाओगे।"

द्रुपद का यह वाक्य मेरे मन में बराबर गूँजता रहा। किन्तु अब मैं राजा हो गया था। अहिच्छत्रा नगरी मेरी राजधानी थी। ब्राह्मण जब राजा होता है तब उसकी ज्ञान-गरिमा पर अहं का पानी चढ़ जाता है। मेरा भी अहं अब और अधिक गौरवान्वित हो गया था।

● ● ●



समय की पहाड़ी से दिन शिला-खण्ड की तरह ढुलकते चले गये। एक वर्ष बीत गया।

आज युधिष्ठिर को युवराज घोषित किया जायेगा। इस सूचना मात्र से हस्तिनापुर में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी थी।

सबेरा हो चला था। बाल-रवि की मुस्कराहट रेंगते-रेंगते विशाल भवनों के कंगूरों और वृक्षों की ऊपरी फुनगियों तक पहुँच गयी थी। मैं प्रातःकालीन सन्ध्या से उठा ही था कि कृपी ने मुस्कराते हुए कहा—"सुना है, आज आपका शिष्य युवराज होगा!

"वह तो होगा ही, पर तुम इतनी प्रसन्न क्यों हो?"

"केवल इसलिए कि वह आया था आज के महत्त्वपूर्ण दिन का पहला आशीर्वाद तुमसे लेने और उसको दे दिया मैंने।"—इतना कहते-कहते कृपी जैसे खिल-सी उठी।

"क्या युधिष्ठिर आया था?"

"आया था नहीं, वरन् आया है।···उद्यान में आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।"

"इतनी मामूली-सी सूचना के लिए ऐसी भूमिका? कृपी तुम सचमुच हर बात को पहेली ही बना देती हो।"—ऐसा कहते हुए मैं उद्यान की ओर लपका।

मुझे देखते ही युधिष्ठिर मेरे चरणों पर गिर गड़ा। मैंने उसे उठाकर छाती से लगा लिया। मैं कुछ बोल नहीं सका, गला भर आया।

हम दोनों की आँखों में आँसू थे। कितनी विह्वलता थी उन आँसुओं में, कितनी आत्मीयता थी उन अश्रुकणों में? यही समझिए जो

जबान कह सकी उन आँसुओं ने कह दिया। उसे मैंने कितनी देर तक अपनी छाती से चिपकाये रखा, यह भी नहीं बता सकता।

अचानक मेरी दृष्टि उद्यान के पश्चिमी कोण पर जाकर अटक गयी जहाँ अश्वत्थ अन्यमनस्क-सा टहल रहा था। उसके तन की भंगिमा में इस मधुर मिलन के प्रति कुछ विचित्र-सी उपेक्षा का भाव था।

क्या देख रहे हैं आचार्य ?"—अचानक युधिष्ठिर ने पूछा।

"यों ही सोच रहा था कि तुम्हारा कुत्ता कहीं दिखायी नहीं दे रहा है।"—मैंने एकदम बात बदल दी।

युधिष्ठिर हँसने लगा। मैंने उससे पुनः कहा—"देखो, बड़े होते समय छोटों का साथ कभी नहीं छोड़ना चाहिए।"

"मैंने न तो कभी उसका साथ पकड़ा था और न छोड़ा है।"...उसने ही मेरा साथ पकड़ा है। देखिए कब तक पकड़े रहता है।"

"यदि उसने तुम्हारा साथ पकड़ा है तो जीवन के अन्तिम क्षण तक वह तुम्हारे साथ रहेगा।"

"क्यों ?"

"क्योंकि वह कुत्ता है, मनुष्य नहीं है।" इतना कहकर मैं हँसने लगा। मैंने अनुभव किया कि मानव चरित्र पर मेरा यह व्यंग्य उसे बड़ी गहराई तक छू गया। वह कुछ बोला तो नहीं, मुस्कराते हुए उसने पुनः मेरा चरण-स्पर्श किया और आशीर्वाद ले चला गया।"

तब मैंने अश्वत्थ को बुलाया। वह मूर्तिवत् चुपचाप मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। पहले तो कुछ क्षणों तक मैंने उसकी मनःस्थिति का अध्ययन किया, फिर बोला—"युधिष्ठिर आया था।"

"यह तो मैं भी जानता हूँ।"

"क्या वह तुमसे नहीं बोला ?"

"उसकी क्या मजाल है जो मुझसे नहीं बोलता ?"—अश्वत्थ की आवाज में बड़ी ऐंठ थी।

"क्यों ? तुम उसके सामने क्या हो ? वह युवराज होने जा रहा है।"

"होगा युवराज।····मैं किसी युवराज से कम थोड़े ही हूँ।"

उसकी ऐंठ देखते हुए जी मैं आया कि कह दूँ—युवराज बननेवाला तू वही है न जो बचपन में दूध के लिए तरसता रह गया था। किन्तु मैं चुप रह गया। मैं सब समझ गया था कि अश्वत्थ की मनःस्थिति ऐसी क्यों है?

बात यह थी कि अश्वत्थ से दुर्योधन की बहुत पटती थी। जब युधिष्ठिर का युवराज होना दुर्योधन को अच्छा नहीं लगा, तब भला इसे अच्छा कैसे लगता।

पर मैं अश्वत्थ को समझाने की स्थिति में नहीं था। यदि कुछ कहता तो वह बात निश्चित रूप से दुर्योधन को मालूम हो जाती। मेरे सम्बन्ध में वह यों ही शंकाकुल रहता था, यह सब सुनकर पता नहीं वह कैसी धारणा बना लेता।

मैं पाण्डवों से प्रेम अवश्य करता था, पर पाण्डव और कौरवों की बीच की खाईं में उतरने से कतराता था।

युधिष्ठिर को अवभृथ स्नान कराकर सिंहासन पर बैठाया गया। ब्राह्मणों के मंत्रोच्चार के बीच उस समय जय-जयकार से प्रासाद का कोना-कोना गूँज गया जब धृतराष्ट्र ने परम्परानुसार स्वयं अपने हाथ से उसके ऊपर छत्र लगाया, पितामह ने, कृपाचार्य ने, विदुर ने, मैंने—सभी ने खड़े होकर उसे आशीर्वाद दिया।

युवा-जन हर्षातिरेक से विह्वल थे, क्योंकि पाण्डवों के व्यवहार से सभी प्रसन्न थे। भीष्म ने अपनी प्रतिज्ञा के कारण गद्दी स्वीकार नहीं की थी। धृतराष्ट्र अन्धे होने के कारण राजा न हो सके थे। पाण्डु के चले जाने के बाद से आज तक गद्दी खाली थी। अब युवराज बनने का सुयोग पाण्डवों को ही प्राप्त हुआ था। मैं जहाँ बैठा था, उसी के बगल में कुछ लोग धीरे-धीरे बातें कर रहे थे।

"आज यदि महाराजा पाण्डु होते तो क्या बात थी?"

"पर यदि नहीं भी हैं तो क्या हुआ ? धृतराष्ट्र ने तो उनके स्थान पर छत्र लगाया ही।"

"देखते नहीं हो उस अन्धे का हाथ काँप रहा है।"

"वार्धक्य के कारण हाथों में कम्पन आ ही जाता है।"

"क्या वे पितामह से अधिक वृद्ध हैं ?······अरे मित्र, छत्र के कम्पन में वृद्ध की निर्बलता नहीं, वरन् उसकी ईर्ष्या है।"

"भला ईर्ष्या नहीं होगी ? उसका लाड़ला दुर्योधन बैठा रह जाये और युधिष्ठिर को युवराज बनाया जाय। यह कभी उसे सहन होगा ?"

इसी बीच मैंने मुड़कर बगल में देखा, मुझे ध्यान देते ही सभी चुप हो गये। अब मुझे भी साफ दिखायी दे रहा था कि छत्र पकड़े हुए धृतराष्ट्र का हाथ काँप रहा है। उनकी आकृति पर किसी प्रकार की प्रसन्नता नहीं थी।

युवराज के सिंहासन के पीछे छत्र-धरे धृतराष्ट्र थे। उनकी एक ओर गान्धारी और दूसरी ओर कुन्ती थी और उनके पीछे कौरव-पाण्डव सभी पंक्तिबद्ध खड़े थे। पाण्डव प्रसन्न थे, पर कौरव उदास मालूम पड़ रहे थे। दुर्योधन किसी से संकेत से कुछ कह रहा था। मैंने देखा, वह कर्ण था जो विशाल मंच के नीचे ही स्वर्णजटित काष्ठ-निर्मित भव्य मंचक पर बैठा था। वह स्पष्ट रूप से दुर्योधन को वहाँ से हट जाने के लिए संकेत कर रहा था। बात साफ थी कि कौरवों की छाती पर साँप लोट रहा है।

अब मेरी दृष्टि गान्धारी की ओर गयी। उसकी मुख-मुद्रा विचित्र थी। आँखें तो पट्टी से बँधी थीं, पर लगता था कि वह आँखें फाड़-फाड़कर युधिष्ठिर को देख रही हैं। दूसरी ओर कुन्ती की आँखें खुली थीं। वह सिर नीचा किये मानो अपने स्वर्गस्थ पति से युवराज के निमित्त मंगल-कामना कर रही हो। कितना विलक्षण था, एक की बन्द आँखें भी आग उगल रही थीं। दूसरी की खुली आँखें भी बन्द होकर शुभकामना कर रही थीं।

पाण्डवों और कौरवों की मनःस्थिति के विरोधाभास का अनुभव सभी को हो गया था, पर कार्यक्रम चल रहा था और विधिवत् सम्पन्न भी हुआ।

कार्यक्रम के बीच में ही कर्ण, दुर्योधन और दुःशासन को लेकर वहाँ से एक तप्त वायु के झोंके-सा निकल गया। मेरी बगल में ही बैठे विदुरजी ने मुझसे पूछा,—"आचार्य कुछ देख रहे हैं ?"

"देख रहा हूँ कि युवराज पद पर युधिष्ठिर कितना अच्छा लग रहा है।"

"···और मैं देख रहा हूँ कि वैमनस्य की आग कितनी तेज सुलग रही है।"

कौरवों की लोकप्रियता उन्हीं के अहंकार की कारा में बन्दी थी, किन्तु पाण्डवों का विनय उन्हें सहज ही जन-प्रिय बनाता जा रहा था। साथ ही उनके शौर्य, पराक्रम और नीतिमत्ता की चर्चाएँ हरेक के जबान पर थीं। सौवीर के महान योद्धा दत्तामित्र जिसे महाराज पाण्डु भी पराजित नहीं कर पाये थे, उसे अर्जुन ने परास्त कर दिया था। उस विजय के उपरान्त वह मुझसे आशीर्वाद लेने आया था। मैं गद्‌गद् हो गया था। कितनी प्रसन्नता में मैंने उससे कहा था,—"····वत्स, पराजय एक ऐसी स्थिति है, जो नितान्त कष्टदायक होती है। वह सुखकर नहीं होती।···किन्तु एक अवसर ऐसा भी आता है जब पराजय अत्यन्त आह्लाददायक होती है।···जानते हो, वह कौन-सा अवसर है ?"

उसने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया था।

"······वह अवसर तब आता है वत्स, जब गुरु अपने शिष्य से पराजित हो जाता है।···यदि ऐसा अवसर कभी तुम्हारे सामने आये, तो मेरे शिष्य तुम मेरे विरुद्ध अस्त्र उठाने से कभी मत चूकना।···वह मेरा परम सौभाग्य होगा, जब मैं तुमसे पराजित होऊँगा।"

मैं नहीं कह सकता कि प्रासंगिकता से दूर होते हुए भी मैंने यह बातें उससे क्यों कही थीं ? लगता है उस समय मैं स्वतः नहीं बोला था, मेरे भीतर से कोई बोल उठा था।

अर्जुन ही नहीं, वरन् उसके अन्य भाई भी अपने विकास में सन्नद्ध थे। मुझसे शस्त्र-विद्या सीखने के बाद भी भीम ने बलराम से मल्ल एवं गदा-युद्ध की विशेष शिक्षा ली थी। सहदेव ने बृहस्पति से नीतिशास्त्र का अध्ययन आरम्भ कर दिया था।

पाण्डव अपनी विद्या-बुद्धि और जनप्रियता की श्रीवृद्धि में लगे थे और कौरव ? विद्वेष की अग्नि की समिधा बटोर रहे थे।

दुर्योधन ने भी कुछ उल्टा-सीधा अपने पिता को समझाया। इस कार्य में उसने उनके मंत्री कणिक की भी सहायता ली। कणिक अत्यन्त नीच प्रकृति का व्यक्ति था। उससे मेरी भी नहीं पटती थी। वह परोक्ष में मेरी बड़ी निन्दा करता था। उसने धृतराष्ट्र को अच्छी तरह समझा दिया कि पाण्डव आप के पुत्रों से सभी दृष्टियों से योग्य हैं और वे आपके पूरे परिवार से द्वेष करते हैं। प्रजा भी उन्हें अधिक चाहती है। यही हालत रही तो आप की मृत्यु के बाद आपके बच्चे कहीं के नहीं रहेंगे।

कणिक और धृतराष्ट्र की ये बातें बन्द मंत्रणा-गृह में हुई थीं, फिर भी पुलोमा को पता नहीं किस तरह मालूम हो गयी। पुलोमा यद्यपि दासी थी, पर अपने रूप, शरीर-यष्टि और कुशलता के कारण राज-परिवार पर बड़ा प्रभाव रखती थी। उसका सौन्दर्य कई बार कौरवों की हिंसक वासना का शिकार होते-होते बचा था। सम्भवतः इसीलिए वह कौरवों से घृणा करती थी।

पाण्डवों की ओर उसका अधिक झुकाव था, किन्तु यह बात न तो उसने पितामह से कही और न कुन्ती से। किसी बहाने वह मेरे आवास पर आयी और कृपी के परोक्ष में उसने मेरे सामने सारा रहस्य खोला और कहा,—"इसका ध्यान रखियेगा कि यह बात किसी को मालूम न हो।...यदि आप इस क्षेत्र में कुछ कर सकते हों तो कीजिएगा।"

"किन्तु मैं क्या कर सकता हूँ पुलोमा। हमारी स्थिति वही है जो तुम्हारी है। अन्तर इतना ही है कि तुम दासी हो और मैं आचार्य, किन्तु हम दोनों चाकर हैं। धृतराष्ट्र की कृपा पर जीवित हैं।"—मैंने अपनी निरीहता स्पष्ट की।

अब जब भी मैं राज-भवन में जाता, मेरा मन उस वैमनस्य की अग्नि के विषैले धुएँ में घुटन का अनुभव करता।

धृतराष्ट्र से कुछ कह पाना मेरे लिए सम्भव नहीं था और कर्ण से भी कुछ कहना नहीं चाहता था। शायद इसीलिए मैंने सोचा कि यदि मौका मिले तो मैं दुर्योधन से कुछ बातें करूँ। सम्भव है, जलती हुई अग्नि पर कुछ पानी फेर सकूँ।

अब मैं दुर्योधन से कुछ चिपका-चिपका रहने लगा। उसके साथ आखेट में जाता, छोटी-मोटी यात्राएँ करता। बहुधा प्रासाद में अधिक समय उसके कक्ष में ही बिताता। पहले तो दुर्योधन के मन में जो मेरे प्रति शंका थी वह और अधिक बढ़ी। उसने सोचा, आचार्य मेरे साथ लगकर अपने प्रिय पाण्डवों के लिए रहस्य जानने की चेष्टा कर रहे हैं, पर बाद में धीरे-धीरे बात बदलती गयी और वह यह सोचने लगा कि अब आचार्य मेरे प्रति एकनिष्ठ हो रहे हैं।

अब मैं बिलकुल पाण्डवों से कतराया रहता था। अवश्य ही उनके मन में शंका हुई होगी, पर वे इतने भले थे कि उन्होंने मेरे प्रति अपने व्यवहार में किसी प्रकार की कमी आने नहीं दी।

एक दिन मैं दुर्योधन के साथ आखेट पर जा रहा था, साथ में कई रथों पर उसके भाई-बन्धु भी थे····और मैं दुर्योधन के रथ पर था। हमारा रथ सब से आगे था, लगता है, उन लोगों का रथ किसी दूसरी ओर मुड़ गया। बहुत आगे निकल आने के बाद दुर्योधन ने कहा,—"मालुम होता है, हम अकेले ही रह गये।"

"यही शाश्वत सत्य है वत्स। एक-न-एक दिन हमें अकेले ही होना है।"

"अरे जब अकेले होंगे तब होंगे, आज तो नहीं।"—वह छूटते ही बोला, "आज तो हमारे साथ कर्ण है, हमारे भाई हैं, अश्वत्थ है, पितामह हैं, आप हैं।···· आपकी दृष्टि जीवन के प्रति बड़ी निराशाजनक हो गयी हैं आचार्य।"

मैं चुप हो गया। मुझे इतने निर्भीक और बेखटक उत्तर की उससे अपेक्षा न थी। मैं तो चाहता था कि बातों-बातों में उसे कुछ समझाता, पर उसने मौका ही नहीं दिया।

मैं निरन्तर सोचता रहा कि बढ़ते हुए इस पारिवारिक वैमनस्य के प्रति मेरी भूमिका क्या हो ?

आखेट के ही चक्कर में दिन ढल गया। जाड़े की थरथराती और बादलों से घिरी सन्ध्या अपना लट फैलाने लगी। हवा काँपती रही। आकाश पसीजता रहा। अचानक वर्षा भी तेज हो गयी।

निकट ही एक तपःपूत ऋषि का आश्रम था। सोचा गया, वहीं थोड़ी देर के लिए रथ खड़ा कर दिया जाये।····और पल मारते उस आश्रम में हम पहुँच भी गये।

ऋषि का उचित अभिवादन करने के बाद मैंने अपना परिचय दिया। "ओ तुम भरद्वाज के पुत्र····तुमने अपना आश्रम बन्द कर दिया।"—उसकी सतेज आँखों में जैसे घृणा उबलने लगी।

एक अपराधी की तरह मेरा सिर झुक गया। दृष्टि सामने जलते कुण्ड की ज्वालाओं से उलझ गयी।

थोड़ी देर बाद सारा साहस बटोरकर मैंने दुर्योधन का परिचय दिया। ऋषि की एक विष-भरी मुस्कान दाढ़ी-मोछों के जंगल में नागिन की तरह रेंग गयी। "अच्छा तो आप ही हैं।" इतना कहकर वह कुछ सोचने लगा। तब तक एक ब्रह्मचारी आसन ले आया और हम दोनों ऋषि के निकट ही बैठ गये।

कुछ ही क्षणों के पश्चात् ऋषि ने अग्नि-कुण्ड की ओर संकेत कर दुर्योधन से पूछा,—"राजकुमार, देखते हो वह क्या है ?"

"ज्वाला है।"

"कहाँ से निकल रही है ?"

"जली हुई लकड़ियों के जलते हुए कोयलों से।"

"ये, जलते हुए कोयले कितना ताप देते हैं ?—पर जानते हो इनके जीवन का अन्तिम परिणाम क्या होगा ?"—ऋषि की वाणी में एक विचित्र तरह की भरभराहट और गम्भीरता थी,—"···ये जलकर आखिर राख ही हो जायेंगे। हर ताप देनेवाले का यही परिणाम होता है।"—इतना कहते ही वे चुप हो गये और एकटक दुर्योधन की ओर देखते रहे। मुझे लग रहा था कि उसका

मौन भी उससे बहुत कुछ कह रहा है। शायद कुछ ही क्षणों के लिए दुर्योधन की सारी धृष्टता पानी हो गयी। उसका साहस नहीं था जो बूढ़े की आँखों में आँखें मिलाता।

मैं बड़ा प्रसन्न था। मेरे मन की बात ऋषि ने कही थी, पर दुर्योधन पर इसकी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं हुई। मैंने स्पष्ट अनुभव किया कि वह वहाँ एक घुटन और ऊब का अनुभव कर रहा है।....शीघ्र ही वह वहाँ से उठ खड़ा हुआ।

"अभी तो वर्षा थमी नहीं है।"—ऋषि बोले।

"न थमे।....बादलों का काम है बरसना और हमारा काम है अपना काम करना।"—दुर्योधन का अहं आखिर मुखरित हो ही गया।

ऋषि पुनः मुस्कराये और एक गम्भीर दार्शनिक की तरह बोले,—"हर ताप जल से शान्त होता है। हो सकता है, तुम्हें भी भींगने से कुछ शान्ति मिले।

दुर्योधन कुछ बुदबुदाया, पर कुछ सुनायी नहीं पड़ा।

ऋषि की गम्भीर मन्द्र ध्वनि इस बार और अधिक तेज हुई,—"....हो सकता है राजकुमार तुम्हें अपने जीवन के ताप की चरम सीमा पर किसी जल में ही आश्रय लेना पड़े।"

दुर्योधन की आकृति पर क्रोध की लाली दौड़ गयी। अब वह एक क्षण भी वहाँ रुकना नहीं चाहता था।

मैंने देखा, चलते समय ऋषि का उसने चरण-स्पर्श भी नहीं किया।

वारणावत! वारणावत!! वारणावत!!!

आजकल प्रत्येक जिह्वा पर था बस—वारणावत। वारणावत मात्र एक नगर हस्तिनापुर से उत्तर-पश्चिम केवल डेढ़ योजन पर स्थित। कोई विशेष बात नहीं। मैं तो कई बार वहाँ गया हूँ, किन्तु आजकल उस नगर की प्रशंसा का जैसे ढिंढोरा पीटा जा रहा है। बात कुछ समझ में नहीं आती।

एक दिन भरे दरबार में बिना किसी सन्दर्भ के धृतराष्ट ने मुझसे कहा,—"आचार्य, वारणावत कितनी सुन्दर नगरी है। वहाँ मेले भी बड़े-बड़े लगते हैं। मेरा विचार है कि उसे अच्छा व्यापारिक केन्द्र बनाया जा सकता है।"

"हाँ, नगर तो अच्छा है।......"पर मेरी बात सम पर आये इसके पहले ही उसे काटते हुए कणिक बोल उठा......"आचार्यजी, उसे आपने अच्छी तरह देखा नहीं है, किन्तु मैंने देखा है।—यदि उसका विकास किया जाये तो हस्तिनापुर से भी सुन्दर हो सकता है।"

अब मुझे समझते देर न लगी कि वारणावत की प्रशंसा के पीछे कोई-न-कोई षड्यंत्र अवश्य है। जिज्ञासा बढ़ती गयी, पर मैं प्रत्यक्षतः किसी से कुछ पूछने और जानने की स्थिति में नहीं था। उल्टे कृपा ने ही मुझसे पूछा। मैंने अपनी अज्ञता स्पष्ट कर दी। उसी ने बताया कि इस सम्बन्ध में न तो पितामह कुछ बताते हैं और न विदुरजी ही। 'रहस्य' रहस्य बना रह गया।

वासन्ती रात्रि का प्रथम प्रहर, जाड़े की हल्की थरथराहट में प्रकृति के अंग-अंग पर अनंग की मादकता बिखर गयी। अचानक पुलोमा दौड़ी हुई मेरे यहाँ आयी और सीधे शयन-कक्ष में घुस पड़ी। वह तेजी से हाँफ रही थी।

उस समय मेरे साथ कृपी भी थी। पुलोमा को इस स्थिति में देखते ही वह घबरा-सी गयी। "क्या बात है पुलोमा ?"—कृपी बोली।

पुलोमा अब भी चुप थी, जोर-जोर से हाँफ रही थी और विस्फारित नेत्रों से हम दोनों को देख रही थी। ऐसा लगा, मानो वह कृपी के सामने कुछ कहना नहीं चाहती। नारी पहले नारी के सामने खुलती नहीं; और जब खुलती है तब खुलती ही चली जाती है। बात कुछ ऐसी ही हुई। जब मैंने उसे प्रकृतस्थ किया, बैठाया और अभय का आश्वासन दिया, वह खुलने लगी।

उसने कुछ शब्दों में, कुछ संकेतों से और कुछ क्रोध से किटकिटाते हुए जो जो कुछ बताया, वह अद्भुत था।

"आचार्य, मैं उस हिंसक भेड़िये के पंजे से निकलकर भागी आ रही हूँ। सन्ध्या होते ही आज मुझे उसने—दुर्योधन ने बुलाया था,...और जी भरकर मैरेय पिलाने को कहा। वह पीता गया और मैं पिलाती गयी। चषक पर चषक

१८५५

कण्ठ के नीचे ढकेलता गया'''और जब अच्छी तरह उन्मत्त हो चुका तब उसने मुझे अपनी शय्या पर बुलाया। मैं मारे भय से काँपने लगी। किसी तरह भागने को हुई। वह मेरे ऊपर झपटा'''किन्तु नशे में चूर था, गिर गया और बड़बड़ाता रहा'''देख, तू आज मेरे पास नहीं आ रही है, पर कल अवश्य आयेगी।'''अब इस प्रासाद में मेरे सिवा कोई नहीं रहेगा। वे पाण्डु के पिल्ले वारणावत जा रहे हैं'''और जानती है वे कभी नहीं लौटेंगे'''कभी नहीं लौटेंगे। अब केवल यहाँ मैं रहूँगा, तू रहेगी, मैं'''"वह नशे में धरती पर औंधा बड़बड़ाता रहा। मैं उससे छूटकर सीधी भागी चली आ रही हूँ।

"तुझे यहाँ आते हुए किसी ने देखा तो नहीं।" मैंने पूछा।

"देखा तो शायद किसी ने नहीं।"

"जब तू भेड़िये के कठघरे में रहेगी, तो पंजे तो लगेंगे ही।'''इसमें घबराने की आवश्यकता क्या? जिस साहस से तुमने अब तक सामना किया है, उस साहस से सामना कर।"—मैंने उसे ढाढस बँधाया।

"पर आचार्य, लगता है पाण्डवों पर कोई विपत्ति आनेवाली है।"

"इसे तो मैं भी जानता हूँ, किन्तु मैं कर क्या सकता हूँ?'''तुमने यह बात पितामह से नहीं कही?"

"पितामह'—उस बूढ़े की बुद्धि जैसे भ्रष्ट हो चली है। वह क्या नहीं जानता? उसे सब कुछ मालूम है।"

"तब यदि दैव का ही कोप हस्तिनापुर पर होनेवाला होगा तो भला हम लोग इसमें क्या कर सकते हैं?"—मेरी ध्वनि में बड़ी निराशा थी।

किन्तु पुलोमा ने ही बताया कि विदुरजी को भी अनिष्ट का अनुमान लग गया है।

"तब वह अवश्य ही कोई-न-कोई रास्ता निकालेंगे।"—मुझे जैसे निराशा के अँधेरे में आशा की एक किरण मिली।

कृपी ने तीन चषकों में उष्ण पेय मँगवाया। हम घण्टों बैठे नयी विकसित होती राजनीति पर बातें करते रहे। उसका विचार था कि पाण्डवों से कुछ कहना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि वे इतने सीधे और सरल हैं कि कोई

पूछेगा कि कहाँ से पता चला तो वे साफ-साफ सब बता देंगे।...पर कुन्ती से सारी बातें बता देनी चाहिए।"

"यह सारा काम विदुरजी स्वयं कर लेंगे।...हम लोगों को इस बीच में नहीं पड़ना चाहिए।"—मैंने कहा।

यों तो मैं पुलोमा को जाने देना नहीं चाहता था। उसका विचार था कि उसे किसी-न-किसी स्थिति में प्रासाद में अवश्य पहुँच जाना चाहिए।

"यदि द्वारपाल ने रोका तो ?"

"मैं उसकी व्यवस्था कर लूँगी।"—इतना कहते हुए वह मुस्करायी। फिर भी मैंने एक प्रतिहारी को उसके साथ कर दिया।

जब वह मेरे आवास से उद्यान की ओर निकली, रात्रि अपने यौवन का द्वार खटखटा रही थी।

फाल्गुन शुक्ल अष्टमी का प्रभात, एक निर्णायक प्रभात।

उस दिन मैं अपनी राजधानी अहिच्छत्र में ही था। मुझे सूचना मिली कि आज पाण्डव अपनी माता के साथ वारणावत जानेवाले हैं। मैं तो दुःखी था ही, मुझसे कहीं अधिक दुःखी कृपी थी। जब मैं हस्तिनापुर चलने लगा कृपी ने भी साथ चलने का आग्रह किया। सामान्यतया मैं कभी उसे धृष्टराष्ट्र के प्रासाद में ले नहीं जाता था और न कभी वह चलने का ही हठ करती थी। किन्तु न जाने क्यों यह बात मेरे मन में बार-बार उठती थी कि आज का दिन ऐतिहासिक दिन है। हस्तिनापुर की राजनीति करवट बदल रही है, शायद इसीलिए उसका आग्रह मैं टाल नहीं सका। उसे अपने साथ ले चला।

सोचा, अश्वत्थ को भी लेता चलूँ, पर पता चला वह कल का ही हस्तिनापुर गया है। कितना विचित्र है! मैं उसका पिता हूँ, पर उसकी गति-विधि स्वयं मुझे ज्ञात नहीं। स्पष्ट लग रहा था कि हम दोनों एक दूसरे से दूर जा रहे हैं।

अर्जुन के प्रति उसकी स्वाभाविक घृणा उसे दुर्योधन के ममत्व की परिधि में सहज ही खींच ले गयी थी''''और मेरा हृदय अर्जुन के साथ था। मेरे प्रति पाण्डवों के आदर भाव तथा उनकी सज्जनता से पीछा छुड़ा पाना मेरे लिए अशक्य था। एक ओर मेरा पुत्र था और दूसरी ओर मेरा शिष्य। किसको पकड़ूँ? किसको छोड़ूँ? पर परिस्थितियाँ कुछ ऐसी जुट रही थीं कि अर्जुन ही मुझे छोड़ने के लिए विवश हो चला था।

जब मेरा रथ हस्तिनापुर की ओर चला, अभाग्यसूचक फाल्गुन के बादल आकाश में घिर रहे थे।

सारा नगर उदासी के कुहरे-से ढका था। हर चेहरे पर वेदना की छाया थी। सभी मौन थे। नगर के मध्य में पहुँचते-पहुँचते एक विलक्षण-सी घबरायी हुई आवाज ने मेरा रथ रोका। यह नगर का मुख्य श्रेष्ठी था। उसने मेरा चरण-स्पर्श करने के बाद बस इतना कहा—"यह सब क्या हो रहा है आचार्य?'

मैं चुप था।

"इसमें कोई षड्यंत्र जरूर है।''''उन बेचारों के साथ यदि धोखा हुआ तो अनर्थ हो जायेगा।"

"घबराइए नहीं। जो कुछ भगवान करेगा, अच्छा ही करेगा।"—मैं विशुद्ध राजनीतिक ढंग से उन्हें समझाकर आगे बढ़ा।

मध्याह्न के कुछ बाद ही पाण्डवों के चलने की तैयारी पूरी हो गयी। उन्होंने सभी बड़ों के चरणस्पर्श किये। भीष्म ने बड़ी दृढ़ता से आशीर्वाद दिया। किन्तु जब उन्होंने मेरा चरण छूआ, मेरा गला भर आया। मैं कुछ बोल नहीं सका। यही स्थिति धृतराष्ट्र की भी थी, पर हम दोनों की आँखों में बड़ा अन्तर था। मेरी आँखें भरी-भरी थीं, किन्तु धृतराष्ट्र की अन्धी आँखें एकदम खाली।

मैंने अनुभव किया कि विदुरजी ने आशीर्वाद देने के साथ ही युधिष्ठिर को कुछ संकेत से समझाया भी, जिसे युधिष्ठिर के अतिरिक्त वहाँ कोई समझ नहीं पाया। शायद किसी ने इस ओर बहुत ध्यान भी नहीं दिया।

पाण्डवों के साथ कुन्ती और दुर्योधन का मित्र तथा मंत्री पुरोचन भी था। साथ में बहुत सारे सैनिक भी थे। कौरवों के रथ भी कुछ दूर तक विदाई देने के लिए चले।

कृपी तो बिल्कुल फूट-फूटकर रो रही थी।

नगरवासियों की विचित्र स्थिति थी। कदाचित् ही मुझे कोई प्रसन्न दिखायी दिया हो। पसीजती आँखों और भरे मन से नगर के बाहर तक लोग उन्हें छोड़ने आये।

मैं भी उसी दिन अहिच्छत्र चला आया। मन बड़ा उदास रहने लगा। महीनों बीत गये। इच्छा नहीं हुई कि हस्तिनापुर की ओर चलूँ, बल्कि मैंने अश्वत्थ से ही अपनी अस्वस्थता की सूचना भेजवा दी थी।

अश्वत्थ की मनःस्थिति में अब परिवर्तन आ रहा था। वह बहुधा हस्तिनापुर जाता और आता रहता था। वह प्रसन्न था। अब मेरे निकट भी आता था। ऐसा लगा जैसे वह साफ अनुभव कर रहा था कि पिताजी के पास जो था वह चला गया। अब जगह खाली हो गयी है। वहां वह आराम से रह सकता है।

दिन ढलते गये, रातें डूबती गयीं।

एक रात मैं अभी जगा नहीं था, पर जगने को था कि अचानक कुहराम-सा सुनायी पड़ा। अश्वत्थ दौड़ा हुआ मेरे कमरे में आया और पागलों-सा चीखा—"तात, तात पाण्डव भस्म हो गये।"

मुझे तो काटो तो खून नहीं। यह मैं क्या सुन रहा हूँ? पाषाणवत् मैं उसका चेहरा देखता रहा। सभी लोग जैसे मेरे शयन-कक्ष की ही ओर दौड़े, पर सब स्तब्ध थे। विस्मय की विभीषिका जैसे मुँह पर ताला लगा चुकी थी।

सामने ज्योति-पात्र में दीपक की लौ काँपती रही, मैं सोचता रहा। बनते-बिगड़ते अनेक चित्र नेत्रों के सामने आते रहे। अन्त में मन ने अपना अविश्वास प्रकट ही कर दिया,—"ऐसा तो नहीं, किसी ने शत्रुतावश यह समाचार उड़ा दिया हो?····किन्तु तुम्हें कैसे मालूम हुआ?"

"अभी-अभी सूचना हस्तिनापुर आयी है।···मैं वहीं से दौड़ा चला आ रहा हूँ।"

"तो क्या सभी जल मरे।"

"जी हाँ, माता कुन्ती सहित पाँचों पाण्डव भस्म हो गये। सुना है, साथ में पुरोचन भी जल गया।

"आखिर बात क्या हुई?"

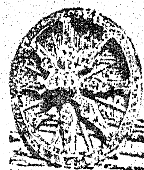
"...पता तो इतना ही चला कि निर्मित प्रासाद में पाण्डव रह रहे थे, उसमें अचानक आग लग गयी।

"अचानक आग लग गयी !...और कोई नहीं बचा ? बात कुछ समझ में नहीं आती।"

मेरे मन में बराबर तर्क-वितर्क चलने लगा। मैं सोचता रहा और एकटक अश्वत्थ की ओर निहारता रहा। सहसा ऐसा लगा जैसे अश्वत्थ की आकृति पर अर्जुन का चेहरा आकर चिपक गया है। वह हँस रहा है, मानो मुझसे कह रहा है,—"आचार्य, यह सब झूठ है, एकदम झूठ, बिल्कुल झूठ।...देखिए मैं जीवित हूँ, आपके सामने खड़ा हूँ।"

उसकी कल्पित हँसी कुछ क्षणों तक मेरा स्पर्श करती रही, पर जब तंद्रा टूटी चेहरा गायब था। सामने अश्वत्थ था। अँधेरा पीते दीपक थे और चारों ओर सिसकता वातावरण।

● ● ●



पूरी हस्तिनापुरी को विश्वास था कि पाण्डवों के साथ विश्वासघात किया गया है। बेचारे पाण्डु का वंश ही समाप्त कर दिया गया। उस पापी की बाहरी आँखें ही नहीं, वरन् भीतर की आँखें भी फूट गयी हैं। वह लोभ में और अधिक अन्धा हो गया है।"—लोग धृतराष्ट्र के सम्बन्ध में ऐसा ही सोचते थे। फिर भी कोई चूँ तक नहीं कर सकता था, क्योंकि राजा के विरुद्ध बोलना मृत्यु को आमंत्रित करना था।

कुछ दिनों तक तो कौरवों ने भी शोक मनाया, पर शीघ्र ही सब सामान्य हो गया। आये दिन राजभवन में उत्सव होने लगे, उल्लास मनाया जाने लगा। कौरवों की प्रसन्नता का रथ निरापद मार्ग पर दौड़ने लगा, पर लोगों के अन्तर में भीतर-ही-भीतर असन्तोष की ज्वाला सुलगती रही।

सुना था, पितामह कुछ दिनों तक अपने आवास से निकले ही नहीं। मैंने भी एक लम्बे अरसे तक हस्तिनापुर छोड़ दिया। अश्वत्थ बहुधा आता-जाता रहता था, समाचार मिल जाता था।

एक दिन धृतराष्ट्र का एक पत्र लेकर पुलोमा अहिच्छत्र आयी। उसके साथ उसकी प्रिय सखी सुरेखा भी थी। पत्र अत्यन्त संक्षिप्त था जो किसी से लिखवाया गया था। अन्त में लिखनेवाले ने धृतराष्ट्र का नाम भी लिख दिया था।

आदरणीय आचार्यजी,

सादर अभिवादन।

इधर अनेक दिनों से आपके दर्शन नहीं हुए। हम पर तो वज्रपात ही हो गया है। परम पूज्य पाण्डु का अब बीज भी शेष नहीं रहा। जब दैव ही कुपित

है, फिर यदि किसी कारणवश आप भी रुष्ट हो जायें तो आश्चर्य क्या ? इस विपत्ति के समय आप की उपस्थिति ढाढ़स बँधाती, किन्तु हम उससे भी वंचित हो गये हैं। मेरे ऐसा अभागा कदाचित् ही कोई होगा ?

आपका ही—

धृतराष्ट्र

मैं समझ नहीं पाया कि धृतराष्ट्र के मन में मेरे प्रति ऐसी आत्मीयता क्यों जागी ? मैंने इस सम्बन्ध में पुलोमा से बातें कीं। उसने बताया कि धृतराष्ट्र को विश्वास हो गया है कि लोग पाण्डवों के जल मरने में मेरा ही षड्यन्त्र समझते हैं। इसीलिए वे आजकल सबसे मिल रहे हैं और अपनी सफाई दे रहे हैं। कई बार तो वे पितामह से मिल चुके हैं, पर वे अभी तक आवास से निकले ही नहीं। विदुरजी को भी उन्होंने बुलाया था। उनसे तो बड़ी देर तक बातें होती रहीं।

"क्या बातें हुईं ? उसका विवरण पता चला या नहीं ?" विदुरजी का नाम सुनते ही मेरी जिज्ञासा अचानक फनफना उठी।

"क्यों नहीं पता चला ? कोई छिपकर थोड़े ही बातें हो रही थीं।........ सुरेखा तो वहाँ थी ही।"—इतना कहकर उसकी दृष्टि सुरेखा की ओर गयी— "यह उस समय उन दोनों वृद्धों पर बिजन डुला रही थी।"

"तो क्या बातें हुईं।"—मैं अधैर्य का संवरण न कर सका। मैंने सुरेखा से पूछा।

"कोई विशेष बातें तो नहीं हुईं। अंधराज अपनी फूटी आँखों से आठ-आठ आँसू रोते रहे।"—ऐसे ढंग से बोली, सुरेखा कि हम लोगों को हँसी आ गयी। फिर उसी ने बताया कि धृतराष्ट्र चिंतातुर थे, अपने और महाराज पाण्डु के सम्बन्ध की चर्चा करके पछताते रहे और विदुरजी उन्हें समझाते रहे।...... उन्होंने कई बार कहा, हे भगवान ! मेरी बुद्धि क्यों मारी गयी ? मैंने उन्हें वारणावत जाने से रोका क्यों नहीं ?

"रोकते क्यों ?...उन्होंने ही तो उन्हें जान-बूझकर भेजा।"—न चाहते हुए भी मेरा मन बीच में ही बोल उठा। मैंने बातों का सिलसिला आगे बढ़ाते हुए सुरेखा से पूछा—"पर विदुरजी ने क्या कहा ?"

उनकी बातों का सारांश बस इतना ही था कि भगवान पर भरोसा रखिए महाराज। वह जो कुछ करेगा ठीक ही करेगा। यदि कोई पाण्डवों की मृत्यु का कारण हमें समझता है तो यह उसकी भूल है, क्योंकि मनुष्य किन्हीं दूसरे कारणों से नहीं, बल्कि अपने कर्मों से ही मारा जाता है। इसी सन्दर्भ में योग-वाशिष्ठ का उन्होंने एक श्लोक भी सुनाया था।······यदि पाण्डवों के कर्म ऐसे रहे होंगे कि वे जल मरें, तो मर गये होंगे।"

"···किन्तु कर्म तो उनके बहुत अच्छे थे।"—धृतराष्ट्र बोले।

"तब वे नहीं मरे होंगे।"—विदुरजी ने कहा।

"कैसी बातें करते हो जी? उनके जले शव मिले। उनकी अंत्येष्टि कर दी गयी····और तुम कहते हो कि नहीं मरे होंगे।"—धृतराष्ट्र साश्चर्य बोले।

"सद्कर्मों को पचा लेने की शक्ति अग्नि में नहीं होती, महाराज।····यदि होती तो प्रह्लाद जल गया होता। सीता भस्म हो गयी होती। वह खरे कंचन-सा निखरकर न निकलती।"

"तो क्या पाण्डवों के बच जाने की भी सम्भावना हो सकती है?"—धृतराष्ट्र की आकृति की भंगिमा अचानक बदल गयी थी।

"भगवान की इस मायावी सृष्टि में सब कुछ हो सकता है महाराज।"—

"तब, जिनकी लाशें मिली हैं वे कौन हैं?"

"यह तो भगवान ही जाने!"—विदुर ने मुस्कराते हुए कहा।

सुरेखा का कथन तो मुझे भी रहस्यमय लगा। मेरी आँखों के सामने पाण्डवों के वारणावत जाते समय का वह दृश्य अचानक घूम गया, जिसमें विदुर-जी युधिष्ठिर को कुछ समझा रहे थे। मन में एक बार आया, हो सकता है कोई युक्ति लगाकर विदुरजी ने पाण्डवों को बचा लिया हो। फिर मन-ही-मन पूछ बैठा—वह जली-भुनी लाशें किसकी थीं?

करीब एक वर्ष बीत गया।

स्थिति सामान्य हो चली थी। हस्तिनापुर आना-जाना अब मेरा पहले जैसा हो गया था। संयोग कुछ ऐसा कि उस दिन भी मैं धृतराष्ट्र के प्रासाद में ही था।

अहिच्छत्र में ही मुझे सूचना मिल चुकी थी कि द्रुपद की पुत्री कृष्णा का स्वयंवर होनेवाला है। मैंने अश्वत्थ को जाने की अनुमति दे दी थी। वह अपने कौरव मित्रों के साथ स्वयंवर में गया भी। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि स्वयंवर में मेरे पुत्र को ही सफलता मिले। इस इच्छा के पीछे मेरा पुत्र-प्रेम तो था ही, साथ ही राजनीति भी थी। मैं अपने पुत्र को द्रुपद का जामाता बनाकर उसे अपना आत्मीय भी बनाना चाहता था तथा उसे नीचा भी दिखाना चाहता था।

समय वह लेप है जो हृदय के घावों को धीरे-धीरे भर देता है। लोग पिछली बातों को भूलने लगे थे। पाण्डवों का वियोग अब कहानी बन गया था।

इधर कई दिनों से पितामह अस्वस्थ थे। मैं उनसे भी मिलने गया, पहली बार तो पता चला वे सो रहे हैं। दूसरी बार जाने पर वे बड़े प्रेम से मिले। बहुत देर तक मैं उनके पास बैठा रहा, पांचाल में होनेवाले स्वयंवर की भी चर्चा की, किन्तु उन्होंने कोई रुचि नहीं दिखायी। वे उदास-उदास से दिखे। मैंने अनुभव किया कि शरीर से अधिक पितामह का मन अस्वस्थ है।

जब धृतराष्ट्र के पास आया तो वे स्वयंवर का परिणाम जानने के लिए चिन्तित दिखायी दिये। वे गान्धारी से कह रहे थे,—"पता नहीं क्यों मेरे मन में एक बात उठती है।"

"क्या ?"

"....कि द्रुपद की कन्या मेरे ही परिवार में आयेगी।"—एक विचित्र विह्वलता उनके चेहरे पर पसर गयी थी। गान्धारी भी प्रसन्न थी।

मैं चुपचाप सामने बैठा हुआ दोनों को मन-मोदक खाते देख रहा था। मेरी उपस्थिति का भान उन्हें उस समय हुआ जब मैंने कहा—"मैंने भी अश्वत्थ को स्वयंवर में भेज दिया है।"

"कोई बात नहीं, कोई बात नहीं....यदि तुम्हारे यहाँ भी द्रौपदी आयी तो हम उसे अपने ही परिवार में आया समझेंगे।"—मुस्कराते हुए धृतराष्ट्र ने कहा।

......और हम सभी उस क्षण खिलखिला पड़े थे।

स्वप्न न होते तो मनुष्य का जीवन दूभर हो जाता है। उस समय हमारे स्वप्नों के संसार में वसंत आ गया था।

सहसा विदुरजी उद्घोष करते हुए प्रविष्ट हुए,—"बधाई हो महाराज.... बधाई हो....द्रुपद-कन्या आपके परिवार में ही आ रही है।"

इतना सुनना था कि धृतराष्ट्र जैसे उछल-से पड़े। हर्षातिरेक से विह्वल हो वह बूढ़ा नाचने-सा लगा,—नर्तकियों नाचो, गायकों गाओ, वादकों अपने वादन बजाओ, प्रजा-जन उत्सव मनाओ। आज कौरव-वंश पर भाग्य-लक्ष्मी प्रसन्न हुई है।....आज दुर्योधन को द्रुपदकुल-कन्या ने वरण किया है।"

फिर क्या था, प्रासाद के उत्तुंग शिखर पर तूर्य बजने लगा। भेरी, मृदंग गोश्रृङ्ग, शंख, जयमंगल आदि बाजों की ध्वनि से सारा राजभवन जैसे खिल-खिला उठा।

उस उल्लास में यद्यपि मैं भी शामिल था, पर मन में रह-रहकर यह बात बराबर उठती थी कि दुर्योधन का अहम् अब हम लोगों को जीने नहीं देगा। मैंने अनुभव किया कि विदुरजी कुछ और कहना चाह रहे हैं, पर अब वहाँ उनकी सुननेवाला कौन था? सब हर्षोन्माद में मस्त थे। राजभवन से सभी कर्मचारी सभा-कक्ष में आ गये थे। स्वर्ण-कलशों से मैरेय चषकों में उँड़ेली जाने लगी और सब पर एक विचित्र-सा नशा छा गया।

मैंने देखा, मैरेय-पान के महोत्सव के पूर्व ही विदुरजी सभाकक्ष से बाहर निकल गये थे और पितामह तो अभी तक नहीं आये थे।

सारे नगर में इस समाचार का जैसे विस्फोट-सा हो गया। पहली प्रतिक्रिया सबकी वही थी जो मेरी थी, पर सबने अपनी आकृतियों पर प्रसन्नता चिपका ली थी।

उल्लास जब सम पर आया, उन्माद जब सोने लगा, तब फिर विदुरजी आये। उन्होंने सबको सम्बोधित करते हुए कहा,—"बन्धुओ, एक आनन्दवर्धक समाचार और है।"—कुतूहल ने कोलाहल का गला जैसे दबोच दिया। उन्होंने

कहना जारी रखा—"आप सबको जानकर प्रसन्नता होगी कि पाण्डव जीवित हैं और द्रुपद की कठिन परीक्षा में अर्जुन ही खरा उतरा है।"

नाटक का दृश्य अप्रत्याशित रूप से परिवर्तित हो गया। कौरव-परिवार की लहलहाती खेती पर जैसे पाला मार गया। क्या सोचा गया था, क्या हो गया ? धृतराष्ट्र तो अवाक् से रह गये। गान्धारी के मुख से अचानक निकला—यह कैसे हो सकता है ?

पितामह को सूचना भेजवायी गयी। वे खाँसते और हाँफते हुए दौड़े आये। सबको आश्चर्य था, किन्तु जब सारी बातें विदुरजी ने विस्तार से बतायी कि किस प्रकार वे जलते हुए राजभवन से निकल भागे, तब हम लोगों ने पाण्डवों के भाग्य को सराहा।

निश्चित रूप से धृतराष्ट्र ने अपने भाग्य को कोसा होगा, पर उन्होंने ऊपर से स्वयं पर बड़ा नियंत्रण किया और बोले—"सचमुच यह अपार हर्ष का विषय है कि पाण्डव जीवित हैं। वह नीच पुरोचन अपनी करनी से मारा गया।.... यदि पांचाली पाण्डव-कुल में आयी, तो भी हमारे ही घर में आयी। हमें निश्चित रूप से खुशियाँ मनानी चाहिए।"

इतना कहकर धृतराष्ट्र अन्तःपुर में चले गये। कौरवों की प्रसन्नता मात्र नाटकीय रह गयी, पर पितामह बड़े प्रसन्न थे। मेरे मन पर बनते-बिगड़ते अनेक चित्रों ने मुझे यह मान लेने के लिए विवश कर दिया था कि इस सारे नाटक का सूत्रधार केवल विदुर है।

नगर में अब असली प्रसन्नता दिखायी पड़ी। उल्लास के लहलहाते सागर में सभी आकण्ठ मग्न थे।

मुझे बिलकुल स्मरण है कि लगभग डेढ़ घड़ी बाद ही दुर्योधन और कर्ण के घरघराते रथ हस्तिनापुर पहुँच गये। दोनों के चेहरे उतरे थे, फिर भी दोनों की अकड़न में जरा भी कमी नहीं हुई थी। दोनों श्रीहत सम्राट् की तरह ऐंठे थे। मुझे देखते ही दोनों मुँह फेरकर अतःपुर में चले गये, अभिवादन तक नहीं किया। फिर भला मैं क्यों बोलता ? मैंने समझ लिया कि प्रसन्नता की

लहर और विद्वेष की अग्नि से प्रबल वाष्प बनेगी और गम्भीर विस्फोट होगा। मैं चुपचाप बिना किसी से कुछ कहे अहिच्छत्र की ओर चल पड़ा।

मेरे प्रासाद में भी विभिन्न उदासी छायी थी। प्रतिहारी के अभिवादन करने के ढंग से ही मैं समझ गया कि कुछ हो गया है। अंतःपुर में पहुँचने पर पता लगा कि अश्वत्थ घायल होकर बिस्तर पर पड़ा है। अब मुझे भी कुछ-कुछ याद आने लगा कि कर्ण और दुर्योधन के वस्त्रों पर भी रक्त के धब्बे थे, पर वे इतनी शीघ्रता से कतराकर चले गये कि उस समय मस्तिष्क को अन्यथा सोचने का अवसर ही नहीं मिला।

मैं शीघ्रता से अश्वत्थ के शयन-कक्ष में पहुँचा। कृपी अन्य परिचायिकाओं के साथ वहाँ बैठी थी। यद्यपि अश्वत्थ की आँखें मुँदी थीं, किन्तु मुझे ऐसा लगा कि वह जग रहा है और मुझे देखकर उसने आँखें मूँद ली हैं। पुत्र, पिता के लिए प्रकृति का सबसे बड़ा आकर्षण है, पर मैं उसके लिए सबसे बड़ा विकर्षण हो गया था। यह कितना विचित्र था।

मैं कुछ क्षणों तक मौन उसे देखता रहा, फिर कृपी को बाहर आने का संकेत कर चुपचाप निकल आया।

अपने कक्ष में आकर मैंने कृपी से इस सन्दर्भ में पूछा, उसने बताया कि लगता है किसी बात को लेकर इन लोगों का पाण्डवों से युद्ध हो गया है और भीम तथा अर्जुन ने इन्हें मार भगाया है।

"मैं जो नहीं चाहता था, आखिर वही हो गया।"—मैंने बड़ी वेदना से कहा।

"क्या नहीं चाहते थे ?"

"यही कि अश्वत्थ और अर्जुन के बीच कभी युद्ध की स्थिति पैदा न हो।"

"इससे क्या, तुम्हारे तो दोनों हाथों में लड्डू है।"—वह मुस्कराती हुई कहती गयी,—"यदि अश्वत्थ जीतता तो वह तुम्हारा पुत्र ही है"''और यदि अर्जुन जीता तो वह तुम्हारा मानस-पुत्र ठहरा।"

कृपी की मुस्कराहट कितनी तीखी थी? उसने अर्जुन के लिए मानस-पुत्र का प्रयोग कितना गलत किया था। मैं भीतर-ही-भीतर तिल-मिलाकर रह गया। कदाचित् एक क्षण ही बाद बोला,—"तू कितने भ्रम में है कृपी।''''अब मेरे हाथों में लड्डू कहाँ हैं, वह धरती पर गिरकर चूर-चूर हो गया।''''देखो हथेलियाँ बिलकुल खाली हैं, एकदम खाली।"—मैं हथेलियाँ दिखाते हुए बोला। फिर कुछ क्षणों तक सोचता रहा, सहसा मेरे मुख से निकला,—"आज जीवन में पहली बार हारा हूँ।'''यह अश्वत्थ की पराजय नहीं, वरन् मेरी पराजय है। अद्भुत पराजय! जिस अर्जुन ने द्रुपद को मेरे लिए बन्दी बनाया था, उसी अर्जुन को द्रुपद ने अपनी पुत्री के लिए बन्दी बना लिया। नियति की यह कैसी विडम्बना है कृपी? आज मेरी दोनों हथेलियाँ खाली हो गयीं। मन के लड्डू धरती पर गिरकर मिट्टी में मिल गये। स्वप्न चूर-चूर हो गया। अश्वत्थ का तो तन घायल है, वह औषधि से ठीक हो जायेगा, पर मेरा मन घायल है कृपी, जिसे संसार की कोई भी औषधि ठीक नहीं कर सकती।"'''इतना कहते-कहते मैं शय्या पर ढुलक गया।

कृपी को मेरी मनःस्थिति समझते देर नहीं लगी। वह मेरा सिर सहलाने लगी और एक परिचारिका को कादंबरी (कदंब से बनी मदिरा) लाने का संकेत किया। मुझे कई चषक पिलाये गये। सागर की अपेक्षा मदिरा ने अधिक मनुष्यों को डुबाया है, पर इस समय वह भी मुझे डुबो पाने में असमर्थ रही। मैं उसमें तैरता और बड़बड़ाता रहा,—"''''अब द्रुपद जीत गया''''द्रोण हार गया कृपी''''अर्जुन, जिसके लिए मैंने क्या नहीं किया अब मेरे हाथ से निकल गया।''''एकदम निकल गया।"

मुझे ठीक याद है, उस समय न मैं सोया था और न जाग रहा था, तन्द्रा में पड़ा था। मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरा घायल पुत्र मेरे सामने खड़ा है। वह पट्टी से बँधे अपने घाव दिखला रहा है। फिर उसने एक ओर तर्जनी से

संकेत किया—उधर पाण्डव खड़े हैं, साथ में द्रौपदी है। मैंने उन्हें देखा। उन्होंने मुझे प्रणाम किया। फिर मेरे पुत्र ने दूसरी ओर संकेत किया, उधर कौरव थे—दुर्योधन, दु:शासन, कर्ण, दुर्मुख....और न जाने कौन-कौन? वे क्रोध में किट-किटा रहे थे। कुछ बोलना चाहकर भी चुप थे।....पर अश्वत्थ ही जैसे मुझसे कहने लगा,—"पिताजी, ये दो पक्ष हैं। इन दो में से अब एक को ही आपको चुनना है। या तो मुझे कौरवों के साथ चुनिये या पाण्डवों को चुनिये।....फिर धीरे-धीरे दोनों पक्ष लुप्त होते गये, केवल अश्वत्थ का ही चेहरा उभरता गया और वह चीखता रहा,—"....चाहे हमें चुनिये या पाण्डवों को, चाहे हमें चुनिए या पाण्ड...।

मैं एकदम घबरा गया। मैंने आँखें खोल दीं। कहीं कुछ नहीं था, केवल अंधेरा था, काटता हुआ अंधेरा और चुभती हुई पौष की बर्फीली हवा।

मानसिक संघर्षों से भरा यह सबेरा हस्तिनापुर से बुलावा लेकर आया था। दूत अविश्वस्त था इसलिए मैंने उससे बहुत-सी बातें नहीं की। यद्यपि यह जानने की इच्छा अवश्य थी कि किस सन्दर्भ में बुलाया गया हूँ।

"अश्वत्थ घायल है और मैं भी अस्वस्थ हूँ।"—पहले मैंने दूत को कहलाया। मैं स्वयं उससे नहीं मिला।

"महाराज का विनीत आग्रह है कि आप सन्ध्या के पूर्व अवश्य मिलने की कृपा करें। उन्हें कुछ अत्यन्त आवश्यक मंत्रणा करनी है।"—दूत ने मेरे परिचारक से कहा और चला गया।

आज हस्तिनापुर जाने की मेरी बिल्कुल इच्छा नहीं थी, किन्तु कृपी ने समझाया कि जब तक राज्य-परिवार से वृत्ति लेते हो तुम्हें उनके आदेशों का पालन करना चाहिए।

अस्तु, मध्याह्न के कुछ बाद ही अहिच्छत्र से चल पड़ा।

धृतराष्ट्र की मनःस्थिति के सम्बन्ध में बड़ी जिज्ञासा थी, क्योंकि वे स्वच्छ मन के व्यक्ति नहीं थे। कोई निश्चित नहीं कि वे किस समय कौन-सा रुख ले लें। सोचता था कि उनसे मिलने के पूर्व उनके मन का अन्दाज लग जाता तो अच्छा था। अतएव मैं हस्तिनापुर में आते ही सबसे पहले विदुरजी से मिला। उन्हें भी कुछ पता नहीं था। उनका अनुमान था कि वर्तमान स्थिति पर विचारार्थ ही उन्होंने हम लोगों को बुलाया है।

"तो क्या आप भी मंत्रणा के समय उपस्थित रहेंगे ?"—मैंने पूछा।

"अभी तक तो यही स्थिति है।"—उन्होंने मुस्कराते हुए कहा।

"हम····आप····और····?"

"····और कदाचित् पितामह को भी बुलाया है ?"

"हो सकता है, उन्हें कुछ मालूम हो ?"—मैंने कहा।

"ऐसी आशा तो नहीं है। वे अब बहुधा उदासीन ही रहते हैं। वारणावत की घटना के बाद पहली बार द्रौपदी-स्वयंवर का समाचार सुनकर वे राजभवन में पधारे थे।"—विदुरजी ने कहा।

मैंने अनुभव किया कि सभी मेरी जैसी स्थिति में ही हैं, पर मेरी जैसी संघर्ष की मनःस्थिति शायद ही किसी की रही हो।

फिर भी विदुरजी की राय थी कि मैं पितामह को प्रणाम करता आऊँ, कदाचित् कोई नयी बात मालूम हो जाये।

किन्तु जब मैं पितामह के यहाँ पहुँचा तो वे कुछ शिथिल ही दिखायी पड़े। पौष के उतरते सूरज की मुलायम धूप में पलंग पर लेटे हुए पैर की गाँठों में तैल मर्दन करा रहे थे। पिछले कुछ दिनों से उनके पैर में वात की पीड़ा हो रही थी।

उनकी अत्यन्त प्रफुल्ल दृष्टि ने मुझे देखा—"कहिए, आज आप भी बुलाये गये हैं ?"

मैंने मुस्कराते हुए स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

पहले उनके स्वास्थ्य की और फिर हस्तिनापुर के राजनीतिक स्वास्थ्य की चर्चा आरंभ हुई। पितामह पाण्डवों के जीवित बच जाने से अत्यन्त प्रसन्न थे,

किन्तु धृतराष्ट्र की मनःस्थिति का अन्दाज उन्हें भी नहीं था। मेरे पूछने पर वे बस इतना बोले—"पुरवा हवा और धृतराष्ट्र सामने से बड़े अच्छे लगते हैं।"

उनकी मुस्कराहट का साथ मेरी उन्मुक्त हँसी ने दिया।

इच्छा थी कि पितामह के साथ ही राजभवन में चलूँ, फिर विचार आया कि साथ ही चलने पर धृतराष्ट्र यह न सोचें कि ये लोग पहले से ही मंत्रणा करके आ रहे हैं, क्योंकि वे अत्यन्त शंकाकुल मन के व्यक्ति थे। अतएव मैं चुपचाप अभिवादन कर चल पड़ा।

राजभवन के उद्यान में पुलोमा अत्यन्त प्रसन्न दिखायी पड़ी। सम्भवतः वह सन्ध्या के पूजन के लिए फूल चुन रही थी। मुझे देखते ही वह गौरैये की तरह फुदकती आयी और उसने कुछ पुष्प चरणों पर बिखेर दिये। उसके अभिवादन का यह ढंग बड़ा मधुर लगा। बातों के सिलसिले में उसी ने बताया कि उस अन्धे के मुख में कालिख लगी है, उसी को पोंछने के लिए आप लोगों को बुलाया गया है।

"मैं तुम्हारी पहेली बूझ नहीं सका, पुलोमा।"—मैंने मुस्कराते हुए उसकी पीठ थपथपायी।

"इसमें पहेली बूझने की क्या बात है? दुर्योधन और कर्ण चाहते हैं कि पाण्डव हस्तिनापुर में किसी प्रकार न आने पावें, पर बूढ़ा चाहता है कि उन्हें किसी तरह बुलाया जाय।"

"अच्छा तो धृतराष्ट्र भी अपने पुत्रों की इच्छा के विरुद्ध सोचने लगे हैं?"—आश्चर्य व्यक्त करते हुए मैंने कहा।

"हाँ, कभी-कभी सोचते जरूर हैं, पर कर नहीं पाते।"—वह कहती गयी—"शायद इस बार आपकी मदद से वह कुछ कर पायें।"

सन्ध्या अपना रंगीन अंचल फैलाये इसके पूर्व ही मैं धृतराष्ट्र के मंत्रणा-कक्ष में पहुँच चुका था। विदुरजी वहाँ पहले से ही बैठे थे। वहाँ कर्ण और

दुर्योधन भी थे। लगता है कुछ बातें हो रही थीं, पर मुझे देखते ही सब चुप होकर अभिवादन में खड़े हो गये। दुर्योधन उठकर जाने लगा, पर कर्ण ने उसका हाथ दबाया। वह धीरे से उसी के बगल में बैठ गया।

मैं तो चुप था ही और सभी चुप थे। लगता है, सब इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि कोई बात शुरू करे, पर इस कार्य में कोई पहल करता दीखता नहीं था। यह चुप्पी विचित्र घुटन जैसी थी कि अचानक पितामह का प्रवेश हुआ।

बड़े सत्कार से धृतराष्ट्र ने पितामह को बैठाया और पाण्डवों के जीवित बच जाने तथा पांचाल में सम्पन्न हुए स्वयंवर की चर्चा कर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की। तब पूछा,—"अब आप बताइए हमें क्या करना चाहिए?"

एक क्षण चुप रहने के बाद पितामह ने दुर्योधन और कर्ण की ओर संकेत करते हुए कहा,—"आप इन लोगों से पूछ रहे हैं या हम लोगों से?"

अब धृतराष्ट्र को अनुभव हुआ कि यहाँ कर्ण और दुर्योधन भी बैठे हैं। उन्होंने उन्हें एकदम बाहर चले जाने का निर्देश दिया। उनकी मुद्रा से स्पष्ट था कि यह बात उन्हें अच्छी नहीं लगी। पर किसी प्रकार कसमसाते हुए वे बाहर निकल ही गये।

"......मैं तो उन्हें वारणावत भेजने के पक्ष में नहीं था, आपने ही उन्हें भेजा था, अब आप ही निर्णय करें कि हमें क्या करना चाहिए।"—पितामह के स्वर में आक्षेप की झलक स्पष्ट थी।

"हाँ यह कलंक तो मेरे ही मस्तक पर लगा है।"

"तब यों कहिए कि हम लोग कलंक का टीका धोने के लिए बुलाये गये हैं।"—पितामह बोले।

"आप जो भी समझ लें।"—धृतराष्ट्र की आवाज अत्यन्त दबी थी।

"तो मेरी स्पष्ट राय है कि पाण्डवों को सम्मानपूर्वक बुलाया जाय और उनका राज्य उन्हें सौंप दिया जाय।"

पितामह की बात पर धृतराष्ट्र कुछ सोचने लगे।

"इसे अच्छी तरह आप समझ लीजिए, श्रीमान् ! जनता सारे षड्यंत्र का केन्द्र-विन्दु आप को ही समझती है। सम्पूर्ण हस्तिनापुर पाण्डवों को जलाकर मार डालने के प्रयत्न में पुरोचन को नहीं, बल्कि आपको ही दोषी मानता है।"

मुझे लग रहा था कि पितामह के स्वर में सचमुच आज हस्तिनापुर बोल रहा है।

पितामह ने मुद्रा बदली और बोलते रहे,—"......मेरे लिए पाण्डव और कौरव दोनों बराबर हैं। मैं किसी का अहित नहीं देख सकता, पर मैं अन्याय भी नहीं कर सकता।'......पाण्डवों के जीवित रहते यह राज्य कौरवों को कैसे मिल सकता है ?"

"....तब इसका मतलब है कि पाण्डवों को जीवित ही न रखा जाय।"—लगता है कर्ण दरवाजे से छिपकर बातें सुन रहा था, वह अचानक भीतर आकर बोला।

"तुम्हारा वश चले तो तुम यह करके भी देख लो।"—पितामह की आवाज में अत्यन्त रुक्षता थी।

धृतराष्ट्र ने कड़कती हुई आवाज में कर्ण को डाँटा—तुमको किसने यहाँ बुलाया है। अभी बाहर जाओ, वर्ना मैं ही उठकर चला जाता हूँ।"—कर्ण चुपचाप कक्ष के बाहर निकल गया।

"जब आपके पुत्रों की यही हालत है तब भगवान ही आपका भला करे।—" पितामह आवेश में बोलते गये—"....इसे अच्छी तरह समझ लीजिए श्रीमान्, जिसे लाक्षागृह भस्म नहीं कर सका उसका इन्द्र भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता।"

इतना कहकर पितामह चुप हो गये। अस्वस्थ तो थे ही। उनकी तेज चलती साँसें दमित आक्रोश की सूचना देने लगीं। हम सभी कुछ क्षणों तक चुप ही थे। फिर बड़ी नम्रता से धृतराष्ट्र ने मेरी राय जाननी चाही। मैंने कहा—"मैं भी पितामह से सहमत हूँ।"

"नमक खाया है हमारा और सहमत हो रहा है पितामह की राय से।"—एक तीखी आवाज तीर-सी आकर चुभ गयी। निश्चित ही यह द्वार के

बाहर से आयी आवाज दुर्योधन की थी। पितामह तिलमिला-से गये। उनका चेहरा लाल हो गया। वे विना कुछ कहे-सुने लँगड़ाते हुए उठे और बाहर निकल गये। उनके पीछे-पीछे मैं भी निकल आया। मेरा अन्तर भस्म हो रहा था। मैं सीधे अहिच्छत्र चला आया।

बाद में पता चला कि विदुरजी ने धृतराष्ट्र को खूब समझाया। नीति की बहुत सारी बातें कहीं और पाण्डवों को ससम्मान बुलाने के लिए उन्होंने राजी कर लिया।

● ● ●



जिस दिन पाण्डव विदुरजी के साथ हस्तिनापुर में आये उस दिन उनकी अगवानी के समय मैं भी था। सारा नगर उमड़ पड़ा था। नर-नारी अपने मन-सिंहासन पर विराजमान इन राजपुरुषों को जिज्ञासा-भरी दृष्टि से देख रहे थे। जिन्हें भस्म करने की कुचेष्टा की गयी थी उनका पराक्रम कंचन-सा दमकता हुआ कुल-वधू लेकर आया था।

मुझे देखते ही पाण्डव बारी-बारी से मेरे चरणों पर गिरने लगे। यों तो औरों को मैंने सामान्य ढंग से ही आशीर्वाद दिया किन्तु जब अर्जुन की बारी आयी, मैं उसे अपनी छाती से लगाते हुए बोला—"अरे आओ द्रुपद के जामाता।"

कदाचित् मेरे मन की कुंठा ही मेरे स्वर से मुखरित हुई थी, मैं समझ नहीं पाया कि इसका आभास अर्जुन को हुआ या नहीं, पर वह कुछ नहीं बोला, अत्यन्त संकुचित भाव से मुस्कराता हुआ चला गया।

द्रौपदी मुझे पहली दृष्टि में ही अद्भुत लगी। नारी के व्यक्तित्व की शीतलता के स्थान पर उसमें एक आग थी। वर्ण से श्याम होते हुए भी अग्नि-शिखा की भाँति परम देदीप्यमान थी। उसकी तेजस्विता आँखों से भभक रही थी। द्रुपद-कन्या होकर भी वह द्रुपद से सर्वथा भिन्न थी। उसे भी मैंने सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया।

यद्यपि कौरवों के व्यक्तित्व ने भी प्रसन्नता का खोल ओढ़ रखा था, फिर भी वे कुछ बुझे-बुझे-से लगे। स्पष्ट था कि किसी भी समय कोई भी स्थिति पैदा हो सकती है। कौन इस झमेले में पड़े। मध्याह्न के बाद ही मैंने नगर छोड़ देने का निश्चय किया।

आज बादल छाये थे। दोपहरी भी ठंढ से जम रही थी। मैंने विदुरजी से कहकर ही चल देना उचित समझा, किन्तु वे मुझे अहिच्छत्र लौटने की अनुमति देने के पक्ष में नहीं थे"—देखते नहीं हैं, मौसम की मुद्रा खराब है ?"

मैं भी हँसते हुए ही बोला—"राजप्रासाद की ही मुद्रा कौन अच्छी है ?···· एक ओर प्रसन्नता की शीतल धारा हैं तो दूसरी ओर वैमनस्य की ज्वाला। वहाँ भी शीघ्र ही वाष्प-खण्ड उठेंगे और बादल छा जायेंगे।"

"जब उठेंगे तब उठेंगे आज तो मौसम सुहावना है।"

"यहाँ की राजनीति के मौसम और साँप का विश्वास क्या ? कब तक शान्त पड़ा है और कब फन काढ़कर खड़ा हो जायेगा।"

"इसीलिए तो आपको रोक रहा हूँ। आप में सर्पदंश का विष उतारने की सामर्थ्य है।"—विदुरजी ने मुस्कराते हुए कहा।

"महाराज, इस कला से मैं बिल्कुल अनभिज्ञ हूँ। मैं तो विच्छू झाड़ने का भी मंत्र नहीं जानता।"

मेरी हँसी के साथ ही विदुरजी ने ठहाका लगा दिया।

इसके बाद मैं सीधे अहिच्छत्र की ओर चल पड़ा। तेज हवा पर सवार जाड़े की हल्की फुहार रथ पर पड़े मोटे कपड़े के 'ओहार' को चीरकर भीतर आ रही थी। मैं ही नहीं, मेरे जवान परिचारक भी काँप रहे थे। अपने प्रासाद तक पहुँचते-पहुँचते दिन अँधरे का काला कम्बल ओढ़कर अच्छी तरह सो गया था।

महल में पहुँचते ही कृपी ने बताया,—"तुम्हारा शिष्य आया था।"

"मेरा शिष्य ?"—मैं कुछ समझ नहीं पाया। मेरी प्रश्नवाचक मुद्रा बनी रही।

वह मुस्कराते हुए बोली,—"वही ऽऽ···जिसका तुमने अँगूठा कटवा लिया था।

"एकलव्य ?"

"हाँ···हाँ···वही।"

"क्या कह रहा था ?"

"उसे भी पता चल गया कि गुरुजी के परम प्रिय शिष्य ने अपने पराक्रम से द्रुपद-कन्या प्राप्त की है।····इस खुशी में उसे कुछ पुरस्कार चाहिए था।"

परम्परा यह है कि त्योहारों और उत्सवों पर आदिवासी श्रीमानों के यहाँ पुरस्कार लेने आते हैं, एक लव्य भी इसी सन्दर्भ में आया था। बात बिल्कुल साधारण थी, पर मुझे अत्यन्त असाधारण लगी। आज तक तो वह कभी नहीं आया, पर आज ही क्यों आया? कोई अश्वत्थ को तो पांचाली मिली नहीं थी। यदि उसे जाना ही था तो हस्तिनापुर जाता। फिर मेरे यहाँ क्यों आया? बहुत दिनों से मन में पड़ा भग्न तार एक बार फिर बज उठा। उसका चेहरा आँखों के सामने नाचने लगा। मुझे ऐसा लगा जैसे वह मुझसे कह रहा हो,—"आचार्य, जिस लक्ष्य को भेदकर तुम्हारे प्रिय शिष्य ने द्रौपदी प्राप्त की है उसे मैं भी भेद सकता था, बड़ी आसानी से भेद सकता था।....पर जानते हैं मैं क्यों वहाँ नहीं गया?....क्योंकि मैं उच्च कुल का नहीं हूँ।....एक साधारण भील हूँ....ऐसा भील जिसे आप अपना शिष्य भी नहीं बना सकते थे। तब भला द्रौपदी अपना पति कैसे बनाती।....शिष्य न बनाकर भी आपने मेरा अँगूठा कटवा लिया फिर यदि द्रौपदी अपना पति न बनाकर मेरा सिर ही कटवा लेती, तो मेरे बूढ़े माँ-बाप का क्या होता?"

मुझे ऐसा लगा जैसे वह इतना कहकर जोर से हँसने लगा। इस व्यंग्य-भरे अट्टहास का दबाव मेरे मस्तिष्क पर असह्य हो गया।

इसी बीच मेरी पत्नी ने मुस्कराते हुए कहा,"....क्या सोचने लगे?"

मैं स्वप्न के आकाश से धड़ाम से वास्तविकता के धरातल पर आ गया और घबराते हुए बोला—"कुछ नहीं,....कुछ नहीं....यों ही सोच रहा था कि बेचारे को कुछ दिया नहीं गया और वह चला भी गया।"

"भला ऐसा कैसे हो सकता है?....एक तो पूजा, दूसरे स्वामिभक्त आदिवासी, तीसरे आपका शिष्य, वह भी ऐसा जो अपना अँगूठा काटकर आप को दे चुका....तब भी मैं उसे कुछ भी नहीं देती।"

चोट पर चोट अधिक लगती है। कृपी के शब्दों से भी मैं तिलमिला उठा, पर स्वयं को सँभालते हुए बोला—"अच्छा यह तो बताओ, तुमने उसे दिया क्या?"

"पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ।''''और उससे भी अधिक मूल्यवान एक वस्तु और।"

"वह क्या?"

"तुम्हारी ओर से आशीर्वाद।"

समय अपनी गति से चलता गया। इतिहास पन्ने पलटता गया।

हस्तिनापुर के राजनीतिक क्षितिज ने कई रंग बदले।

धृतराष्ट्र ने विदुर और भीष्म की राय से एक मध्यम मार्ग निकाला। पाण्डवों को आधा राज्य देकर अलग कर दिया गया और उनसे कहा गया कि पुराना जो खाण्डवप्रस्थ है उसी को अपनी राजधानी बना लें।

यमुना के किनारे खाण्डवप्रस्थ नगरी किसी समय वैभव-सम्पन्न थी। पुरु, नहुष, ययाति जैसे प्रतापी पूर्वजों की राजधानी थी, किन्तु अब विगत ऐश्वर्य की कहानी कहनेवाले वहाँ खण्डहर ही शेष रह गये थे। श्रीहत सम्राट् की तरह अपने इतिहास को छाती से लगाये वर्तमान पर आँसू बहाती यह नगरी जंगलों से घिरी थी। फिर भी पाण्डवों की सज्जनता ने इसे स्वीकार कर लिया। इसका पुनर्निर्माण कराया गया। खाण्डवप्रस्थ अब इन्द्रप्रस्थ हो गया।

कितना अच्छा है। हस्तिनापुर गंगा के किनारे और इन्द्रप्रस्थ यमुना के किनारे, दोनों नगरों की भौगोलिक स्थिति अत्यन्त मनोरम है।

दोनों नगरों की दूरी अहिच्छत्र से करीब-करीब बराबर थी। अन्तर इतना ही था कि इन्द्रप्रस्थ जाने के लिए मुझे गंगा पार करना पड़ता था और हस्तिनापुर मैं सीधे पहुँच जाता था। यही कारण था कि पाण्डवों के बार-बार बुलाये जाने पर भी मैं इन्द्रप्रस्थ बहुत कम जा पाता था।

एक बात और थी। राज्यों के बँटवारे के साथ-ही-साथ व्यक्तियों का भी बँटबारा हो गया था। कौरवों ने मुझे अपने ही पक्ष में रखा था और मुझसे यह आशा की थी कि मैं पाण्डवों के पक्ष में कभी नहीं जाऊँगा। कौरवों के इस

निर्णय के मूल में मेरे पुत्र ने गम्भीर भूमिका निभायी थी। मैं यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि इस सम्बन्ध में किसी ने किसी से कुछ कहा नहीं था। केवल संकेतों, भावनाओं और व्यवहारों के आधार पर ही यह सब कुछ हो गया था।

फिर भी अर्जुन मेरे यहाँ बहुधा आता था और कई समस्याओं पर राय भी लेता था, पर मैं कुछ खुलकर उससे नहीं कहता, क्योंकि मुझे भय रहता कि यह सारी बात अश्वत्थ के माध्यम से हस्तिनापुर पहुँच जायेगी।....और फिर सम्बन्धों की बनी-बनायी खीर पर मक्खी क्यों पड़े?

फिर भी, मैं पहली बार खाण्डवप्रस्थ उस दिन गया था, जब पाण्डवों ने उस धरती का पूजन किया था। बड़े आग्रह से लोग मुझे ले गये थे, मेरे साथ श्रीकृष्ण भी थे।

उस दिन हम लोगों ने उस प्रदेश का एक विहंगम पर्यवेक्षण भी किया था। इन खण्डहरों के चारों ओर जो घने जंगल हैं, उनका क्या किया जाय? विचार का यही मुख्य विषय था।

मेरी राय थी कि जंगलों को ज्यों-का-त्यों रहने दिया जाय, राजधानी का आरण्यक सौन्दर्य बना रहे। पर श्रीकृष्ण इस राय के नहीं थे। उनका विचार था कि राजधानी के चारों ओर जंगल नहीं रहना चाहिए। ऐसा होने से शत्रु उसमें आसानी से छिपे रह सकते हैं और अवसर मिलने पर आक्रमण कर सकते हैं।

"तब इतने विशाल जंगल को कैसे समाप्त किया जायेगा?"

"संसार में कोई भी कार्य असम्भव नहीं है आचार्य।" श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा था, पर यह नहीं बताया था कि जंगल को समाप्त करने के लिए वे क्या करेंगे?"

"इस जंगल में निवास करनेवाले जीवों का क्या होगा?"—मैंने पूछा।

"वे मरेंगे।" उन्होंने छूटते ही उत्तर दिया।

"तब इनके जीव-हत्या का पाप आप सबको लगेगा।"

"कैसा पाप ?....और कैसी हत्या ? न हम किसी की हत्या कर सकते हैं न निर्माण। हम तो निमित्त मात्र हैं। ये सारे-के-सारे जीव उसी दिन मर चुके हैं जिस दिन इस प्रदेश को राजधानी बनाने के लिए धृतराष्ट्र ने इसे पाण्डवों को सौंपा है।"

श्रीकृष्ण ने इतने विश्वास और इतनी गम्भीरता से कहा कि उनका यह कथन मेरे मन में बार-बार प्रतिध्वनित होता रहा। यद्यपि उस समय मेरी उनकी इससे अधिक बातचीत नहीं हुई, लेकिन मैं समझ गया यह व्यक्ति स्वयं में विलक्षण है।

वहाँ से जब मैं लौटा तो गंगा पार करते समय नाव से उतरते हुए मेरा पैर फिसल गया और गहरी मोच आ गयी।

फिर मैं अहिच्छत्र से बहुत दिनों तक बाहर नहीं निकला।

सुना, पूरा खाण्डव वन जला दिया गया और उसके स्थान पर अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से वास्तुकला विशेषज्ञ मय के निर्देशन में नयी राजधानी बनायी गयी।

अप्रतिम था यह नव-निर्मित इन्द्रप्रस्थ। जिस दिन पाण्डवों ने प्रासाद-में प्रवेश किया था, उस दिन विराट् उत्सव हुआ था। मैं किसी कारणवश जा नहीं पाया था, किन्तु अश्वत्थ कौरवों के साथ गया था। वह भी आयोजन की भव्यता से प्रभावित था।

निश्चित है कि इन्द्रप्रस्थ हस्तिनापुर से अधिक सुन्दर एवं सामरिक दृष्टि से अधिक सुरक्षित नगरी है। कौरवों के लिए जलन का यह भी एक कारण हुई।

मेरे लिए तो यह बड़ा अच्छा हुआ। हस्तिनापुर में जब कौरव और पाण्डव साथ ही रहते थे तब मैं वहाँ जाने से बहुत कतराता था। कैसे मैं कौरवों से मिलूँ और पाण्डवों से न मिलूँ। पर पाण्डवों से मिलना दुर्योधन को अच्छा नहीं लगता था। वह मेरे विरुद्ध धृतराष्ट्र के कान भरता था! वह बूढ़ा आँखों का अन्धा तो था ही, पर कान का भी कच्चा था। अजीब तनाव की स्थिति रहती थी।

अब मैं इस प्रकार के तनाव से सर्वथा मुक्त था और सप्ताह में दो-एक दिन अवश्य ही हस्तिनापुर जाता था, किन्तु बहुत दिनों से विदुरजी से भेंट नहीं हुई थी और न किसी ने उनके सम्बन्ध में कुछ बताया ही। निदान मैं एक दिन उनके निवास स्थान पर ही पहुँच गया। वे अपने अध्ययन-कक्ष में ग्रंथों में डूबे हुए थे। मुझे देखते ही उठ खड़े हुए, बड़ी आवभगत की।

वे अस्वस्थ तो नहीं थे, पर उनकी आकृति की झुर्रियों में चिन्ता की गम्भीर रेखाएँ साफ उभर रही थीं। आँखें तूफान में जलती दीप-शिखा की भाँति सतेज होती हुई भविष्य के अनिश्चय के कारण खोयी-खोयी-सी जान पड़ीं।

"इधर कई दिनों से भेंट नहीं हुई, सोचा आप से मिलता चलूँ।"—मैंने कहा।

"बड़ी कृपा की आपने।" इतना कहकर वे अचानक चुप हो गये, मानो वे प्रतीक्षा करने लगे हों कि मैं ही कुछ कहूँ।

मैंने ही बातों का सिलसिला आरम्भ किया,—"....राज्य का विभाजन होकर अच्छा ही हुआ। ....पाण्डव और कौरवों में टकराव की आशंका कम हो गयी।"

"ऐसी बात तो दिखायी नहीं देती। अन्तर बस इतना है कि पहले बस एक ही राज्य के भीतर टकराव था। अब दो राज्यों के बीच में टकराव होगा जिसकी गम्भीरता पहले से बहुत अधिक होगी।"

"क्या इस टकराव को बचाया नहीं जा सकता ?"

"क्या बचाया जा सकेगा ? कौन सुनेगा हम लोगों की बातें ?"—बड़ी वितृष्णा थी विदुरजी की आवाज में,—"....पाण्डव अपनी योग्यता से बढ़ते चले जा रहे हैं, उन्हें हमारी बातें सुनने का अवकाश नहीं। ....कौरव उनकी बढ़ती से ही जले जा रहे हैं, उन्हें हमारी बातें सुनने का अवसर नहीं। एक वैभव के शिखर पर चढ़ने की चेष्टा में परेशान है, दूसरा उसका पैर काट देने की कुचेष्टा में संलग्न है।...दोनों अपनी-अपनी परेशानियों में उलझे हैं पर कोई किसी की सुननेवाला नहीं है आचार्य !"

मुझे स्पष्ट प्रतीत हुआ कि विदुरजी पाण्डवों से भी नाराज हैं।

"कौरवों की अहंमन्यता तो आप को न सुनने का दुस्साहस कर सकती है, पर पाण्डवों की···"मैं अपना वाक्य पूरा करूँ कि इसके पहले ही वे बोल पड़े,—"·····महत्त्वाकांक्षा तो मुझे भी अनसुना कर सकती है।"

मैं कुछ समझ नहीं पाया किन्तु बाद में उन्होंने ही बताया कि पाण्डवों की महत्त्वाकांक्षा राजसूय यज्ञ के लिए बलवती है····और जब से इसे धृतराष्ट्र ने सुना है उसके मन में ईर्ष्या-यज्ञ चल रहा है। रोज ही उनकी तथा उनके पुत्रों की गुप्त मंत्रणाएँ होती हैं।"

"तो इस समय इस सारे तनाव की जड़ में यह राजसूय यज्ञ ही है ?"

"मुझे लगता तो यही है।"—विदुरजी ने बड़े विश्वास के साथ कहा।

"तब पाण्डव इसे न करें तो हानि क्या है ?"

"महत्त्वाकांक्षा हानि और लाभ से निरपेक्ष होती है आचार्य। वह केवल अहं के धरातल पर कुंडली मारकर नागिन की तरह फुफकारती है।"

"····तब तो इस नागिन के विष का परिणाम भी पहले उन्हीं लोगों को भोगना पड़ेगा।"

"ऐसा भी नहीं लगता ?"—विदुरजी सोचते हुए कहते गये,—"····क्योंकि नागनथैया करनेवाला भी उनके पास है।"

"कौन ?"

"श्रीकृष्ण।"

मैं चुप रहा। श्रीकृष्ण की अनेक भंगिमाएँ मेरी आँखों के सामने से तैर गयीं।

"कृष्ण को आप साधारण मत समझिए, वह असाधारण व्यक्ति है। अब पाण्डवों की राजनीति उसके हाथों में है। वह जो चाहेगा वही होगा।"—विदुरजी स्पष्टतः यह कहना चाहते थे कि अब पाण्डवों के लिए हमारी बातों का उतना महत्त्व नहीं रहा।

"लेकिन मैं यह नहीं समझ पाया कि इसमें कृष्ण का क्या लाभ है ?"

विदुरजी जोर से हँसे। उनकी यह खिलखिलाहट मानो मुझसे कह गयी,—युद्ध-नीति के आचार्य, राजनीति तुम्हारी समझ के बाहर की वस्तु है।

बाद में उन्होंने एक क्षण में सारी राजनीति समझाते हुए कहा—"श्रीकृष्ण का शत्रु जरासंघ है। श्रीकृष्ण स्वयं उसे हरा नहीं सके। उसी के कारण उन्हें मथुरा से भागना पड़ा और द्वारिका बसानी पड़ी। उस जरासंध के जीवित रहते यह यज्ञ हो नहीं सकता।"

"तब ?"

"तब पाण्डवों को जरासंध का वध करना होगा। इससे उनके दो लाभ होंगे। एक तो उनकी महत्ता का विरोध करनेवाला कोई नहीं रह जायेगा। दूसरे, जरासंध ने बहुत से राजाओं को पराजित कर उन्हें कैद कर रखा है, उन सबको मुक्ति मिलेगी। वे सब श्रीकृष्ण और पाण्डवों के भक्त हो जायेगें। पूरे आर्यावर्त में पाण्डवों की यश-पताका फहराने लगेगी।"

"पर जरासंध का वध आसान नहीं है।"—मैंने कहा।

"किन्तु असम्भव भी नहीं है। तुम्हारे शिष्यों का पराक्रम और कृष्ण की बुद्धि का समन्वय सब कुछ करने में समर्थ है।"—मैंने अनुभव किया कि श्रीकृष्ण की बुद्धि का विचित्र आतंक है विदुरजी के मस्तिष्क पर।

"अब कौरवों के लिए कौन-सा चारा रहा सिवा इसके कि वे भीतर-ही-भीतर जला करें ?"

"प्रत्यक्ष रूप से तो वह राजसूय यज्ञ का विरोध नहीं करेंगे, पर प्रच्छन्न रूप से उनका विरोध जारी है। कर्ण और दुर्योधन कई बार जरासंध से मिल चुके हैं। वे उसे बराबर भड़का रहे हैं कि तुम्हारे रहते यह यज्ञ कैसे होगा ? अद्भुत बात यह है कि श्रीकृष्ण स्वयं चाहते हैं कि जरासंध भड़के। क्रोध में मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। श्रीकृष्ण इसी का लाभ उठाना चाहते हैं।....और तमाशा यह है कि कौरव ऐसी स्थिति उत्पन्न करने में सहायक हो रहे हैं।....विलक्षण राजनीति है।"

"ऐसी परिस्थिति में फिर हम लोगों को क्या करना चाहिए ?"

"चुपचाप भगवान का भजन करना चाहिए।"—विदुरजी ने मुस्कराते हुए कहा।

अचानक नाटक का पट-परिवर्तन हुआ।

जरासंध मारा गया। श्रीकृष्ण की युक्ति ने उसका वध भीम से कराया। जिन राजाओं को प्रताड़ित कर उसने बन्दी बनाया था वे सब-के-सब मुक्त हो गये। "पाण्डव हमारे त्राता हैं, पाण्डव हमारे भाग्य-विधाता हैं, पाण्डव आर्यावर्त के नये इतिहास के निर्माता हैं।"—एक विचित्र-सी हवा पूरे प्रान्त में तूफान की तरह चलने लगी।

कौरवों की राजनीति धरी-की-धरी रह गयी।

जरासंध के वध से मुझे प्रसन्न होना चाहिए था, पर पता नहीं क्यों मैं बहुत प्रसन्न नहीं हुआ। मुझे ऐसा लगा जैसे पाण्डवों की यश-अग्नि की लपटें लपक रही हैं।

मैं मारे संकोच के अपने नगर से बाहर नहीं गया। जिन राजाओं को जरासंध की मृत्यु से मुक्ति मिली थी उनमें से दो एक मुझे भी बधाई देने अहिच्छत्र आ गये थे। उनकी दृष्टि में सबसे अधिक मैं ही बधाई का पात्र था, क्योंकि वे मेरे ही शिष्य थे, मेरी प्रतिमूर्ति थे।

इधर कई दिनों से अश्वत्थ भी हस्तिनापुर में ही था। मालूम होता है वहाँ भी कोई योजना बन रही होगी या सब-के-सब क्रोध और ग्लानि की लहरों में डूबते उतराते रहे होंगे।

एक दिन अचानक विषम स्थिति पैदा हो गयी।

सबेरे-सबेरे अश्वत्थ हस्तिनापुर से लौट आया। शिष्टाचार के अनुसार उसने मेरा चरण-स्पर्श किया और बोला—"तात, आपने तो सब सुना ही होगा।"

मैंने स्वीकृति में अपना सिर हिला दिया। इसके बाद उससे और कोई बात नहीं हुई। वह कृपी से मिलकर अपने कमरे में सो गया।

दोपहर होते-होते राजधानी के बाहरी प्रतिहारी ने आकर सूचना दी कि अपने सभी भाइयों के साथ युधिष्ठिर आ रहे हैं।

निश्चित है, वे आशीर्वाद लेने आ रहे होंगे। अब मैं बड़े असमंजस में पड़ा। एक ओर पुत्र की शोकाकुल मुद्रा मेरी आँखों के सामने थी और दूसरी ओर पाण्डवों का विजयोल्लास। क्या यह ठीक होगा कि मेरा दुःखी पुत्र अपने कक्ष में सोता रहे और पाण्डु-पुत्रों को उनकी इस सफलता पर आशीर्वाद दूँ, उनके भविष्य की मंगल-कामना करूँ? पुत्र तो पुत्र। यदि यह समाचार हस्तिनापुर पहुँचेगा तो वे लोग मेरे सम्बन्ध में क्या सोचेंगे? आखिर रहना तो उन्हीं के साथ है।

""""तब मैं उनका सामना ही क्यों करूँ? क्यों नहीं कहला दूँ कि आचार्य नहीं हैं, वे हस्तिनापुर गये हैं।""""और यदि पाण्डव हस्तिनापुर से ही होकर आ रहे हों तो?""""तब तो मैं झूठा हो जाऊँगा, एकदम झूठा।

मैं शीघ्र ही अन्तःपुर की ओर लपका और कृपी से अपनी मनःस्थिति बतायी। वह बड़े ही सहज भाव से बोली—"आप भी जरा-सी बात पर कितना सोच लेते हैं""""तिल का ताड़ बना देते हैं।""""अरे युधिष्ठिर आ रहा है तो आने दीजिए।"

"""""किन्तु यदि यही समाचार कौरवों को मालूम हो गया तो क्या होगा?"

"होगा क्या? वह किसी का हमारे यहाँ आना थोड़े ही रोक देंगे।"""" राजनीति अपनी जगह है और सहज शिष्टाचार अपनी जगह।"

"पर हस्तिनातुर की राजनीति ने सहज शिष्टाचार को तिलांजलि दे दी है।"""अब सीधे-सीधे दो पक्ष हो गये हैं—कौरव और पाण्डव""""और दोनों एक दूसरे का मुँह तक नहीं देखना चाहते?"

"न देखना चाहते हों, न देखें, किन्तु हमारे यहाँ जो भी आयेगा उसका स्वागत होगा।"—उसने पुनः मुद्रा बदली और पूछा—"क्या कौरवों ने कभी आप से कहा कि जो आपके चरणों पर गिरे उसे आप आशीर्वाद न देकर शाप दीजिए।""""आप अपना ब्राह्मण-धर्म छोड़ दीजिए।"

"नहीं तो।"

"·····तब यदि पाण्डव आशीर्वाद लेने आ रहे हों तो आप निस्संकोच भाव से उन्हें आशीर्वाद क्यों नहीं देते।"

कृपी की राय बुद्धिसंगत थी, फिर भी सोचता खड़ा रहा, तब तक द्वारी ने आकर सूचना दी,—"प्रासाद के मुख्यद्वार पर पाण्डव आपको प्रणाम कर रहे हैं।

"उन्हें ससम्मान भीतर ले आओ।"—इतना कहकर मैं अपने सार्वजनिक कक्ष में चला आया।

पाण्डव आते ही मेरे चरणों पर गिर पड़े। मैंने जब उन्हें उठाया, उनकी आँखें डबडबा आयी थीं। कितना उल्लास और कितनी निकटता थी, उनके इस अभिवादन में कि मैं बहुत कुछ चाहकर भी कुछ बोल न सका, मानो मेरी जबान पर उनके आत्मीयता का दही जम गया था।

युधिष्ठिर ने बड़ी विनम्रता से राजसूय यज्ञ का निमंत्रण दिया। मैंने मुस्कराते हुए व्यंग्य किया—"ओ····हो····अब तुम सम्राट् होनेवाले हो।"

अत्यन्त विनय के साथ उसने मेरे चरण पुनः स्पर्श किये और वह बोला—"आपके आशीर्वाद से ही आचार्य।"

"यदि मेरे आशीर्वाद से ही होता तो और लोग भी राजसूय यज्ञ कर लेते।"—मेरा स्पष्ट संकेत कौरवों की ओर था।

वे सब-के-सब हँस पड़े।

मैं निमंत्रण स्पष्ट रूप से तो अस्वीकार करने की स्थिति में नहीं था, पर हल्का-सा बहाना बनाते हुए बोला—"देखो, आजकल स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता है।····यदि बीमार न हुआ तो अवश्य आऊँगा।"

"नहीं आचार्य, ऐसा न कहिए। यदि आप अस्वस्थ हुए तो हमारा यज्ञ ही अस्वस्थ हो जायेगा।"—युधिष्ठिर कहते गये—"यज्ञ की सारी व्यवस्था आपको ही देखनी है।"

"पर मेरे अकेले दम से यह कैसे होगा?"

"इसके लिए हम लोगों ने पितामह को भी राजी कर लिया है।"

"तो क्या पितामह ने तुम लोगों का आग्रह स्वीकार कर लिया?"

"सहर्ष ।"····सबसे पहले तो हम लोग उन्हीं के यहाँ गये थे ।

मुझे आश्चर्य उतना नहीं था जितनी प्रसन्नता थी । पितामह की स्वीकृति से मेरी हिचकिचाहट समाप्त हो गयी थी । मैंने पूछा—"तुमने हस्तिनापुर में सबको आमंत्रित किया है ?"

"हाँ, सभी को आमंत्रित किया है, अत्यन्त विनीत भाव से सभी बड़ों का चरण-स्पर्श करते हुए ।"

पाण्डवों के इस व्यवहार से मैं गदगद् हो गया, उनकी प्रशंसा करते हुए बोला—"····यह तुमने बहुत अच्छा किया युवराज । असफलता धर्य की परीक्षा लेती है और सफलता विवेक की । इस महान सफलता के समय में भी तुम लोगों ने अपना विवेक बनाये रखा, यह बहुत बड़ी बात है ।···इसका फल भी तुम्हें बराबर अच्छा मिलता रहेगा ।"

इतना कहने और सुनने के बाद भी मेरा मन एकदम साफ नहीं हुआ था,—"क्या तुमने धृतराष्ट्र, दुर्योधन और कर्ण को भी आमंत्रित किया है ?"—मैंने पूछा ।

"कर्ण से तो हमलोग नहीं मिल सके, पर चाचाजी ने बड़ी प्रसन्नता से हमारा अनुरोध स्वीकार कर लिया है ।"—युधिष्ठिर ने कहा ।

"····और दुर्योधन ?"—मेरी जिज्ञासा जैसे उसी पर केन्द्रित थी ।

"····मैंने उनका भी चरणस्पर्श कर आग्रह किया है ।"—अर्जुन बोला ।

"उसने कुछ कहा ?"

"वे कुछ बोले तो नहीं, पर जब सभी आयेंगे तो वे भी अवश्य ही आयेंगे ।"—बड़ा विश्वास था अर्जुन की वाणी में ।

सारी परिस्थिति जान लेने के बाद मेरे मन में निरन्तर चलनेवाला द्विविधा का तूफान थमकर एक अबोध बालक-सा सो गया । मेरा सारा तनाव एकदम ढीला पड़ गया । मैं स्वयं को बहुत हल्का अनुभव कर रहा था ।

इसके बाद मेरे योग्य शिष्य कृपी से मिले और वे अश्वत्थ के शयन-कक्ष में भी गये । उसे बड़े प्रेम से जगाया, स्वास्थ्य का समाचार पूछा और अत्यन्त

विनम्र भाव से बोले—"भैय्या, आचार्य तो अस्वस्थ रहते ही हैं, अब तुम भी अस्वस्थ रहने लगोगे तो बताओ हमारा यह यज्ञ कैसे पूरा होगा ?"

अश्वत्थ के लिए यह एकदम अप्रत्याशित था। वह सकपका-सा गया। उसे कभी विश्वास नहीं था कि पाण्डव उससे भी मिलेंगे और इतनी आत्मीयता से पेश आयेंगे। इसी से वह कुछ बोल नहीं सका, केवल मुस्कराता रह गया।

अद्भुत आयोजन था। इतने लोग वहाँ आ गये थे कि किन-किन की चर्चा करूँ ? यही समझिए, पितामह, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपा, दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, बाह्लीक, सोमदत्त, संजय, जयद्रथ आदि सभी वहाँ उपस्थित थे।

मैं तो उत्सव की भव्यता और व्यवस्था देखकर ही चमत्कृत हो गया था। पितामह से मैंने कहा—"इतना विराट् आयोजन तो अपने जीवन में नहीं देखा ?

"यह सब कृष्ण की माया है आचार्य।" उनका स्वर मुझसे कुछ हल्का था।

व्यवस्था भी बड़े ठिकाने की थी। दुःशासन को भोजन सम्बन्धी देख-भाल सौंपा गया था। अश्वत्थ ब्राह्मणों की सेवा-शुश्रूषा में था। कृपाचार्य सोने-चाँदी और रत्नों की देखभाल तथा दक्षिणा देने के कार्य पर नियुक्त थे। लोग जो बहुमूल्य भेंट ला रहे थे, वह दुर्योधन के हाथों में सौंपा जा रहा था। विदुरजी खर्च का हिसाब रख रहे थे। बाह्लीक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त और जयद्रथ घर के स्वामी की तरह सारी व्यवस्था देख रहे थे। मुझसे और पितामह से इन सभी कार्यों पर सामान्य दृष्टि रखने के लिए आग्रह किया गया था। हमारा काम केवल इतना ही था कि हम देखें कि कहीं कोई गड़बड़ी तो नहीं हो रही है। सब बड़े निष्ठापूर्वक अपने काम पर लगे थे। यदि कोई ऐसा व्यक्ति था जो हर जगह दिखायी दे रहा था, पर कुछ कर नहीं रहा था तो वह श्रीकृष्ण था।

ज्योंही लोगों का आगमन शुरू हुआ, श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों का चरण पखारना आरम्भ कर दिया। पितामह ने उनकी ओर संकेत कर मुझे धीरे से

कहा,—"···देखा, कैसा विचित्र व्यक्ति है? दूसरे को तो और कामों में लगा दिया और स्वयं ब्राह्मणों का पैर पखारने लगा।···जानते हो इसमें क्या रहस्य है?"

"मैं कुछ समझ नहीं पाया।"

"इसके पीछे बहुत बड़ी राजनीति है आचार्य। एक ओर जरासंध की हत्या कराकर उनके यहाँ वन्दी राजाओं को मुक्त कराया गया, उन्हें इसने अपना भक्त बना लिया। जो बन्दी नहीं थे, उन पर पाण्डवों के शौर्य और इसकी नीति का आतंक हो गया। उनमें से किसी का भी साहस अब पाण्डवों के विरुद्ध बोलने का नहीं रहा। अब ब्राह्मणों के समक्ष विनयावनत हो, उन्हें अपने पक्ष में कर रहा है।"

"····क्या ऐसा नहीं हो सकता कि श्रद्धावश श्रीकृष्ण ब्राह्मणों का पैर पखारने लगे हों।"—मैंने कहा।

"श्रद्धावश"—पितामह सम्भवतः मेरी सहजता पर मुस्कराये और बोले,—"क्या तुम ब्राह्मण नहीं हो?" यदि कृष्ण ब्राह्मणों का श्रद्धावश चरण पखारता तब तो उसे तुम्हारा भी पखारना चाहिए था, पर तुम्हारा तो उसने चरण स्पर्श तक नहीं किया।

मैं पितामह को नितान्त सरल व्यक्ति समझता था, किन्तु उनके व्यक्तित्व की सहजता के नीचे छिपी उनके मन की वक्रता राजनीति के कैसे-कैसे ताने-बाने बुन सकती है और उनकी बुद्धि की कुटिलता कहाँ तक सोच सकती है, इसका सही अनुमान मुझे इसके पहले कभी नहीं लगा था। मुझे कुछ ऐसा भी अनुभव हुआ कि पाण्डवों के निरन्तर विकसनशील वैभव से पितामह बाहर-बाहर जितना प्रसन्न दिखायी दे रहे हैं, भीतर से उतने नहीं हैं।"

सब कुछ समझकर भी मैंने पितामह से कुछ नहीं कहा। केवल उनके पीछे लगा रहा। वह जो कुछ निर्देश करते उसे तत्क्षण करने की मैं भरसक चेष्टा करता।

यज्ञ की व्यवस्था का क्रम आगे बढ़ता गया। ब्राह्मण-भोजन पहले ही हो चुका था। यज्ञ का पौरोहित्य महायाज्ञिक धौम्य ने सम्पन्न किया। यज्ञ समाप्त

होते ही युधिष्ठिर को अवभृथ स्नान कराया गया। सहस्रों ब्राह्मणों ने उनका अभिषेक किया। परिवार के वृद्ध धृतराष्ट्र स्वयं मुरछल लेकर सिंहासन के पीछे खड़े हुए।

बड़ा ही भव्य लग रहा था उस समय युधिष्ठिर।

ऋषियों, पुरोहितों, आचार्यों और राजाओं का इतना विशाल जमघट पिछले अनेक वर्षों में कभी इकट्ठा नहीं हुआ था। इसी से पितामह की राय थी कि जितने लोग आये हैं, उन सब का पूजन-सत्कार होना चाहिए। पर प्रश्न है कि पहली पूजा किसकी की जाये? किसे महान माना जाय। विषवृक्ष की भाँति इस समस्या ने सहसा जन्म लिया था और इसके मूल में संघर्ष के बीज थे।

मुझे ठीक याद नहीं है, पर किसी ने मुझसे भी पूछा था—"आपकी क्या राय है? अग्रपूजा किसकी होनी चाहिए।"

किसको महान कहूँ, किसको न कहूँ? मैं कुछ बोला नहीं। केवल मुस्कुराकर टाल गया। मनुष्य सब कुछ सह सकता है, पर अपने अहम् का टकराव नहीं सह सकता, फिर उस टकराव का कारण मैं क्यों बनूँ?

दूसरी बार जब किसी ने पूछा,—"तब मैंने बड़ी चतुराई से मामला पितामह की ओर टालते हुए कहा,—"हम में वय एवं बुद्धि में वृद्ध पितामह हैं। इस समस्या का समाधान वे ही कर सकते हैं।"

फिर मैंने देखा, पाण्डुपुत्रों में आपस में कुछ मंत्रणा हुई। शीघ्र ही लगा कि वे किसी निश्चय पर नहीं आ पाये। युधिष्ठिर ने तत्काल पितामह से सम्पर्क स्थापित किया। समस्या वही थी कि किसकी अग्रपूजा की जाय।

पितामह ने अपनी राय श्रीकृष्ण के पक्ष में दी। पाण्डव तो यही चाहते ही थे। अतएव युधिष्ठिर ने सहदेव को निर्देश दिया कि कृष्ण की अग्रपूजा आरम्भ करो।

अश्वत्थ मेरी ओर लपका आया। मैंने उसकी गति से ही समझ लिया कि पितामह का यह निर्णय उसे पसन्द नहीं आया। उसने आते ही मुझसे कहा,—"तात, आप पितामह को बड़ा सज्जन और निष्पक्ष समझते थे न। देखिए, उन्होंने कैसी गलत राय दी है।"

उस समय मेरे बगल में विदुरजी थे। उनकी मुख-मुद्रा ने स्पष्ट संकेत किया कि अश्वत्थ की यह बात उन्हें अच्छी नहीं लगी। मैंने आँखों से अश्वत्थ को निर्देश दिया कि वह दूसरी ओर चले। मैं भी बाद में उधर ही चला गया और उसे समझाते हुए बोला,—"इसमें पक्षपात क्या है, कृष्ण यदि पूज्य हैं तो उनकी पूजा होनी चाहिए।"

वह सहसा भभका,—"आप भी कैसी बात करते हैं? न कृष्ण राजा है, न ऋत्विज् (पुरोहित) और न आचार्य ही····तथा न तो वयोवृद्ध ही, तब उसकी पूजा सबसे पहले कैसे?

अश्वत्थ के तर्क से मैं भी सहमत था, फिर भी मैंने उसे शान्त करते हुए कहा—"देखो यह समय किसी बात के विरोध करने का नहीं है। जो कुछ होता है, उसे होने दो।"

"किन्तु हमारे विरोध न करने से यह थोड़े ही होगा कि कोई विरोध नहीं करेगा।····देखिए कृष्ण का नाम आते ही खलबली मच गयी है। कर्ण तो मारे क्रोध के काँपने लगा था। जब वह स्वयं पर नियंत्रण नहीं कर पाया तब वह किसी से बिना कुछ कहे चला गया।" वह साँस लेने भर को रुका और फिर बोला,—"मुझे तो आश्चर्य है पितामह की बुद्धि पर।"

"पितामह की बुद्धि का अनुमान तुम नहीं लगा सकते, अभी बच्चे हो, चुपचाप खड़े रहो।"—मैंने अश्वत्थ को डाँटकर चुप कराया।

तब तक सभा के दक्षिणी छोर पर से एक भयंकर अट्टहास सुनायी पड़ा—"····यह देखिए, एक ग्वाले की अग्रपूजा हो रही है। इतने आचार्यों, पुरोहितों, राजाओं और वृद्धजनों के रहते एक गोप पूजा जा रहा है।····लगता है पाण्डवों की बुद्धि मारी गयी है।"—गम्भीर व्यंग्य के बीच काँपती आवाज चेदिराज शिशुपाल की थी।

मेरी दृष्टि अचानक दुर्योधन की ओर गयी, उसकी भी त्योरियाँ चढ़ी हुई थीं। कोई कुछ बोल नहीं रहा था, केवल शिशुपाल बोलता जा रहा था,—"····अग्रपूजन का भी नियम है, उसका भी विधि-विधान है। इतने प्रतापी राजा यहाँ उपस्थित हैं, उनका अनादर कर एक गँवार की पूजा का क्या औचित्य

है ?···कृष्ण राजा नहीं है। उसका पिता उग्रसेन का मंत्री था। क्या मंत्री का पुत्र—कहीं राजा हो सकता है ? उसे राजाओं जैसा सम्मान दिया जा सकता है ?···और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कृष्ण के पिता वसुदेव इस सभा में उपस्थित हैं। पिता के रहते पुत्र की अग्रपूजा कैसी ?"

इसके बाद शिशुपाल ने युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए कहा,—"हम लोगों ने तुम्हें इसलिए राजाधिराज या सम्राट् नहीं स्वीकार किया है कि तुम बहुत बड़े प्रतापी या शौर्यवान हो अथवा आर्यावर्त में अब तुम्हारा सामना करनेवाला कोई नहीं रहा, वरन् इसलिए स्वीकार किया कि तुम धर्मात्मा हो। धर्म की मान्यताओं के अनुसार शासन करोगे।····क्या तुम्हारा यही धर्म है कि कुल-गुरु कृपाचार्य और द्रोणाचार्य के रहते हुए तुम कृष्ण की अग्रपूजा करो ? धौम्य और व्यास ऐसे महान ऋत्विज् के रहते हुए कृष्ण की अग्रपूजा करो ? इतने ज्ञानवृद्ध, वयवृद्ध, शौर्यवृद्ध यहाँ उपस्थित हैं, उन्हें छोड़कर इस देवकी के बेटे की अग्रपूजा करो ? इसकी पूजा के पीछे तुम्हारी धर्मबुद्धि नहीं, वरन् कोई-न-कोई स्वार्थ-बुद्धि काम कर रही है। अरे स्वार्थ ही सिद्ध करना चाहते थे, तो इस ग्वाले को गौरव प्रदान करने का कोई दूसरा अवसर ढूँढ़ लेते। महाराजा पाण्डु के उज्ज्वल नाम में धब्बा तो न लगाते।

इतना सुनने पर भी युधिष्ठिर चुप था। उसने कई बार पितामह की ओर देखा, शायद इसलिए कि पितामह शिशुपाल का कुछ उत्तर दें क्योंकि कृष्ण के अग्रपूजन की सलाह उन्होंने ही दी थी, पर पितामह भी शान्त ही थे।

सभा में अच्छी खासी खलबली मच गयी थी। शिशुपाल के समर्थक भी दिखायी पड़ रहे थे और विरोधी भी, पर शिशुपाल के विरोधियों की संख्या बहुत अधिक थी। कृष्ण की नीति ने बहुतों को अपने पक्ष में कर रखा था। फिर भी शिशुपाल दहाड़ता जा रहा था,—"नियमतः कृष्ण न तो राजा है न ऋत्विज् और न आचार्य ही। उसे अग्रपूजा कराने का कोई अधिकार नहीं है।···एक मामूली से व्यक्ति को आवश्यकता से बहुत अधिक सम्मान देना वैसा ही अपराध है जैसा एक सम्मानित व्यक्ति का निरादर करना अपराध है।···उपस्थित सज्जनो,

पाण्डवों के इस कुकृत्य से हम सब का निरादर हुआ है। हमें इस सभा का तत्काल बहिष्कार कर देना चाहिए।"

इतना कहकर शिशुपाल सभा के बाहर जाने लगा। उसके साथ थोड़े-से लोग भी उठकर जाने लगे, पर कृष्ण मुस्करा रहे थे।

परिस्थिति को गड़बड़ाता देखकर युधिष्ठिर दौड़कर आये और शिशुपाल को समझाते हुए बोले,—"आप भ्रम में हैं। श्रीकृष्ण हर दृष्टि से पूज्य हैं, वरेण्य हैं, प्रणम्य हैं।"

"तुम्हारे लिए प्रणम्य होंगे, पर हमारे लिए नहीं है। हमारा तो तुमने अपमान ही किया है।—" इतना कहकर शिशुपाल फिर सभा की ओर झपटा। कदाचित् उसे अनुभव हुआ कि मेरे साथ सभा का बहिष्कार करनेवाले अभी बहुत थोड़े लोग हैं, अतएव उसने पुनः सभा को सम्बोधित किया,—"भाइयो, युधिष्ठिर के लिए केवल कृष्ण ही प्रणम्य रह गये हैं, और हम सभी अप्रणाम्य हैं। निरादर के योग्य हैं।"

"मेरी ही नहीं पितामह की भी श्रीकृष्ण के प्रति यही धारणा है।"—युधिष्ठिर ने कुछ तेज स्वर में कहा।

"भीष्म···हाँ···हाँ··हाँ" शिशुपाल जोर से हँसा—यह वही भीष्म है न, जिसने काशीनरेश की कन्या अम्बा को धोखा देकर हर लाया था। बूढ़ा हो गया है तो इससे क्या? हम उसकी गलत बात भी मान लें।··उसका क्या ठिकाना, वह अभी कुछ कहता है बाद में कुछ कहेगा। जिसके बाप का पता नहीं उसकी बात का क्या विश्वास?"

पितामह पर यह बड़ा तीखा प्रहार था, इस पर पितामह ही नहीं, सारी सभा तिलमिला उठी। मैंने भी अनुभव किया कि शिशुपाल का क्रोध सीमा से बाहर हो रहा है। सभा के बीच से ही एक तीखी आवाज आयी—"अरे शिशुपाल का बच्चा अपनी जबान बन्द कर या सभा से बाहर जा रहा था, चला जा।"

"मैं नहीं जाऊँगा। कोई हमारा क्या कर लेगा?"—शिशुपाल पैर पटकते हुए चीखा।

मैं ही द्वारिकाधीश का पूजन कर रहा हूँ ।—"सहदेव उठकर खड़ा हो गया और दाँत पीसते हुए उसने भी कहा,—"अपना मुँह बन्द कर वर्ना जबान खींच लूँगा ।"—कृष्ण ने उसे शान्त कर पुनः बैठा दिया । वह पूजन की शेष क्रिया सम्पन्न करने लगा ।

"चल''' चल, बड़ा आया है जबान खींचनेवाला । पहले अपना काम कर फिर बड़ी-बड़ी बातें करना ।"—फिर उसने कृष्ण को सम्बोधित कर कहा,—"कृष्ण तू भी कितना अनाड़ी है, जो इस पूजन में अपना सम्मान समझता है ।'''अरे पूजन करके तुझे मूर्ख बनाया जा रहा है । तेरी हँसी उड़ायी जा रही है । जानता है, तेरा अग्रपूजन हिजड़े को तरुणी व्याहने और अन्धे को दर्पण दिखाने के समान है ।"

अब कृष्ण तिलमिलाये । उनकी त्योरियाँ चढ़ने लगीं । फिर भी शिशुपाल उल्टा-सीधा बोलता गया, "'''अब मैं इस विश्वास का हो गया हूँ कि पाण्डवों का राज्य धर्म का नहीं, बल्कि अधर्म का होगा, अन्याय का होगा ।'''और मेरे जीवित रहते यह हो नहीं सकता । मैं कभी भी युधिष्ठिर को सम्राट् मानने को तैयार नहीं हूँ ।"—"इतना कहते ही शिशुपाल ने अपनी तलवार निकाल ली और ललकारा,—"जिस किसी में हिम्मत हो आकर मेरा सामना करे ।"

गम्भीर कोलाहल उभड़ा । कुछ समय के लिए लगा जैसे यज्ञ की सारी योजना ही भंग हो जायेगी । अश्वत्थ को लेकर मैं एकदम किनारे हट गया । मुझे आशंका थी कि कहीं यह कुछ गड़बड़ न कर दे । मैंने देखा, दुःशासन भी भोजनालय से सभा-कक्ष में आ गया है । उसके हाथ में लोहे का एक बहुत बड़ा छड़ है । दुर्योधन की मुद्रा अत्यन्त भयावह थी । धृतराष्ट्र ने पितामह को भी अपने पास बुला लिया था ।

कृष्ण तमतमाये-से उठ खड़े हुए । उनकी धीर गम्भीर ध्वनि मेघों-सी गड़-गड़ायी, "आप लोग जहाँ बैठे हैं, चुपचाप वहीं बैठे रहिए । यह दुष्ट अपनी सीमा से बहुत आगे चला गया है ।"—इतना कहकर उन्होंने सुदर्शन चक्र घुमाया और उसे खींचकर मारा ।

शिशुपाल का सिर धड़ से अलग हो गया। वह तूफान में उखड़े हुए वृक्ष की तरह धड़ाम से गिरा। उसके रक्त की धारा सभा-कक्ष के दक्षिण तरफ पसर गयी। क्षण-भर में सब कुछ समाप्त हो गया।

कृष्ण के आतंक ने सारे कोलाहल का गला जैसे घोंट दिया। एक विचित्र-सा विस्मय पूरी सभा पर चुप्पी बनकर छा गया। सभी सन्न रह गये। मैंने तो कभी नहीं सोचा था कि शिशुपाल ऐसा योद्धा पल मारते चला जायेगा। अब जो थोड़े से लोग उसके पक्षधर भी थे वे भय की खोल के भीतर कछुए की तरह दुबक गये।

कृष्ण के आदेश पर पुनः पूजा चलने लगी।

अजीब दृश्य था, एक ओर पूजा चल रही थी और दूसरी ओर शिशुपाल का रक्तरंजित शव हटाया जा रहा था।

विघ्न सहित ही सही, पर यज्ञ समाप्त हुआ और युधिष्ठिर सर्वमान्य सम्राट् हो गये। स्पष्ट था कि यह कौरव-पक्ष को अच्छा नहीं लगा, पर वे क्या करते? उनकी कोई चाल काम नहीं आयी।

ससम्मान जब मैं इन्द्रप्रस्थ से विदा किया गया तब मैंने अवसर निकालकर एकान्त में पितामह से कहा,—"शिशुपाल का नाहक वध हो गया।"

"इसके लिए हम लोग क्या कर सकते हैं आचार्य? भवितव्यता किसी का भी कहा नहीं मानती।"

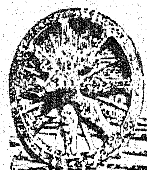
"...किन्तु उसके तर्क में बड़ा दम था।"

"इसे तो मैं भी स्वीकार करता हूँ।"

"तब आपने कृष्ण के अग्रपूजन की सलाह क्यों दी?"

"मैंने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा। मैंने तो पाण्डवों की इच्छा पर केवल मुहर लगा दी। यदि मैं किसी और के पूजन के लिए कहता, तो कदाचित् पाण्डव तैयार न होते। मेरी बात खाली जाती। अतएव गलत समझते हुए भी अग्रपूजन के लिए मैंने कृष्ण का ही नाम लिया।"

सब कुछ होते हुए पितामह के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि जिसे वे गलत समझते थे, मुँह पर कह नहीं पाते थे। ● ● ●



सोये हुए ज्वालामुखी की ऊपर छायी हरियाली को देखकर कोई अनुमान नहीं लगा सकता कि इसके गर्भ में कितनी ज्वाला छिपी है। यही स्थिति हस्तिनापुर की थी। ऊपर-ऊपर खुशियों की हरियाली थी, प्रसन्नता का वसन्त था, पर भीतर-ही-भीतर घृणा, विद्वेष और प्रतिहिंसा की ऐसी ज्वाला धधक रही थी जिसका आभास मिलना भी कठिन था।

मैं बहुधा हस्तिनापुर आता था। धृतराष्ट्र से मिलता था। घण्टों बातें होती थीं, पर वे खुलते नहीं थे। धृतराष्ट्र एक बन्द पुस्तक थे, जिसकी जिल्द पर धर्म, न्याय और सहिष्णुता की रेखाएँ अंकित थीं, किन्तु जिसके भीतर अध्याय थे—ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ और अन्ध पुत्र-प्रेम के। यह पुस्तक सर्वदा बन्द ही रहती थी। मुझे भी खोलने की आवश्यकता क्या ? मैं तो आता था, कुछ लोगों से मिलता था और चला जाता था।

पुलोमा, सुरेखा, अनुरुद्ध आदि जो मेरे मुँहलगे अनुचर और अनुचरियाँ थीं अब मुझसे कतराते थे। इसका तात्पर्य यह नहीं था कि भीतर-ही-भीतर पक रही वस्तु का उन्हें आभास था, बल्कि उन्हें भय था कि आचार्य से बातें करना खतरे से खाली नहीं है।

मैं इतना खतरनाक हूँ, कुछ समझ नहीं पाता था। आखिर कौरव मुझ पर क्यों शंका करते थे। मैंने कभी भी उनके हित के विरुद्ध कुछ नहीं किया। अर्जुन के प्रति मेरा शिष्य-प्रेम प्रसिद्ध था, पर जब था तब था। अब तो वह द्रुपद का जामाता था, मेरे एकमात्र शत्रु का जामाता। उसका दूर हो जाना स्वाभाविक था जिसके निकट आने की कोई सम्भावना नहीं थी, क्योंकि उसकी पत्नी द्रुपद-पुत्री ने उसी पर नहीं, बल्कि सभी पाण्डवों पर ऐसा आधिपत्य जमा रखा था कि उसकी इच्छा के विरुद्ध चल पाना असम्भव था।

मैं चाहता था कि इस स्थिति को अच्छी तरह उजागर कर दूँ। सोचा सबसे कह दूँ कि अब अर्जुन मुझे प्रिय नहीं रहा, वह शत्रु-पक्ष में चला गया है, किन्तु कृपी ने ही मुझे ऐसा करने से रोका—"उसने कभी आपके प्रति अभद्रता एवं शत्रुता का व्यवहार तो नहीं किया ?"

"नहीं।"

"तब आप अपनी ओर से उसे शत्रु क्यों बनाते हैं ?"

कृपी की बात जँच गयी। मैं इस मामले में चुप था और चुप ही रह गया। विडम्बना ऐसी कि औरों को कौन कहें, मेरे पुत्र अश्वत्थ को भी अर्जुन के प्रति मेरी बदली हुई मनःस्थिति पर विश्वास नहीं था।

मुझे आज भी पुलोमा दिखायी पड़ी। वह क्रीड़ांगन से उद्यान की ओर आ रही थी। मैंने उसे टोका—"पुलोमा, आज कल बड़ी कटी-कटी-सी रहती है।"

"अभी कहाँ कटी हूँ आचार्य। यदि आप ऐसे ही रोककर बातें करते रहिएगा तो एक-न-एक दिन अवश्य काटकर फेंक दी जाऊँगी।" इतना कहकर वह कुछ विचित्र ढंग से मुस्कराती हुई चली गयी।

विचित्र स्थिति थी। मैं इतना पराया हो गया हूँ कि क्या कहूँ ? मेरा मन क्रोध और ग्लानि के संगम में डूबने और उतराने लगा।

ऐसी स्थिति में मैं बहुधा विदुरजी के यहाँ पहुँच जाता था। वे समवयस्क थे, कुछ खुलकर बातें होती थीं।

विदुरजी के यहाँ मेरे पहुँचते रहने का एक कारण मेरी अपनी दुर्बलता थी, जिसे मैंने आज तक उद्घाटित नहीं किया था, किन्तु सोचता हूँ अब साफ-साफ कह दूँ। भले ही आप मेरे सम्बन्ध में कुछ और सोच लें।

विदुरजी की पत्नी जिन्हें मैं भाभी कहता था अनिन्द्य सुन्दरी थीं। राजा देवक के यहाँ पली ब्राह्मण के द्वारा शूद्र के गर्भ से उत्पन्न हुई भाभी सुलक्षणा सचमुच सु-लक्षणा थी। अवस्था चालीस के पार जरूर होगी, पर तीस-बत्तीस से अधिक नहीं लगतीं। शरीर-यष्टि एकदम तराशी हुई, नाक-नक्श अद्भुत,

गुलाबी मक्खन की पुतली।···विधि की यह अनुपम कृति मेरे आकर्षण का कारण थी।

छायाएँ धरती पर लम्बी हो चली थीं। सूर्य पश्चिम में ढुलक चुका था। अपराह्न में मैं विदुरजी के आवास पर पहुँचा। सुलक्षणा उद्यान में सन्ध्या-पूजन के लिए फूल एकत्र कर रही थी। पौधों की डालियों से खेलता और उलझता आँचल उसे परेशान कर रहा था। झुकती, फूल तोड़ती और उलझे हुए वस्त्र को ठीक करती सुलक्षणा मुझे बड़ी अच्छी लग रही थी। वस्त्रों से आच्छादित होते हुए भी उसके तन के खाले-ऊँचे स्थल साफ-साफ उभर रहे थे। मेरी दृष्टि उन स्थलों पर जैसे चिपक-सी जाती थी। सारा रूप-रस जैसे मेरी आँखें चूस लेना चाहती हों। मैं निकट ही एक झुरमुट में खड़ा उसे अपलक निहार रहा था।

अब वह फूल चुनती निकट आ चुकी थी, ठीक मेरे सामने। उसके बायें हाथ में बाँस की बनी सुन्दर-सी डोलची थी और दाहिना हाथ फूलों की ओर लपकता था।····और कहीं टूटे फूल हाथ से सरककर गिर पड़ते, वह झुकती, जैसे चम्पक की डाल लचक रही हो, तब मैं, वस्त्रों से परिवेष्टित ही सही—उसके उरोजों का स्पर्श करती फूलों की डालियों के भाग्य पर सिहर उठता था।

इसे मैं अपना दुर्भाग्य के अतिरिक्त और क्या कहूँ कि मुझे अचानक खाँसी आ गयी।

सिंह की आहट से जैसे मृगी चौंक पड़े वैसे वह चौंकी, फिर अपने को संभालती हुई बोली—"अरे तुम हो!···इस झुरमुट में क्या कर रहे हो?"

मैं क्या कहता? मुस्कराता हुआ चुप था।

"इतनी अवस्था हो गयी, पर तुम्हारी लुका-छिपी की आदत नहीं गयी।"

"आदत कभी इतनी जल्दी थोड़े छूटती है भाभी, वह तो जीवन के साथ जाती है।" अपनी भीतर और बाहर की विशेष स्थिति के कारण मैं सकपकाया-सा था, बातों का सिलसिला दूसरी ओर मोड़ते हुए मैं बोला—"भाभी, एक बात पूछूँ?"

द्रो०—११

"क्या ?"

"पहले यह वचन दो कि तुम सही-सही बताओगी ?"

"बताने योग्य होगा तो अवश्य बताऊँगी।"

"अच्छा यह बताओ कि भैया प्रातःकाल गंगास्नान के लिए कब जाते हैं ?"

"क्यों ? इससे तुमसे मतलब ?"

"मतलब है तभी न, पहले बताओ तो सही।"

"यही समझो ब्राह्ममूहूर्त में शुक्र उदय के पूर्व।"

"चलो अच्छा हुआ ! जिस कार्य को इन्द्र ने चन्द्रमा से कराया था उसे मैंने स्वयं कर लिया।"—इतना कहकर मैं जोर से हँसने लगा। मेरा व्यंग्य वह पहले समझ नहीं पायी। मेरा मुँह ताकती रही। पर अचानक जैसे उसके मस्तिष्क को किसी ने झकझोरा और एक सलज्ज मुस्कराहट के साथ वह बोल पड़ी—अच्छा जी···तो तुम अपने को इन्द्र समझते हो···पर अच्छी तरह जान लो मैं तुम्हारी चाल में आने वाली अहिल्या नहीं हूँ और न तुम्हारे भैया महा-क्रोधी गौतम।" इतना कहते-कहते उसकी मुस्कराहट फूलों पर बिखर-सी गयी।

इसी तरह का मजाक मैं सुलक्षणा से कर लेता था, वह भी जमकर उत्तर देती थी, बड़ी ही विदुषी और प्रत्युतमति-सम्पन्न थी। उसी से पता चला कि विदुरजी अपने कक्ष में हैं।

मैं उनसे मिलने अध्ययन-कक्ष की ओर चल पड़ा। वह बड़बड़ायी,—"आये थे अपने भैया से मिलने और छिपे थे झुरमुट में, मानो किसी शिकार की ताक में हों।"

मैं कुछ बोला नहीं, पर मन ने बड़े संतोष के साथ कहा,—"सचमुच मैं ताक में ही बैठा था।"

विदुरजी के निकट धृतराष्ट्र का अनुचर प्रमथ पहले से ही बैठा था, वह मुझे देखकर थोड़ा सकपकाया, फिर उठकर मेरा चरण-स्पर्श किया। मैं बैठूँ,

हाल-चाल पूछूँ, इसके पहले ही प्रमथ अनुमति ले चलने को हुआ। मेरे कुशल-क्षेम पूछने पर उसने इतना कहा,—"सब आपका आशीर्वाद है आचार्य।"

इसके सिवा मुझे कुछ और समझने को नहीं था कि मेरा यहाँ आना उसे किसी बात में बाधक हुआ।

फिर विदुरजी से बातें आरम्भ हुईं। मैंने कहा,—"हस्तिनापुर में एक आपका ही स्थान मेरे लिए ऐसा रह गया है जहाँ खुलकर कुछ बातें हो जाती हैं, वर्ना हर कोई मुझसे कतराता है, जैसे मैं उनका शत्रु होऊँ या उनके विरोधियों से मिला होऊँ।"

"यही स्थिति तो मेरी भी है।"—विदुरजी ने बताया कि धृतराष्ट्र को छोड़कर कोई मुझसे बात ही नहीं करता। सभी प्रणाम करके दूर हट जाते हैं।"

"आखिर ऐसा क्यों है?"—मैंने पूछा।

"उन्हें कहीं से पता चल गया है कि लाक्षागृह के षड्यंत्र से पाण्डवों के बचाने के मूल में मैं ही हूँ।"

"मैंने भी ऐसा ही सुना है।"—मैंने हँसते हुए कहा। पर विदुरजी कुछ नहीं बोले। केवल मुस्कराकर रह गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा,–"····भाई; चाहे लोग जो कहें, पर मेरे लिए पाण्डव और कौरव बराबर हैं। मैं कैसे सह लेता कि एक जलकर भस्म हो जाये और दूसरा राज करता रहे।···मैं तो चाहता हूँ कि दोनों सुख से रहें।

"यही तो मैं भी चाहता हूँ।"

"पर हम लोगों के चाहने से कुछ होनेवाला नहीं है।····आप तो वहाँ से जल्दी चले आये थे····मालूम है राजसूय यज्ञ के बाद व्यासजी ने मुहूर्त देखकर क्या भविष्यवाणी की थी?"

मैंने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

"उन्होंने बताया था कि अब आर्यावर्त के दिन ठीक नहीं हैं। विशेषकर पाण्डवों को महान कष्ट भोगना पड़ेगा?"

"करतब तो ऐसे दीख पड़ते हैं, जिनसे लगता है कि कौरवों के ही दिन खराब हैं। पाण्डव तो निरन्तर उन्नति करते जा रहे हैं।"

"कभी-कभी भवितव्यता 'करतब' से भिन्न होती है आचार्य। इस बार भी मालूम होता है कुछ ऐसा ही होगा।"—इतना कहते ही उनकी आकृति अत्यन्त गम्भीर हो गयी। उनकी दृष्टि वातायन से बाहर दूर, बिल्कुल दूर एकटक लग गयी, जैसे वह खोये हुए भविष्य को खोज रही हो।

यह चुप्पी बहुत देर तक नहीं थी। उन्होंने ही बताया कि भीतर-ही-भीतर कुछ पक रहा है।

"क्या किसी युद्ध की तैयारी हो रही है?"

"युद्ध की आशंका तो नहीं है और न युद्ध करने का इनका साहस ही रह गया है।····प्रमथ बता रहा था कि लोग पस्त हैं, पर पाण्डवों का वैभव उनकी आँखों में कसक रहा है। वह कोई-न-कोई षड्यंत्र रचने में लगे हैं।"

"कौरव तो आरम्भ से ही पाण्डवों के विरुद्ध षड्यंत्र रचते आ रहे हैं।"

"किन्तु तब और अब में बड़ा अन्तर है।····तब भवितव्यता पाण्डवों के पक्ष में थी, आज उनके विरुद्ध है। और····"—जैसे कुछ कहना चाहकर भी विदुर-जी कुछ कह नहीं पाये।

तब तक सुलक्षणा भी फूलों की भरी डोलची लेकर आ गयी और हँसते हुए उसने अपने पति से कहा,—"अच्छा जी; तो इस समय आप आधुनिक इन्द्र से बातें कर रहे हैं।"

"आधुनिक इन्द्र से?"—विदुरजी कुछ समझ नहीं पाये। भाभी ने सारा मजाक समझा दिया। तब वे बड़े जोर से हँसे और हँसते हुए ही बोले,—"अरे भाई, इसमें मेरा गंगास्नान का समय पूछने की क्या आवश्यकता थी। आप लोग कहिए तो अभी कहीं चला जाऊँ या धृतराष्ट्र बन जाऊँ।"

"आपको जाने के लिए कहने का यदि मुझमें साहस होता तब भला मैं गंगास्नान का समय क्यों पूछता,—" मैं बोलता गया—"····रह गयी धृतराष्ट्र बनने की बात! वह भी मैं नहीं कह सकता।····क्योंकि कोई कह रहा था कि यदि धृतराष्ट्र की आँखें होतीं तो इतने अधिक पुत्र न पैदा करते।"

फिर जोर की हँसी हुई।

इस बार मैंने सुलक्षणा को सम्बोधित करते हुए पूछा—"क्यों भाभी, भैया यदि धृतराष्ट्र बनें तो क्या तुम गान्धारी बन सकती हो? अपनी आँखों पर पट्टी बाँध सकती हो?"

"ना बाबा, ना। यह मुझसे नहीं होगा। भगवान ने जब आँखें दी हैं तो वह पट्टी बाँधने के लिए थोड़े ही दी हैं।....गान्धारी बाँधती है तो बाँधे आँखों पर कपड़े।"

"गान्धारी की आँखों पर कपड़े की पट्टी नहीं है सुलक्षणा, वह अज्ञान की पट्टी है तभी तो वह अपने सपूतों की 'करनी' पर परदा डालती रहती है।"

यह बात विदुरजी ने मजाक में नहीं बल्कि अत्यन्त गम्भीर हो कही थी। उनके मन में यह धारणा बराबर बनी रही कि धृतराष्ट्र उतने खराब नहीं हैं जितनी गान्धारी। यदि गान्धारी ने चाहा होता तो उसके पुत्र ऐसे न होते। "कदाचित् ऐसी ही औरतों के सम्बन्ध में कहा गया है कि इनकी छाया पड़ने पर भुजंग भी अन्धा हो जाता है।"—विदुर बोले।

"....किन्तु महाराज, धृतराष्ट्र तो गान्धारी की छाया के पूर्व ही अन्धे हो चुके थे।"—फिर एक बार खिलखिलाहट उस वातावरण में तैर गयी। मैंने "सुलक्षणा को सम्बोधित कर पुनः कहा—"आप तो ऐसी नहीं हैं भाभी?"

"क्यों नहीं हूँ।"—विचित्र ढंग से वह इठलाते हुए बोली,—मैं साँपों को अन्धा कर सकती हूँ, पर आदमियों को नहीं।....यदि आप साँप हों तो मेरी छाया से दूर ही रहियेगा।

विदुरजी की गर्वभरी मुस्कराहट ने मेरे विवेक का स्पर्श किया, मानो वह कह रही हो, देखा मेरी पत्नी उत्तर देने में कितनी चतुर है।

मैंने अनुभव किया कि यहाँ आने पर मेरा मन कुछ हल्का हो गया है। बातें भी हल्के-फुल्के ढंग से होती रहीं, पर रह-रहकर बीच-बीच में राजनीति भी झलक पड़ती थी। हम लोग उसका भी रस लेते रहे। इसी प्रकार दो घड़ी बीत गयी। सन्ध्या अपना आँचल समेटने लगी। मैं भी चलने को हुआ। सुलक्षणा चषकों में उष्ण दूध मधु मिलाकर ले आयी और हमें थमाकर पुनः भीतर चली गयी। शायद कुछ और लेने गयी थी।

इसी बीच किसी के आने की आहट लगी। मैंने मुड़कर वातायन की ओर देखा, शकुनि आता दिखायी दिया।

"अरे आप भी।—" वह मुझे देखते ही बोल पड़ा। जैसे उसे कल्पना भी न रही हो कि मैं यहाँ उसे मिल सकता हूँ।

मैंने स्वयं को संभालते हुए कहा,—"हस्तिनापुर से लौटते समय सोचा कि आप से भी मिलता चलूँ।"

"बड़ा अच्छा किया।"—इतना कहकर वह बैठ गया।

विदुरजी ने भीतर आवाज लगायी—अरे देखोजी, कौन आया है?…एक चषक और भेजना।

परिचारिका शीघ्र ही एक चषक में दूध और खाद्य पदार्थ लेकर आ गयी।

दूध की चुस्की के साथ पुनः बातें आरम्भ हुईं।

"लगता है, राजसूय यज्ञ से लौटने के बाद आप यहीं रुक गये।"—विदुरजी ने शकुनि से कहा।

"रुक नहीं गया, बल्कि रोक लिया गया।"—उसकी मुद्रा सहसा बदली,—"आप लोग तो कदाचित् वस्तुस्थिति जानते नहीं हैं। मामला बड़ा गम्भीर होता जा रहा है।" शकुनि इतनी जल्दी उबलने लगा जैसे वह यह सब सुनने ही यहाँ आया था, "…अच्छा हुआ जो आचार्यजी भी यहीं मिल गये।…मैं चाहता हूँ आप सब स्थिति को अच्छी तरह समझ लें, फिर जैसा आप निर्देश दें वैसा किया जाये।"

इतना कहकर उसने जो भाषण शुरू किया उसका मुख्य तात्पर्य यही था कि अब पाण्डवों का दिमाग सातवें आसमान पर चढ़ गया है। उसका सबसे अधिक रोष द्रौपदी पर था। वह बड़े आवेश में बोला,—"…वह अपने को समझती क्या है? उसके पतियों ने राजसूय यज्ञ कर लिया तो वह हमारे बड़े-बूढ़ों की खिल्ली उड़ायेगी।

"बड़े-बूढ़ों की खिल्ली!" मेरे मस्तिष्क में तरह-तरह की बातें आने लगीं, मैं सोचने लगा कि उसने मेरे और द्रुपद के सम्बन्धों के सन्दर्भ में तो कोई बात

नहीं कही। जब मैंने विशेष जिज्ञासा व्यक्त की तब उसने बताया कि उसके नव-निर्मित प्रासाद का निरीक्षण करते समय दुर्योधन का भ्रमवश पैर एक जलाशय में पड़ गया तब वह चुड़ैल बोली,—"अन्धे की सन्तान अन्धी ही होगी न।…" आज तक परम पूज्य जीजाजी के सम्बन्ध में ऐसे शब्द किसी ने भी मुँह से नहीं निकाले थे।

"यह तो बड़ा गलत किया उसने।"—मैं बोला—"तुम लोगों ने उसके पतियों से नहीं कहा ?"

"हमें कहने की क्या पड़ी है ? क्या उन्होंने स्वयं नहीं सुना होगा ?"

"उन्हें इसके लिए क्षमा-याचना करनी चाहिए थी।"—मैंने कहा।

"आप क्षमा-याचना के लिए कहते हैं।"—शकुनि भावावेग में था,—"सुना है जब उसने इस तरह की अभद्रता की थी तब भीम के साथ ही अन्य भाइयों ने भी अट्टहास किया था।…सुनकर जब मेरा खून खौल उठता है तब आप समझें दुर्योधन के मन पर उस समय क्या बीती होगी ?"

शकुनि की बात सुनकर विदुरजी गम्भीर सोच में पड़ गये। दूध का चषक उनके सामने धरा-का-धरा रह गया। मैंने जब उन्हें स्मरण दिलाया कि दूध ठण्ढा हो रहा है, उन्होंने उसे उठाया और मुँह से लगाते हुए बोले,—'यह बहुत ही खराब हुआ।…खैर, बच्चों और औरतों की बातों पर बहुत अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए।"—फिर उन्होंने शकुनि को विशेष रूप से समझाते हुए कहा,—"मेरी राय में तो आपको इस सन्दर्भ में चुप ही रहना चाहिए। आप सबको धीर गम्भीर पर्वत की भाँति होना चाहिए जिस पर ऐसे व्यंग्य-बाण आयें और टकराकर चूर-चूर हो जायें।"

इतना कहकर वह चुप हो गये। शकुनि की अचानक मुख-मुद्रा बदली जैसे वह कुछ कहने ही वाला हो पर पता नहीं क्या सोचकर चुप ही रह गया।

दूध का एक घूँट लेते हुए विदुरजी ने मुझसे कहा,—"इस सम्बन्ध में आप उनसे बातें कीजिए और समझाइए कि ऐसी मूर्खता न किया करें।"

"मैं द्रुपद की सन्तान को समझाने जाऊँ ? यह मुझसे नहीं होगा।"

"यह क्यों समझाने जायेंगे ? इन्हीं के विनाश के लिए तो उसका जन्म हुआ है।"—शकुनि दूध का घूँट गले के नीचे उतारते हुए बोला।

"मेरे विनाश के लिए ?"—बात मेरी समझ के बाहर थी।

"हाँ...हाँ आपके विनाश के लिए।...आपको कदाचित् ज्ञात नहीं है।... आप से पराजित होकर द्रुपद ग्लानि की अग्नि में जलता रहा। प्रतिशोध की भावना निरन्तर उसे सालती रही। वह सोचता रहा कि यदि मुझे कोई पुत्र होता तो वह द्रोण से अवश्य बदला लेता। इसी से उसने याज से पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था, जिससे यह चुड़ैल और धृष्टद्युम्न पैदा हुए।"

एक साँस में शकुनि पूरी कहानी कह गया। विदुरजी बड़े ध्यान से सुनते रहे। मुझे यह तो मालूम था कि पुत्रेष्टि-यज्ञ से ही द्रुपद को सन्तान पैदा हुई है, पर यह नहीं मालूम था कि उसने बदला लेने के लिए यज्ञ कराया था।

अचानक मेरे मस्तिष्क में जैसे किसी ने सुई-सी चुभोयी और द्रुपद का वह अन्तिम वाक्य मेरे मन में बराबर गूँजने लगा, "...यदि तुम्हारा वैर भाव तुम्हारे शिष्य के द्वारा बदला ले सकता है तो मेरा वैर भाव भी निर्बीज नहीं होगा।"— मैं भीतर-ही-भीतर व्यग्र हो चला, पर ऊपर से शान्त था, पुराने लगे आँवें की तरह।

सहसा मुझे विदुरजी की आवाज सुनायी पड़ी—क्या सोचने लगे आचार्य, दूध ठण्डा हो रहा है।"—मैंने हड़बड़ाकर चषक उठा लिया और अपनी चिन्तन मुद्रा पर मुस्कराहट का पर्दा डालने की असफल चेष्टा करने लगा।

"...कोई न किसी से बदला ले सकता है और न बदला चुका सकता है। हम सब तो निमित्त मात्र हैं। बदला लेने और चुकानेवाला तो ऊपर बैठा है।" —इतना कहते हुए विदुरजी ने ऊपर की ओर तर्जनी से संकेत किया।

किन्तु पाण्डव तो ऐसा नहीं सोचते।" शकुनि हमारी जलती हुई आग में घी डालते हुए कहता गया,—"उन सभी का अहं तो इस समय प्रभुता के हिमालय पर बैठा है। वे सोचते हैं कि हमारी इच्छा के विरुद्ध एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।"

मैं तो चुप था ही, क्योंकि शकुनि के सामने मैं कुछ बोलना नहीं चाहता था। विदुरजी भी चुप ही थे। मैंने देखा, सुलक्षणा कक्ष में आते-आते कदाचित् शकुनि को देखकर भीतरी द्वार से लौट गयी।

थोड़ी देर बाद शकुनि को कुछ खोलने की नीयत से विदुरजी ने धीरे से पूछा,—"आखिर इस सबका परिणाम क्या होगा?"

"भयंकर होगा।—"वह छूटते ही बोला।

"क्या युद्ध आसन्न है?"

"युद्ध में तो मेरा विश्वास नहीं और न मैं राजनीति ही जानता हूँ।... यदि कुछ जानता हूँ तो बस पासे फेंकना।"— इतना कहकर वह हँसते हुए चल पड़ने की तैयारी में खड़ा हो गया। हम लोगों ने भी उसे रोका नहीं।

कुछ दूर तक उसे विदा कर हम लोग पुनः कक्ष में लौटे।

"शकुनि का इस समय यहाँ आना निष्प्रयोजन नहीं रहा होगा?"—विदुरजी बोले।

"हो सकता है, मेरी उपस्थिति में वह कुछ कह नहीं पाया हो।"—मैंने कहा।

"मुझे भी ऐसा ही कुछ लगता है।"—थोड़ा रुककर उन्होंने अत्यन्त गम्भीर होकर कहा,—"व्यासजी की भविष्यवाणी क्या सत्य ही हो जायेगी?" —और वे सोचते रहे।

जिस समय मैं चलने के लिए उठा, सूरज बैठने लगा था। चिड़ियों के पंखों पर बैठकर सन्ध्या विदा हो रही थी। मेरे साथ-साथ विदुरजी भी बाहर उद्यान में कुछ दूर तक मुझे छोड़ने आये। दूर से ही सुलक्षणा की चिल्लाहट सुनायी पड़ी—"....हे ब्राह्मण देवता....एक बात सुनते जाइए। कल से आप के भइया ब्राह्ममुहूर्त में अकेले गंगा-स्नान करने नहीं जायेंगे, उनके साथ मैं भी जाऊँगी।"

सुलक्षणा की खिलखिलाहट विदुरजी से विदा होने के बाद भी मेरा पीछा करती रही।

●●●



मुझे कुछ ऐसा लगता है कि मैं चिन्तन-प्रधान होता जा रहा हूँ, किसी बात को बहुत अधिक सोचने लगा था। शास्त्रज्ञ कहते हैं कि हर बुद्धिमान की यह विशेषता है, पर मैं समझता हूँ कि हर बुद्धिमान की यह सबसे बड़ी दुर्बलता है।····इसी दुर्बलता से लड़ने की चेष्टा कर रहा था, पर स्वयं पराजित होता जा रहा था।

अब मेरे मस्तिष्क में द्रुपद के पुत्रेष्टि यज्ञ की ज्वाला धधक रही थी। उसी की लपटों से बनी द्रौपदी जैसे फुफकारती-सी मालूम होती थी। धृष्टद्युम्न मुझ पर अग्नि उगलता-सा प्रतीत होता था। यों बाहर से मैं बिल्कुल स्वस्थ था, एकदम स्वस्थ। सारा काम-काज करता था, पर भीतर से एकदम धधक रहा था।

मन हल्का करने की नीयत से ही मैंने कृपी और अश्वत्थ को अपने कक्ष में बुलाया और उनसे द्रुपद के यज्ञ की चर्चा की। अश्वत्थ ने कहा कि मुझे तो यह सारी बातें पहले से ही मालूम हैं।

"तब तुमने मुझे क्यों नहीं बतायी ?"

"आप मेरी किसी बात पर ध्यान ही नहीं देते, तो मैं आप से क्या कहता। ····हाँ, मैंने माताजी को बता दिया था।" मेरे प्रति अश्वत्थ की खिन्नता पहली बार इतनी मुखर हुई थी।

कृपी ने स्वीकार किया कि इसने मुझे बताया था, किन्तु मैंने आपको इसलिए नहीं बताया कि आप इसी पर महीनों सोचते रह जायेंगे।

"मेरी अधिक सोचने की दुर्बलता के कारण तुमने इतनी बड़ी बात मुझसे छिपा ली ?"

"दुर्बलों से बहुत-सी बातें छिपानी चाहिए वर्ना वह और अधिक दुर्बल होते जाते हैं।"—इतना कहते ही कृपी जोर से हँस पड़ी। उसने मेरा मन बदलने के लिए ही ऐसा किया था, पर मेरी मुख-मुद्रा बिल्कुल नहीं बदली। मैं अत्यन्त गम्भीर बना रहा। मैंने अश्वत्थ से पूछा—"तुम्हें यह बात कब मालूम हुई थी।"

'जब मैं द्रौपदी के स्वयंवर में पांचाल गया था।"—स्वभाव से मितभाषी होने के कारण वह इतना कहकर चुप हो गया, किन्तु मैंने जब अधिक जानने की कोशिश की तब उसने बताया कि स्वयंवर की परीक्षा के पहले जब द्रौपदी हम लोगों के समक्ष प्रथम दर्शन के निमित्त आयी थी तब हम सबको वह अत्यन्त असामान्य लगी थी। अत्यन्त सुन्दरी, पर अहंमन्यता से भरी हुई। उसकी मुस्कराहट में न शीतलता थी और न मधुरिमा, बल्कि थी यज्ञ की दाहकता। मेरे निकट ही बैठे दुर्योधन ने उसे देखते ही कर्ण से कहा था—"मित्र है तो अप्रतिम, पर आफत की पुतली ही मालूम पड़ती है।"....और वैसी ही वह प्रमाणित भी हुई।

मुझे आश्चर्य था कि किस आवेश में अश्वत्थ मेरे सामने इतना बोल गया। मैंने जिज्ञासावश उससे पुनः पूछा,—"कब वह प्रमाणित हुई ?"

"जब कर्ण लक्ष्य-भेद के लिए मंच पर गया था। वह चीख पड़ी थी कि यह सूत-पुत्र है। मैं सूत-पुत्र को वरण नहीं करूँगी। सभा के सभी बड़े लोगों ने यहाँ तक कि उसके पिता ने भी उसे समझाया था कि स्वयंवर की प्राक् घोषणा में जातीय शर्त नहीं की गयी है, केवल लक्ष्य-भेद की ही परीक्षा आयोजित है। इसलिए इसका प्रश्न ही नहीं उठता कि कोई सूत-पुत्र है या क्षत्रिय-पुत्र।....पर उसने किसी की बात नहीं मानी, न अपने मित्र की, न पुरोहित की और न अपने पिता की।....वह चीखती रही, ज्वाला की तरह धधकती रही,—"मैं सूत-पुत्र को वरण नहीं करूँगी।"—अश्वत्थ कुछ आवेश में आया,—"पिताजी, कृष्णा के इस कृत्य में नारी-सुलभ साहस नहीं था, वरन् पैशाचिक हठ था, दुराग्रह था।....जब वह अपने हठ से जरा भी टस-से-मस न हुई तब उसी सभा के एक वृद्ध ने बताया था—कि पुत्रेष्टि यज्ञ से उत्पन्न सन्तान बड़ी हठी

होती है। उसका हठ तब तक धधकता रहता है जब तक वह अंगारे की भाँति जलकर स्वयं भस्म नहीं हो जाती।

अश्वत्थ रुका। पर मेरी जिज्ञासा उसे विराम देना नहीं चाहती थी,—"तो क्या उसी वृद्ध ने पुत्रेष्टि यज्ञ की सारी बातें तुम्हें बतायीं।"

"हाँ उसी ने बतायी थी,—आप का नाम लेकर—कि उन्हीं से पराजित होने के बाद प्रतिशोध की भावना से व्याकुल द्रुपद कई दिनों तक सोया नहीं था। उसे इसी की चिंता थी कि आज मुझे कोई सन्तान होती तो अवश्य बदला लेती।.... तब वह पुत्र की चिन्ता में उपयाज के पास गया था। सुना है, उन्होंने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया था कि तू प्रतिशोध की भावना से भावित होकर पुत्रेष्टि यज्ञ के लिए आया है और वह भी आचार्य द्रोण के विरुद्ध! मैं ऐसे यज्ञ का पौरहित्य नहीं कर सकता।....तब द्रुपद ने उसे बहुत कुछ दक्षिणा में देने का प्रलोभन दिया, फिर भी उपयाज ने उसे दुत्कार कर भगा दिया।....तब द्रुपद याज के पास पहुँचा।"—इतना कहकर वह साँस लेने के लिए रुका। तब मेरे मुख से निकला—"याज, उसका लोभ जगत्-प्रसिद्ध है।"

"उसने मुँहमाँगी दक्षिणा प्राप्त की और यज्ञ कराया।"—इतना कहकर अश्वत्थ एकदम चुप हो गया।

"याज! मेरे विरुद्ध,....नीच!....नारकीय...."—मेरे रक्त में जैसे उबाल-सा आगया। मेरी नसें तन गयी, मैं दाँत पीसता हुआ उठ खड़ा हुआ।

कृपी ने मुझे संभाला। वह जानती थी कि क्रोध का प्रभाव मेरे स्वास्थ्य पर बुरा पड़ता है। उसने मुझे शान्त किया। परिचारिकाएँ विजन करने लगीं। मैं चुपचाप अपनी शय्या पर ढुलक गया। मन में तर्क-वितर्क चलने लगा, मेरा मन ही मुझे सान्त्वना देते हुए बोला—"आचार्य, इस में क्रोध करने की कौन-सी बात है? याज ने धन के लिए अपना पौरहित्य बेचा और तुमने धन के लिए अपना आचार्यत्व। तुम दोनों में अन्तर ही कितना?....दोनों अपनी-अपनी जगह बिके हुए हो"

चिन्तन के गरुड़ को देखते ही क्रोध का नाग चम्पत हो जाता है, और हुआ भी ऐसा ही। ज्यों-ज्यों मैं सोचता गया, त्यों-त्यों शान्त होता गया, पर मन में पश्चात्ताप और ग्लानि की आँधी चलती रही। अन्तर्द्वन्द्व का पुतला मैं, ऊपर से शान्त था, बिल्कुल शान्त, सोये हुए ज्वालामुखी की तरह।

कृपी मेरी चिन्ता से बहुत अधिक घबराती थी। शीघ्र ही मुझे प्रकृतस्थ करने की चेष्टा में लगी। उसने अपने हाथों से ही मुझे मधु-मिश्रित शीतल जल पिलाया।

यदि जल की शीतलता ही अन्तर्द्वन्द्व शान्त करने में समर्थ होती तो धरती का सारा तनाव एक हिमालय ही शान्त कर देता। फिर मनुष्य को संसार से मुक्ति की चाह न होती। पर ऐसा कहाँ है? मुझे सबसे बड़ा दुःख यही था कि इस कुकृत्य को याज ने कराया जिसके पिता मेरे पिता के मित्र थे। वे बहुधा हमारे आश्रम में आते थे। याज भी उनके साथ आता था। वह मेरे साथ खेलता था। उससे तो मुझे स्वप्न में भी ऐसी आशा नहीं थी।....पर हाय रे स्वर्ण, तेरे चाकचिक्य ने किसे पथ-भ्रष्ट नहीं किया?

जब याज स्वर्ण के लोभ में हमारे विरुद्ध जा सकता है तब किसका भरोसा किया जाय? किसे अपना और किसे पराया कहा जाय? विचित्र युग आ गया। हर व्यक्ति अपने स्वार्थ के घेरे से घिरा है। फिर कौरव अपने स्वार्थ की बात सोचते हैं तो क्या बुरा करते हैं। मैं सोचता रहा, सोचता रहा। मैं अपने बिस्तर पर लेटा था, मेरी आँखें भी बन्द थीं, पर मेरे मस्तिष्क में रथ का पहिया चल रहा था।

अचानक धातु-पात्रों के खनकने की ध्वनि कानों से टकरायी। मेरी आँखें सहसा खुल गयीं। देखा, कृपी कलश से चषक में मैरेय उँड़ेल रही है। मैं झुंझलाया,—"क्या खड़खड़ाहट मचा रखी है? मुझे सोते-सोते जगा दिया।"

वह मुस्करायी जैसे मेरी असलियत को अच्छी तरह जानती हो और फिर बड़े भाव से बोली—"सोते-सोते जगा नहीं दिया, वरन् जागते-जागते सुलाने का उपक्रम कर रही हूँ।" फिर वह हल्के-हल्के हँसी या जोर से मुस्करायी।

नारी के मुस्कराहट की बाढ़ पुरुष के मन के कूड़े-कचरे को तो एक बार बहा ही ले जाती हैं। मेरा मन भी धीरे-धीरे धुलने लगा।

सुबह जब सोकर उठा तो दिन काफी चढ़ आया था। आज मैरेय में मैं इतना डूब गया था कि मेरी चेतना को प्रातःकालीन संध्या-पूजन का भी ध्यान नहीं रहा, पर मन हल्का था, क्रौंच के पंख की तरह हल्का। मैंने कृपी को बुलाया—"आज तुमने मुझे पूजन के लिए भी नहीं जगाया।"—मैंने कहा।

"आपका चित्त अशान्त था, सोचा आप थोड़ा और विश्राम कर लें।"

"तो तुम्हारे विचार से मुझे विश्राम की अधिक आवश्यकता थी, पूजन की नहीं।"

"उसने मुस्कराते हुए सिर हिलाया और धीरे से बोली—"पूजन तो शान्त चित्त की वस्तु है प्रियतम।"

"तुम्हारी यह नयी मान्यता मेरे समझ में नहीं आयी।''''आज तक तो यह मान्यता थी कि पूजन से अशान्त चित्त को शान्ति मिलती है।"

यदि ऐसा होता तो पूजन से संसार की अशान्ति शान्त कर दी जाती। संन्ध्या-पूजन से सारे युद्ध बन्द कर दिये जाते, तलवारें म्यान में सुला दी जातीं।"

"लगता है, अब तुम नास्तिक होती जा रही हो।"—मैं कहते हुए मुस्कराया।

इसी बीच बाहर से एक पतली आवाज सुनायी दी—"क्या मैं भीतर आ सकती हूँ?"

स्पष्ट था कि यह स्वर परिचारिका रेवती का है। "वह तो बिना पूछे अन्दर आ सकती है, फिर आज्ञा लेकर अन्दर आने का क्या प्रयोजन?"

कृपी हँस पड़ी, बोली,—"इस समय हम दोनों के अतिरिक्त कक्ष में कोई और नहीं है। पता नहीं, हम किस स्थिति में हों ? उसने सोचा होगा।"—मुझे भी हँसी आ गयी।

"चली आओ···चली आओ। कोई विशेष कार्य सम्पन्न नहीं किया जा रहा है।"—इस बार के मेरे अट्टहास में कृपी ने खुलकर साथ दिया।

रेवती ने आकर बताया कि हस्तिनापुर से पुलोमा आयी है।

"भाड़ में जाय हस्तिनापुर और भाड़ में जाय पुलोमा।···जरा-सा चित्त शान्त नहीं हुआ कि तनाव बढ़ाने कोई-न-कोई आ पहुँचा।····जाकर कह दे कि आचार्यजी की तबीयत ठीक नहीं है। वह इस समय नहीं मिल सकते।"

रेवती चलने को हुई। मैंने उसे रोकते हुए कहा,—"ना, ना, ऐसा मत कहना। उसे बैठाओ, जलपान कराओ, तब तक मैं तैयार होकर आता हूँ।"

"जानती हो, किसी स्थिति से भागने से उसका समाधान नहीं निकलता, कृपी। संसार एक रणक्षेत्र है। उससे भागनेवाला कायरों का जीवन जीता है।"

"तो बिताइए आप योद्धाओं का जीवन।"—इतना कहकर वह नाराजगी का अभिनय करती हुई कक्ष से बाहर चली गयी और मैं नित्यकर्म के लिए अपने बिस्तर से उठा।

मध्याह्न के पूर्व ही पुलोमा से मेरी मुलाकात हुई। उसने बताया कि गांधारी और शकुनि की मंत्रणा कल रात बहुत देर तक चलती रही। भाई-बहन इतनी देर तक क्या बातें करते रहे इसका तो पता नहीं है, पर इतना पता अवश्य लगा है कि शकुनि की चाल काम कर गयी है। उसने गान्धारी को राजी कर लिया है।"

"किस बात के लिए राजी कर लिया है ?"—मैंने पूछा।

"यह तो ठीक-ठीक नहीं मालूम।"

"जब यही नहीं मालूम तब तुम्हें ऐसी कौन-सी बात मालूम हुई कि तुम भागी हुई हस्तिनापुर से यहाँ चली आयी।"—मैं थोड़ा झिझका।

"हो सकता है, उसने इन्द्रप्रस्थ पर चढ़ाई की योजना बनायी हो।"

"शकुनि कभी युद्ध की योजना नहीं बना सकता।"—इसके बाद मैंने उससे विदुरजी के यहाँ अपनी भेंट की चर्चा की और बताया कि वह शस्त्रों से अधिक चौसर के पासों पर विश्वास करता है।

"तभी वह एक दिन जुए की बात कर रहा था और महाराज को राजी कर रहा था कि वह पाण्डवों को चौसर खेलने का निमंत्रण दें।

"तब महाराज ने क्या कहा ?"

"महाराज ने यह कहा कि इस सम्बन्ध में वे विदुरजी से राय लेंगे।....किन्तु विदुरजी का नाम लेते ही शकुनि जैसे भभक-सा पड़ा, बोला—"आप हर बात में विदुर-विदुर करते हैं, पर आपको क्या नहीं मालूम कि इसी व्यक्ति ने लाक्षागृह की आपकी सारी योजना पर पानी फेर दिया था।"

"तब क्या कहा महाराज ने ?"—मेरी जिज्ञासा और बढ़ी।

उन्होंने बड़े शान्त भाव से कहा,—"अच्छा हुआ विदुरजी ने हमारी भूल सुधार ली। यदि आज पाण्डव जीवित बचे न होते तो हमारे परिवार में राजसूय यज्ञ कौन करता ?"

"आप कैसी बातें करते हैं ? अरे पाण्डव न होते तो आज राजसूय यज्ञ हस्तिनापुर में होता।—आप के पुत्र शौर्य और पराक्रम में उनसे कम हैं क्या ?"

इतना कहकर पुलोमा चुप हो गयी। शायद मेरी जिज्ञासा की परीक्षा लेने की इच्छा से ही वह मौन हो गयी थी क्योंकि मुझे अनुमान लग रहा था कि उसके पास कहने को अभी और शेष है। पर मैं चुप था। पहले से अबकी मेरी मनःस्थिति में परिवर्तन हो गया था। पहले पाण्डव के अहित की बात सुनते ही मैं घबरा उठता था, पर अब मुझे वैसी घबराहट नहीं होती थी।

मैं कुछ विचार करते हुए बोला,—"पाण्डवों के होते हुए भी हस्तिनापुर में राजसूय यज्ञ हो सकता था, पर अब नहीं हो सकता।"

मेरी बात पहले वह समझ नहीं पायी, फिर मैंने स्वयं उसे समझाया,—"पाण्डवों से कृष्ण का सम्पर्क होने के बाद अब कभी कौरव उनसे 'बीस पड़ेंगे, मैं ऐसा सोच नहीं पाता हूँ।....वह व्यक्ति अद्भुत है पुलोमा। उसके रहते पाण्डवों को किसी भी क्षेत्र में पराजित करना असम्भव है।"

पुलोमा मेरा मुँह देखती रह गयी। कदाचित् उसे आश्चर्य था कि आज मैं पाण्डवों के पराजय की बात कैसे सोचने लगा हूँ या हो सकता है मेरे मुख से कृष्ण की अतिशय प्रशंसा से वह स्तब्ध हो गयी हो। जो भी हो, इसे तो वही जाने। पर इतना निश्चित है कि वह मौन होकर कुछ सोइसे लगी थी।

इस घटना के कई महीने बाद।

जाड़ा जब अपनी अन्तिम साँस लेने लगा। माघ पूर्णिमा को मैं अहिच्छत्र से दो योजन दक्षिणा गङ्गा के ही किनारे पर लगे विष्णुपुर के मेले में गया था। साल में एक दिन मैं यहाँ अवश्य आता हूँ। यह मेला वसंत पंचमी से माघ पूर्णिमा तक लगता था। मेरे राज्य का यह अपने ढंग का निराला और सबसे विशाल मेला है। यह अनादि काल से लगता चला आया था। दैनिक जीवन की सभी आवश्यक वस्तुओं की खरीद-विक्री यहाँ होती है। पशुओं का तो इतना बड़ा बाजार शायद ही कहीं लगता हो। इसके अतिरिक्त अस्त्र-शस्त्र-रथ, तरह-तरह के पक्षी, यहाँ तक कि सर्पों के भी क्रेता और विक्रेता यहाँ उपस्थित होते हैं।

सर्प-विक्रय इस मेले की सबसे बड़ी विशेषता है। इसके अतिरिक्त सर्पों की सामूहिक रूप में विक्री और कहीं नहीं होती है। सर्प-विष एक प्रकार के मारक बाण के निर्माण में काम आता है। आदिवासी ऐसे जहरीले साँपों को पालते और बेचते हैं। इन बेचारों का व्यवसाय ही मृत्यु से खिलवाड़ करना है।

पूरे मेला-क्षेत्र में अनेक खेमे लगते हैं, जिनमें भाँति-भाँति के खेल-तमाशे होते हैं, नर्तकियों के नृत्य, गायकों के गायन, ब्राह्मणों के शास्त्रार्थ के साथ ही अनेक साधु-संतों के दर्शन भी इन्हीं खेमों में हो जाते हैं।

दस दिनों तक चलनेवाला यह मेला हमारे राज्य के बाहरी लोगों के भी आकर्षण का केन्द्र हो जाता है। मेले में जो वस्तुएँ बिकती हैं, उनका छठांश मेरे राज्य कर्मचारी कर के रूप में वसूल कर लेते हैं। मेले के अन्तिम दिन मेरा

यहाँ उपस्थित होना अनिवार्य है। जब से मेरा इस क्षेत्र पर अधिकार हुआ तब से मैं यहाँ आता हूँ। इसके पहले माघ पूर्णिमा को द्रुपद यहाँ आया करते थे।

यहाँ मेरा कार्यक्रम भी परम्परा से निश्चित है। उषाकाल से ही राज्य कर्मचारी मेरे आने की सूचना प्रसारित कर देते हैं। मेरे दर्शन हेतु उस दिन जन-समुदाय बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित हो जाता है।

दो घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते मेरा रथ मेले में प्रवेश करता। अत्यन्त मंथर गति से रथ एक बार सारे मेले में घूम आता। जिधर से रथ निकलता, उधर से लोग मेरा गगन-भेदी जय-जयकार करते। फिर मैं विष्णु के मन्दिर में परंपरागत विधि से पूजन करता। यह मन्दिर ठीक गंगा के किनारे है। आजकल लहरें इसका स्पर्श मात्र करती हैं, किन्तु वर्षा में पूरा मन्दिर डूब जाता है। कहते हैं महर्षि वाल्मीकि ने इस मन्दिर की प्रतिमा की स्थापना की थी।

एक घड़ी के विधिवत् पूजन के बाद कुछ गणमान्य लोग मेले में आयी उत्कृष्ट वस्तुओं को उपहार-स्वरूप लेकर मेरी सेवा में उपस्थित होते हैं तथा महत्त्वपूर्ण खेल-तमाशे देखने का भी निमंत्रण देते हैं। मेरी इच्छा पर था कि उन तमाशों को देखूँ या न देखूँ, किन्तु जिसका 'करतब' देख लेता था वह अपने को धन्य समझता था।

इसके बाद तीसरे प्रहर एक सुसज्जित शिविर में मेरा न्यायालय लगता था, जिसमें विगत दस दिनों में पकड़े गये अपराधियों का मैं निर्णय करता। इसके पश्चात् ही मेले में आये शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों तथा साधु-सन्तों का सत्कार करने के लिए मैं स्वयं उनके पास जाता और उन्हें उचित पुरस्कार भी देता।

आज जब पूजन के बाद उपहार देने की प्रक्रिया समाप्त हो चुकी तब लोग मुझे खेल-तमाशे देखने का आमंत्रण दे जाने लगे। मैं अपने रथ पर बैठने ही वाला था कि कम्बल में लिपटा हुआ अत्यन्त श्याम वर्ण का एक बूढ़ा आदिवासी मेरे चरणों पर गिर पड़ा। मैंने बड़े सहज भाव से पूछा—"क्या चाहते हो?"

वह कुछ नहीं बोला, केवल हाथ जोड़े खड़ा रहा, किन्तु उसके बगल के कुछ सभ्य लगनेवाले युवकों ने कहा—"महाराज, इसके पुत्र का करतब देखकर आप इसे कृतार्थ कीजिए।"

"क्या वह नट है ?"

"नहीं महाराज । बाण-विद्या के चमत्कार दिखलाता है ।"

"बाण-विद्या का चमत्कार !···आचार्य द्रोण को बाण-विद्या का चमत्कार दिखानेवाला कौन-सा युवक पैदा हो गया ।"—मेरे मन की गूँज अधरों के बीच में मुस्कराहट बनकर बिखर गयी ।

फिर भी मैंने और कहीं न जाकर कर्मचारियों को सीधे उस बाण-विद्या का कौशल दिखानेवाले बालक की ओर चलने का निर्देश दिया ।

मेरा रथ अपनी मंथर गति से चलता गया । वह बूढ़ा आदिवासी लम्बा डंडा लेकर मेरे रथ के पीछे दौड़ता रहा । कभी-कभी वह उस डंडे को भूमि में गाड़कर बड़े विचित्र ढंग से आगे की ओर कूदता था । मुझे लगता है ऐसा वह थकावट से बचने के लिए करता था ।

मेले के उत्तरी-पश्चिमी छोर के एक विस्तृत समतल भूमि पर वह बालक धनुर्विद्या के कौशल दिखा रहा था । बहुत से लोग उसे देखने में ध्यान-मग्न थे । मेरे रथ की गड़गड़ाहट सुनते हुए लोग मेरा जय-जयकार करते हुए हट गये । मुझे देखते ही वह बालक दौड़ा हुआ आया और मेरे चरणों पर अपना सिर रख दिया । रथ पर बैठे-ही-बैठे मैंने आशीर्वाद दे उसे कार्य आरम्भ करने का संकेत किया ।

सचमुच उस बालक ने धनुर्विद्या के अद्भुत 'करतब' दिखाये । उसने शब्द-वेधी बाण भी बड़ी सफलता से मारकर दिखाया । इसके बाद वह बूढ़ा एक गोल काठ का टुकड़ा ले आया और बोला—"इसे आप बीस हाथ से अधिक ऊपर उछाल दें और जितने टुकड़े कहें यह धरती पर गिरने के पूर्व बाण से मारकर कर दिखायेगा ।"—मैंने देखा, बूढ़े की आँखों में एक विचित्र तरह की चमक थी ।

फिर भी मेरे अंगरक्षकों ने उसे पीछे ढकेल दिया—"अशिष्ट···असभ्य ! महाराज से निवेदन करने का शिष्टाचार भी नहीं जानता ।"

बूढ़ा सकपकाया । भीड़ में भी कुछ हलचल हुई । शिष्टाचार के अनुसार उसे मुझसे काठ का टुकड़ा उछालने के लिए नहीं कहना चाहिए था । पर बेचारे

को इतना ज्ञान कहाँ ? मैंने उन्हीं अंगरक्षकों में से एक से काष्ठ-खण्ड उछालने के लिए संकेत किया। उसने ज्योंही काष्ठ-खण्ड उछाला, मैंने कहा—"पाँच टुकड़े।"

बालक ने एक सनसनाता बाण मारा और काष्ठ-खण्ड के पाँच ही टुकड़े धरती पर गिरे। विलक्षण था उसका यह कौशल। अत्यन्त गम्भीर रहते हुए भी मेरे मुँह से 'वाह' निकल गया। जी में आया कि इससे पूछूँ कि तुमने यह धनुर्विद्या किससे सीखी है, किन्तु मैंने एक अचरज और देखा कि बाण मारते समय वह दाहिने अंगूठे का बिल्कुल उपयोग नहीं करता, वरन् मध्यमा और तर्जनी के बीच से ही शर-संधान करता है।

मैंने कुतूहलवश पूछा—"तुम्हारे अंगूठे में पीड़ा है क्या ?"

बालक कुछ नहीं बोला, केवल मुस्कराता रहा। बूढ़े ने कहा—"नहीं महाराज।"

"तब यह अंगूठे का प्रयोग बाण चलाने में क्यों नहीं करता ?"

"इसके गुरु ने ऐसा करने के लिए मना किया है ?" बूढ़ा अत्यन्त अभिमान और गुरुभक्ति से भीगे स्वर में बोलता रहा—"इसके गुरु का कहना है कि मैंने अपने दाहिने हाथ का अंगूठा गुरु-दक्षिणा में दे दिया है। अब मेरे शिष्यों को बाण चलाने में दाहिने अँगूठे के प्रयोग का अधिकार नहीं है।"

इतना सुनना था कि मेरे सामने का सारा संसार ही जैसे हिलने लगा। मुझे मालूम होने लगा, मानो भीड़ धीरे-धीरे अँगूठों में बदल रही है और मैं चारों ओर अंगूठों से घिरा जा रहा हूँ। अँगूठे! अँगूठे !! अँगूठे !!! कटे हुए अँगूठे, मुझ पर हँसते हुए अंगूठे।

मैंने थैली से निकाला और मुट्ठी में जितने भी निष्क (स्वर्ण-मुद्रा) आये उस बालक की ओर फेंककर रथ बढ़ाने के लिए संकेत करते हुए बोला—"सीधे शिविर में ले चलो।"

सबने समझ लिया कि कोई बात जरूर हो गयी, किन्तु मेरी मुद्रा इतनी गम्भीर थी कि किसी को मुझसे कुछ पूछने का साहस न हुआ।

मेरे मस्तिष्क में अँगूठा रेंगता रहा, मेरे मस्तिष्क में अँगूठा चुभता रहा, मेरे मस्तिष्क पर अँगूठा हथौड़े की तरह प्रहार करता रहा। मैं किसी से कुछ

नहीं बोला। चुपचाप आकर अपने शिविर में गद्दे पर बैठ गया। मेरे मन में बैठा कोई मुझसे कह रहा था—"तुमने उस बालक पर निष्क क्यों लुटाये ? क्यों नहीं उससे कहा कि तुम पुरस्कार में मेरा अँगूठा काट लो।"

मन बहुत देर तक चकित था। मेरा गम्भीर मौन अंगरक्षकों एवं अन्य कर्मचारियों को यह बताने में अक्षरशः सफल हो गया कि मेरी मुद्रा ठीक नहीं है। सभी मेरे मंच के पीछे चुपचाप खड़े रहे, पर किसी ने कुछ नहीं कहा।

धीरे-धीरे न्यायालय लगने का समय आया। मैंने न्याय-विभाग के अमात्य को बुलाकर पूछा—"कुल कितने अपराधी हैं ?"

"यों तो कुल मिलाकर पैंतिस थे। तीस छोटे-मोटे अपराधों में पकड़े गये अपराधी थे। उनका निर्णय कर दिया गया है। श्रीमान् को केवल उन निर्णयों का अनुमोदन मात्र करना है। शेष पाँच ऐसे अपराधी हैं जिनका निर्णय श्रीमान् द्वारा ही अपेक्षित है।"

"क्या ऐसा सम्भव नहीं है कि आप अपने शिविर में न्यायालय बैठाकर उनका भी निर्णय कर लें। मैं उन निर्णयों का भी अनुमोदन कर दूँगा। इस समय मेरी मनःस्थिति ठीक नहीं है।

अमात्य न्यायाधीश कुछ कहना चाहकर भी मौन रहा। जब मेरे सामने से न हटकर चुप-चाप खड़ा ही रह गया तब मैंने उससे पूछा—"कहिए आप कुछ कहना चाहते हैं ?"

"एक अपराधी की सुनवायी यदि श्रीमन् कर लेते तो बड़ी कृपा होती। शेष की सुनवायी तो हम कर लेंगे।"

"कब पकड़ा गया है वह अपराधी ?"

"अभी कल ही।"

"अच्छी बात है। तो आप लोग सब कर डालिए। मैं उन सबका अनु-मोदन एक साथ ही कर दूँगा।....और अन्त में, शेष बचे एक अपराधी को मेरे सामने उपस्थित कीजिएगा।"

उसके बाद अमात्य न्यायाधीश के साथ ही अन्य कर्मचारी भी अभिवादन कर चले गये। मेरे मन में सोचने की प्रक्रिया चलती रही।

लगभग एक घड़ी बाद अमात्य न्यायाधीश ने अपने निर्णयों पर आकर अनुमोदन कराया और विनीत स्वर में बोला—"मात्र एक अपराधी आपके निर्णय की प्रतीक्षा में शेष रह गया है।"

"उसे उपस्थित किया जाय।"—मेरी आवाज गम्भीर ही रही।

दाढ़ी-मूँछों से भरे चेहरेवाला एक परम तेजवान युवक मेरे सामने उपस्थित किया गया। उसके कन्धे तक लटकते हुए सिर के बाल अव्यस्थित और बिखरे हुए थे। मैंने उसे गौर से देखा, उसकी आँखें कुछ विचित्र-सी थीं। ऐसी लग रही थीं जैसे मैं उनसे पहले से परिचित हूँ। उसके पीछे दो-एक व्यक्ति और खड़े थे।

अमात्य न्यायाधीश ने आरोप-पत्र पढ़कर सुनाया। जिसका मुख्य अंश था,—"नियम एवं व्यवस्था के अनुसार आपत्तिकाल में वैश्यवृत्ति का अवलम्बन लेने पर भी ब्राह्मण सुरा, लवण, तिल, पशु, मधु, मांस एवं अन्न का विक्रय नहीं कर सकता।...किन्तु प्रस्तुत नवयुवक ब्राह्मणकुमार है और यह मेले में लवण बेच रहा था।"

मैंने एक दृष्टि उस युवक पर पुनः डाली। उसकी दृष्टि नीची थी, आँखें मानो धरती पर गड़ी जा रही थीं। मैंने उससे पूछा,—"क्यों तुम ब्राह्मण हो?"

उसने स्वीकृति में सिर हिलाया।

मैंने अमात्य न्यायाधीश से पूछा,—"इसके पीछे खड़े दोनों युवकों का परिचय क्या है?"

"ये लवण के वैश्य विक्रेता हैं। इन्हीं लोगों ने युवक के ब्राह्मण होने की सूचना दी है।"

तुम लोग भी लवण के विक्रेता हो और यह युवक भी लवण ही बेच रहा था।....लगता है, व्यापारिक स्पर्द्धा में तुमने इसकी शिकायत की।"

"व्यापारिक स्पर्द्धा में नहीं महाराज। वर्ण-व्यवस्था की सुरक्षा भावना से ही मैंने राज्य कर्मचारियों को सूचना दी थी।"—उन दोनों में से एक ने हाथ जोड़ते हुए कहा।

मैंने दूसरे युवक की ओर दृष्टि घुमायी। उसने भी हाथ जोड़ते हुए निवेदन किया,—"हाँ महाराज, हम लोगों ने वर्ण-व्यवस्था की सुरक्षा की भावना से ही ऐसा किया था। यदि व्यापारिक स्पर्द्धा की बात होती तो अन्य लोग भी मेले में लवण बेच रहे थे, पर हम लोगों ने किसी के विरुद्ध कुछ भी शिकायत नहीं की।"

"तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि यह युवक ब्राह्मण है ?"—मैंने पूछा।

"महाराज, इनकी सारी दिनचर्या एवं कार्य-पद्धति एकदम ब्राह्मणों जैसी लगी। सन्ध्या-पूजन पर ध्यान रखना, प्रातःकाल उठते ही वेद-मंत्रों की आवृत्ति करना, गंगा में खड़े होकर घड़ी-भर गायत्री जपना आदि—यह वैश्य वर्ण की वृत्ति नहीं हो सकती।—अतएव हम लोगों ने इनके वैश्य होने में केवल शंका की थी, कोई आरोप नहीं लगाया था।"

"हाँ, यह सत्य है कि आरोप इन लोगों की ओर से नहीं लगाया गया था।"—अमात्य न्यायाधीश के सहायक ने कहा,—"इनकी शंका के बाद जब हम लोगों ने इनसे पूछताछ की, तो इन्होंने स्वयं को ब्राह्मण होना स्वीकार कर लिया।"

"झूठ नहीं बोला।"—मैंने कहा,—"यह भी ब्राह्मण होने का ही प्रमाण है।"—इसके बाद मैंने उन दोनों लवण-विक्रेता साथियों को चले जाने का निर्देश किया। वे अभिवादन कर प्रसन्न चित्त चले गये।

अब मैंने उस ब्राह्मणकुमार से पूछा,—"तुमने किन परिस्थितियों में नियम का उल्लंघन कर लवण बेचना आरम्भ किया ?"

युवक चुप था, किन्तु उसने आँखें ऊपर की ओर मेरी ओर देखा। अब मेरी और उसकी दृष्टि मिली। अवश्य ही मैंने इन आँखों को इसके पहले कहीं देखा है। मैं सिर खुजलाते हुए स्मरण करने लगा।

"तुम चुप क्यों हो ? बोलते क्यों नहीं।"—मैंने उससे कहा।

"परिस्थितिवश मैं इन सबके समक्ष कुछ कहने में असमर्थ हूँ।"—अत्यन्त सीमित एवं सयंमित शब्दों में अन्यों की उपस्थिति का विरोध कर उसने बड़ा कुतूहल पैदा कर दिया।

न्याय की सुरक्षा के लिए मैंने सभी को शिविर के बाहर चले जाने का निर्देश दिया। विस्मय एवं रहस्य की विचित्र स्तब्धता के साथ-साथ सभी बाहर चले गये।

अब वह अत्यन्त धीरे से बोला जैसे कोई बाहरी व्यक्ति सुन न ले।—"आचार्यजी, आपने मुझे पहचाना नहीं, मैं हस्तिनापुर के शिव-मन्दिर का पुजारी आदित्य हूँ।"

"अरे आदित्य···तुम ! मैंने तो तुम्हें पहचाना ही नहीं। कैसी दाढ़ी-मूँछें बढ़ा रखी हैं। तुम तो एकदम बदल गये हो।"—मैं आश्चर्य में बोलता गया,—"···पर तुमने ऐसा क्यों किया ?"

अब उसने सारी कहानी सुनायी। एकदम चकित कर देनेवाली कहानी। उसने बताया कि उपामात्य प्रमथ को एकान्त में ले आकर दुर्योधन ने उसकी हत्या कर दी और उसका शव राजमहल के पश्चिम की ओर पड़नेवाली गहरी खाईं में फेंक दिया। आध पल रुककर उसने पुनः कहना आरम्भ किया—"उसका यह कुकृत्य देखनेवाला उस समय उसके साथियों के अतिरिक्त केवल एक मैं ही था।"

"तुम वहाँ कैसे चले गये थे ?"—मेरे विस्मय ने नये प्रश्न का सृजन किया।

"···प्रातःकाल का पूजन समाप्त कर मैं मन्दिर के बाहर निकला ही था कि यह घटना हो गयी। दुर्योधन के साथ ही कुछ लोग और थे। उनमें से एक ने मुझे देख लिया और मेरी ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया। अब दुर्योधन वही रक्तरंजित असि लेकर मेरी ओर दौड़ पड़ा। मैं तो हक्का-बक्का-सा मंदिर के द्वार पर खड़ा-का-खड़ा रह गया; जैसे किसी ने मेरा पैर बाँध दिया हो।"

वह कहता गया,—"इसके पहले कि वह मेरे पास आकर प्रहार करे, मैं हाथ जोड़कर उससे अपने प्राणों की भीख माँगने लगा।···"उसने किसी तरह छोड़ तो दिया, पर अपने साथियों से बोला,—"यही एक बाहरी व्यक्ति ऐसा है जिसने मुझे प्रमथ की हत्या करते देखा है। यदि यह बात फूटी तो इसके प्राणों का कुशल नहीं।"

"मैंने भय से काँपते हुए प्रतिज्ञा की कि यह बात किसी से नहीं कहूँगा।··· मुझ पर दया की गयी, छोड़ दिया गया, केवल उस समय के लिए।···किन्तु उसी दिन रात्रि की शयन आरती करके जब मैं मन्दिर से निकल रहा था तो कई सैनिकों ने मुझे घेर लिया और वे मेरा वध करने पर उतारू हो गये।"

"जब प्रातः छोड़ दिया था तब सन्ध्या को वध करने का क्या प्रयोजन ?"—मैंने पूछा।

"हो सकता है, उन्होंने कुछ और सोचा हो। दिन में उनका मन बदल गया हो।"

परिस्थिति पर सोचते हुए—मैंने पुनः पूछा,—"उन सैनिकों को तुम पहचानते हो ?"

"पहचान तो नहीं सका। उनमें से दो के मुखों पर पट्टियाँ बँधी थीं। शेष के मुँह खुले थे पर अँधेरा घना हो गया था। पहचानना कठिन था।

"तब तुमने स्वयं को कैसे बचाया ?"—मैंने पूछा।

"मैंने उनसे भी प्राणों की भीख माँगी। वे किसी तरह भी मुझे छोड़ने को तैयार नहीं थे। उनका कहना था कि यदि किसी प्रकार तुम्हें छोड़ दिया जायेगा तो गान्धारी के पुत्र हमें जीवित नहीं छोड़ेंगे। फिर भी मैं गिड़गिड़ाता रहा।··· भगवान की कृपा उनमें से एक को दया आ गयी। उसने कहा कि तुम इस शर्त पर छोड़े जा सकते हो कि इस राज्य से बाहर चले जाओ और छिपकर जीवन बिताओ।···हम लोग अपने स्वामी से कह देंगे कि उसे काटकर गंगा में फेंक दिया गया।—हमने भूतभावन की शपथ लेकर कहा कि ऐसा ही होगा।···तब से वेष बदलकर किसी तरह जी रहा हूँ।"—इतना कहकर वह चुप हो गया। बड़ी निरीहता थी उसकी चुप्पी में।

"तुम्हारे घरवाले कहाँ है ?"—मैंने पूछा।

"वह हस्तिनापुर में ही हैं।"

"उनको तुम्हारे जीवित रहने का आभास है।"

"बिल्कुल नहीं। उनके लिए भी मै अदृश्य हो गया हूँ क्योंकि एक क्षण भी वहाँ रुकना मृत्यु का आह्वान करना था।"—फिर वह साँस लेकर भरे गले से

बोला,—"घरवाले भला क्या-क्या सोचते होंगे ? कैसी-कैसी अशुभ कल्पनाएँ करते होंगे। इतना कहते-कहते उसका गला रुँध गया। आँखें छलछला आयीं। कितनी लाचारी थी उन अश्रु-कणों में जो नयनों से निकल तो आये पर धरती पर गिर न सके।

इसके बाद कुछ क्षणों तक गम्भीर निस्तब्धता थी।

"आखिर प्रमथ की हत्या के पीछे क्या रहस्य है ?"—मैंने पूछा।

"यह तो मुझे नहीं मालूम।"

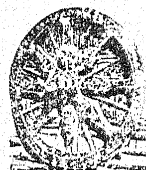
"लगता है, हस्तिनापुर में कोई गम्भीर बात होनेवाली है"—मैंने कुछ सोचते हुए कहा। उसने मेरा समर्थन करते हुए एक गम्भीर रहस्य का और उद्घाटन किया कि राजभवन की प्रमुख परिचारिका पुलोमा भी कई दिनों से लुप्त है।

"पुलोमा लुप्त है ?···ऐसा तो नहीं कि उसकी हत्या कर दी गयी हो।"—मेरे विस्मय ने दूसरी करवट ली।

"कुछ भी हो सकता है आचार्य।···सुना है, दो-चार दिनों से ही वह गायब है।"

अब मेरे अतिशय संवेदनशील मस्तिष्क के लिए नया विषय मिला। पुलोमा-प्रमथ, प्रमथ-पुलोमा, पुलोमा-प्रमथ ! दोनों के चित्र एक दूसरे के बाद मेरे मन-पटल पर बराबर बनने-मिटने लगे। एक विचार मेरे मन में आया कि पुलोमा की ओर दुर्योधन आकृष्ट था, ऐसा तो नहीं कि प्रमथ भी आकृष्ट रहा हो।··· दोनों की हत्याओं के मूल में प्रेम है या राजनीति ? अनुमानों के जंगल में भटकते मेरे मन ने मुँह बन्द रखने के लिए विवश कर दिया था।

थोड़ी देर की गम्भीर शान्ति के बाद प्रकृतस्थ होते हुए मैंने सहसा ताली बजायी। पल मारते ही कर्मचारियों ने शिविर में प्रवेश किया। मैंने उन्हें अमात्य न्यायाधीश और उनके सहयोगियों को बुलाने का निर्देश दिया। वे भी बुलाये गये। तब मैंने अपना निर्णय उद्घोष के साथ सुनाया,—"निस्संदेह इस ब्राह्मण युवक ने वर्णाश्रम नियमों का उल्लंघन किया है। इसे गम्भीर दंड मिलना चाहिए। किन्तु मैं इसे क्या दण्ड दूँ— इसे सोच नहीं पाया हूँ। सम्प्रति इसे मेरे राजभवन में पहुँचाया जाय। मैं इसके दण्ड का विधान भविष्य में कर दूँगा।" ● ● ●



व्यग्रता अपनी चरम सीमा पर थी। प्रमथ की हत्या मेरी दृष्टि में कोई मामूली बात नहीं थी। अहिच्छत्र आने के बाद मैंने सारी सूचना कृपी को दी। सोचा था कि अश्वत्थ ने इस सम्बन्ध में उससे कुछ बातें की हों, पर वह बिल्कुल नहीं जानती थी। उसे भी उपामात्य की हत्या पर विस्मय हुआ। उसका विचार था, यदि उससे कोई अपराध ही हो गया रहा हो तो नियमतः उसकी सुनवायी महाराज को करनी चाहिए थी, जो भी दण्ड वे उचित समझते, देते। इस प्रकार एकान्त में हत्या करके विधि हाथ में ले लेना हस्तिनापुर के हित में नहीं है।"

"क्या हित में है और क्या हित में नहीं है, इस समय इस पर विचार करना ही व्यर्थ है, पर एक बात बताओ, क्या इसकी कोई जानकारी अश्वत्थ को नहीं होगी ?—मैंने पूछा।

"नहीं भी हो सकती, कोई आवश्यक नहीं कि सारी बातें दुर्योधन अश्वत्थ से कहता ही हो।···यदि वह उससे कहता तो वह अवश्य इसकी चर्चा करता।" —कृपी के ऐसा कहने पर मैं पुनः सोचने लगा,—"अश्वत्थ तो उसका अपना है, कैसी विडम्बना है कि लोग अपनों से भी सारी बातें छिपा लेते हैं ?"

"राजनीति कभी अपना-पराया नहीं देखती स्वामी, केवल मित्र और शत्रु निहारती है।"—कृपी अपना वाक्य पूरा कर ही पायी थी कि खबर मिली कि पुलोमा आयी है।

हम दोनों अवाक् से रह गये। उसे तुरन्त बुलाया गया। जिसकी मृत्यु की कल्पना मन ने कर ली हो, उसका साक्षात् दर्शन कितना विस्मयकारी एवं मधुर होता है।

पुलोमा अत्यन्त घबरायी हुई थी। तन की श्लथता और तेज चलती साँसों से स्पष्ट था कि वह भागी हुई चली आ रही है। मैंने पहले उसे बैठ जाने के

लिए अत्यन्त आत्मीयता से कहा और बोला—"लगता है काफी थक गयी हो पुलोमा ?"

"हाँ आचार्यजी, सोचा था कि रात-ही-रात आपके यहाँ पहुँच जाऊँगी, पर दो घड़ी दिन चढ़ आया। छिपती और भागती चली आ रही हूँ।

"छिपती और भागती ?"—सब कुछ जानकर अनजान बनते हुए मैंने कहा,—"तुम्हें भला इस धरती पर छिपने की क्या आवश्यकता ?"

अब उसने एक साँस में हस्तिनापुर की सारी घटना कह सुनायी।

"किन्तु यह बात समझ में नहीं आयी कि प्रमथ की हत्या से दुर्योधन को क्या मिला ?"

"मिलना क्या था ? उसका पागलपन था।...बात यह थी कि शकुनि ने अपने बहन-बहनोई को राय दी कि हमें चौसर खेल के लिए पाण्डवों को आमंत्रित करना चाहिए, पर धृतराष्ट्र इसके लिए तैयार नहीं थे। उनका कहना था कि पाण्डव और कौरव मेरे सामने जुआ खेलें, संसार क्या कहेगा।...उस समय प्रमथ वहाँ था। उसने भी महाराज की हाँ-में-हाँ मिलाया। उसने सलाह दी कि इस मामले में विदुरजी से भी विचार-विमर्श कर लिया जाय।...आप तो जानते ही हैं कि प्रमथ से विदुरजी की बहुत पटती थी। बस इतना ही उसका अपराध था जिसका कठोरतम दण्ड उसे भोगना पड़ा।

"प्रमथ को शकुनि और धृतराष्ट्र के बीच में बोलना नहीं चाहिए था।"—मैंने कहा।

"क्यों नहीं बोलना चाहिए था ? आखिर आमात्य एवं उपामात्य का धर्म क्या है ? राजा को उचित सलाह देना।..."कृपी ने कहा।

"धर्म की बात हस्तिनापुर में करना स्वयं में एक अपराध है ?...पर इतनी सी बात पर प्रमथ की हत्या कर डालना कुछ विचित्र-सा लगता है।"—मैं बोला।

"वस्तुतः प्रमथ जुआ खेलने के प्रस्ताव का ही विरोधी नहीं था। वह मूलतः शकुनि का भी विरोधी था। उसके विरुद्ध महाराज के कान भरता था। यह बात दुर्योधन को मालूम हो गयी होगी।"

२६५

"उपामात्य का इतना साहस कि वह पट्टमहिषी के भाई का विरोध करे ! मुझे तो विश्वास नहीं होता।"—कृपी ने कहा।

"आप विश्वास कीजिए या न कीजिए एक दिन वह मुझसे ही कह रहा था कि यह शकुनि बड़ा नीच है। इसकी योजना है कि जुए के लिए युधिष्ठिर को आमंत्रित किया जाय और सारा राज्य उनसे जीत लिया जाय।"—पुलोमा बोली।

"कोई आवश्यक थोड़े ही है कि जुए में शकुनि ही जीते। हो सकता है युधिष्ठिर ही जीत जाये। वह भी चौसर का पुराना खिलाड़ी है।"—मैंने कहा।

"नहीं महाराज, ऐसा नहीं होगा। उपामात्य ने ही बताया था कि शकुनि ने छल के पासे बनाये हैं जो कभी उसके विरुद्ध पड़ेंगे ही नहीं।"

"तब यों कहो कि जुआ नहीं, बेईमानी होगी।"—मैं फिर कुछ सोचने लगा—यह बात विदुरजी को मालूम है या नहीं ?

"जुए की बात तो उन्हें मालूम है, पर पासे छल के होंगे, यह बात उन्हें मालूम है या नहीं ? यह तो नहीं कह सकती।"—पुलोमा चुप होकर कुछ सोचने लगी। थोड़ी देर में उसने पानी पीने की इच्छा व्यक्त की। कृपी ने तत्काल करतल-ध्वनि की। कई परिचारिकाएँ साथ ही कक्ष में घुसीं। कृपी ने उनमें से एक को मधुमिश्रित जल लाने को कहा और शेष को बाहर ही रहने का संकेत किया।

मैं भी सोचता रहा, यदि विदुर को बेईमानी का आभास नहीं होगा तो वे भी शकुनि की चाल में फँस जायेंगे, क्योंकि जुए के लिए निमंत्रण आत्मीयता का निमंत्रण है, सौहार्द का निमंत्रण है। पाण्डव सहज में ही सोच लेंगे कि कौरव और हमारे बीच प्रेम-भाव को प्रगाढ़ करने के लिए धृतराष्ट्र का यह प्रयत्न है। दूसरी बात यह है कि युधिष्ठिर को चौसर खेलने का शौक भी है। वह अवश्य ही निमंत्रण स्वीकार करेंगे और मारे जायेंगे।

पर मैं इस सम्बन्ध में कुछ पूछूँ इसके पहले एक दूसरी जिज्ञासा जागी,—"लेकिन पुलोमा, मैंने सुना है कि तू हस्तिनापुर से अदृश्य हो गयी है। कुछ

लोग तो यह भी सोचने लगे हैं कि कदाचित् प्रमथ की तरह तेरे भी जीवन का अन्त कर दिया गया है।"

पुलोमा हँसी। "अब तो किसी के सम्बन्ध में कुछ भी सोचा जा सकता है।....क्योंकि हस्तिनापुर का हृदय धधक रहा है। पता नहीं कब और कौन भस्म हो जाये।"—इतना कहते हुए उसकी मुख-मुद्रा अचानक बदली,—"....आपने सुना नहीं, शिव-मन्दिर का पुजारी आदित्य भी मारा गया।"

मैं एकदम अनजान बनते हुए पूछ बैठा,—"अरे, उस बेचारे को लोगों ने क्यों मार डाला ?"

"सुना है, एकमात्र उसी ने प्रमथ को हत्या करते हुए दुर्योधन को देखा था। इसीलिए उसका भी इस धरती से हटाया जाना आवश्यक समझा गया, नहीं तो प्रमथ के हत्यारे के सम्बन्ध में लोग जान जाते।"

"फिर भी तो लोग जान गये।"—मैंने मुस्कराते हुए कहा।

"जान क्यों नहीं जाते महाराज! प्रेम और हत्या कहीं छिपाने से छिपती हैं।"—पुलोमा की आकृति पर यह सिद्धान्त-वाक्य गम्भीरता की हल्की छाया बिखेर गया।—"आदित्य की हत्या पर तो सारे नगर में थू-थू हो रही है।....बेचारे की व्यर्थ ही जान गयी। न वह उस समय मन्दिर में पूजन के लिए जाता और न मारा जाता।....दिन में तो वह किसी तरह प्राणों की भीख माँगकर बच गया था। पर रात में बेचारा एकदम लुप्त कर दिया गया।"

"लुप्त ही कर दिया गया न! ऐसा भी हो सकता है कि लोगों ने उसे कहीं बन्दी बनाकर रख छोड़ा हो।....बेचारा अभी जीवित हो।"—कृपी ने विचित्र दृष्टि से मुझे देखा। कदाचित् वह सोच रही थी कि अब मैं रहस्योद्घाटन करने ही वाला हूँ किन्तु मैंने बड़े नाटकीय ढंग से बात दूसरी ओर मोड़ दी,—"दुर्योधन भी कितना बड़ा मूर्ख है, उसने साधारण-सी बात पर ब्रह्म-हत्या कर दी।....यह सोचना ही कि मेरे पाप को कोई नहीं देखता संसार का सबसे बड़ा भ्रम है।"—इसके बाद पीठ के पीछे लगी तकिया ठीक करते हुए मैंने कहा,—"....इस सन्दर्भ में तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ।....कोरी कहानी नहीं बल्कि सत्य कथा। बहुत दिन हुए पिताजी ने एक बार आश्रम में प्रवेशार्थियों के

लिए परीक्षा लेनी चाही थी। उनका विचार था कि योग्य को ही शिक्षा देनी चाहिए और जो शिक्षा का पात्र न हो उसे शिक्षा नहीं देनी चाहिए। मैंने इसका विरोध किया था। मेरा विचार था कि जो आश्रम में आ जायें उन सभी को शिक्षा मिलनी चाहिए। इस विरोध के पीछे मेरी लोभ-भावना ही प्रमुख थी। मैं सोचता था कि कहीं परीक्षा में ऊँचे घरों और राजकुल के प्रवेशार्थी अनुत्तीर्ण हो गये और अधिकांश निर्धन परिवार से ही आ गये तब आश्रम की आर्थिक स्थिति का क्या होगा ?…तब पिताजी ने बताया था कि महर्षि कपिल प्रत्येक प्रवेशार्थी की परीक्षा लेते थे। एक बार परीक्षा इतनी कठिन ली गयी कि उसमें एक ही शिष्य उत्तीर्ण हो पाया।"

मैंने परीक्षा के सम्बन्ध में बताया,—"सभी प्रवेशार्थियों को बुलाकर उन्होंने प्रत्येक को एक-एक कपोत दिया और उनसे कहा इसे ऐसी जगह मार-कर ले आओ जहाँ इसे कोई न देखता हो। सब अपने-अपने कपोत लेकर पहाड़ियों में, जंगलों में और झाड़ियों में चले गये तथा सुनसान स्थानों पर मार-मार कर ले आये। केवल एक ही प्रवेशार्थी ऐसा था जिसने उस कपोत को जीवित ही लौटा दिया और कहा,—"आचार्य, मुझे संसार में कोई ऐसा स्थान दिखायी नहीं देता जहाँ इस कपोत को कोई न देखता हो। पहले तो इस कपोत को मैं देखता हूँ और यह मुझे देखता है।…फिर संसार के कण-कण में परमात्मा है जो हम दोनों को देखता है। तब मैं इसे कैसे मारूँ ?"

मैं पुलोमा को सम्बोधित करते हुए कहता गया,—"पुलोमा, मात्र वही प्रवेशार्थी ऐसा था जो परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ और केवल उसे ही आश्रम में प्रवेश मिला।"

"कौन था ऐसा प्रतिभावान् प्रवेशार्थी ?"—पुलोमा ने पूछा।

"यह तो पिताजी ने नहीं बताया, पर इतना तो समझो ही कि वह दुर्योधन नहीं था।"—इतना कहते ही मैं हँस पड़ा। कृपी भी हँसी और पुलोमा मुस्करायी।

"अच्छा, यह बताइए यदि ऐसी परीक्षा होती तो आपके शिष्यों में से कौन उत्तीर्ण होता ?"—पुलोमा की मनःस्थिति उसी धारा में बहती हुई पूछ बैठी।

"मेरा विश्वास है कि युधिष्ठिर और अर्जुन दोनों उत्तीर्ण हो जाते।"—एक क्षण रुककर कुछ सोचते हुए मैंने पुनः कहा,—"युधिष्ठिर को आत्मा-परमात्मा और जीवन-दर्शन का ज्ञान जन्मजात है। वह सहज ही ऐसी परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता और अर्जुन ?...उसकी प्रतिभा हर क्षेत्र में विलक्षण है। उसे उत्तीर्ण हो जाने में भी कोई कठिनाई न होती।"

"कौरवों में से भी कोई उत्तीर्ण हो सकता है ?" कृपी ने शायद बात आगे बढ़ाने के लिए ही मुस्कराते हुए पूछा।

"अरे मारो...। ये सभी अहं की ऐसी लौहकारा में बन्द हैं जहाँ ज्ञान पहुँच ही नहीं सकता।"

"लेकिन महाराज, आजकल पाण्डवों के ज्ञान को भी अहं की एक पुतली ने अपने प्रेम-पाश में ऐसा जकड़ रखा है कि अब पाण्डव, पाण्डव नहीं रह गये, उनमें आकाश-पाताल का अन्तर आ गया है।"—पुलोमा की आकृति के भाव में अनेक बार उतार-चढ़ाव आया।

मैं समझ गया कि पुलोमा का संकेत द्रौपदी की ओर है। मेरे मन में सोयी घृणा द्रौपदी का स्मरण करते ही जैसे जाग उठी,—"वह तो चुड़ैल है चुड़ैल। पाण्डवों को बरबाद करके ही दम लेगी। पुत्रेष्टि यज्ञ से उत्पन्न घृणा, द्वेष एवं प्रतिशोध की पुतली।"

अब क्या था ? पुलोमा को खुलने का मौका मिला और वह खुलती ही गयी—"...अरे मत पूछिए। ऐसी अभिमानिनी तो मैंने देखा ही नहीं।... महाराज, अब बताती हूँ। अभी तक तो मैंने छिपाये रखा था, हस्तिनापुर से भागकर मैं सीधे इन्द्रप्रस्थ गयी थी। सोचा, शकुनि की चाल से सचेत कर दूँ। मध्य रात्रि के कुछ ही बाद मैं वहाँ पहुँची थी। पहले तो द्वारपालों ने मुझे प्रासाद में प्रवेश करने ही नहीं दिया और कहा कि महाराज का कठोर निर्देश है कि कोई भी स्त्री रात्रि में प्रासाद में प्रवेश न करने पावे। फलतः मैंने मुख्यद्वार के पूरब वटवृक्ष के नीचे शेष रात बितायी।

"प्रभात की पहली किरण के साथ ही मैं प्रासाद में प्रवेश कर गयी। मुख्य उद्यान के उस पार एक नवागन्तुक कक्ष बना है जहाँ प्रत्येक आगन्तुक को

जाना पड़ता है और अपना परिचय तथा आने का कारण बताना पड़ता है। मैंने स्पष्ट कहा कि मैं आप लोगों को अपना परिचय बताने में असमर्थ हूँ और साथ ही कारण भी नहीं बता सकती। मुझे महाराज से या पट्टमहिषी से मिला भर दीजिए।"

नवागन्तुक-कक्ष का कर्णिक बोला,—"असम्भव। बिना परिचय या प्रयोजन के यहाँ किसी से मिल पाना सम्भव नहीं।"

"मुझे कुछ गोपनीय सूचनाएँ देनी हैं।"—मैंने कहा।

"इसके लिए आपको गुप्तचर विभाग में जाना पड़ेगा, किन्तु वह भी परिचय दिये बिना सम्भव नहीं है।"

तब मैंने डाँटा,—"कहीं गुप्त सूचनाएँ भी परिचय देकर बतायी जाती हैं? क्या व्यर्थ की व्यवस्था की परिधि बाँध रखी है?"

अब वह थोड़ा सकपकाया। उसने पूछा—"आखिर मैं पट्टमहषी के पास क्या लिखकर भेज दूँ?"

"लिखकर भेज दीजिए कि हस्तिनापुर से एक महिला आयी है जो आप से मिलना चाहती है।"

इसके बाद सूचना अन्त:पुर में भेजी गयी और मैं अतिथि-भवन में।...हाँ अतिथि-भवन की व्यवस्था उच्च कोटि की थी, पूर्णरूप से वैभव-सम्पन्न, सजा-सजाया, अनेक परिचायक एवं परिचारिकाएँ।"....आप इन दिनों इन्द्रप्रस्थ गये हैं या नहीं।"—पुलोमा ने बात बदलते हुए पूछा।

"इधर तो नहीं गया। वही राजसूय यज्ञ के समय गया था।"—मैंने कहा।

"तब से अब तो बहुत बदल गया है, जमीन आसमान का अन्तर है। जरा एक बार हो आइए न, आँख खुल जायेगी।"—पुलोमा बोली।

तब मेरे जाने से क्या लाभ? जाना तो उन्हें चाहिए जिनकी आँखें बन्द हों।"—मेरा संकेत धृतराष्ट्र की ओर था।

"उनकी आँखें तो ऐसी बन्द हैं जो कभी नहीं खुल सकतीं।"—एक उपेक्षा भरी मुस्कराहट उसके अधरों पर रेंग गयी।

द्रो०—१३

मेरी जिज्ञासा विराम नहीं चाहती थी, मैंने कहा,—"जिनकी आँखें हमेशा के लिए बन्द हैं उन्हें खोलकर तुम क्या करोगी ?··यह बताओ कि आगे क्या हुआ ?"

"···सूचना पहुँचने की तीन घड़ी बाद; अर्थात् खा-पीकर जब मैं एक नींद ले चुकी तब अन्तःकक्ष से मेरी बुलाहट आयी। मध्याह्न का सूर्य दक्षिण की ओर झुक चुका था।

वह कहती गयी,—"अन्तःकक्ष की विशालता देखकर मैं अवाक्-सी रह गयी। वैभव की दीप्ति से वह दप्प-दप्प कर रहा था। दीवार पर अनेक प्रकार के चित्र बने थे। मेरी दृष्टि जहाँ पड़ती वहीं उलझ जाती। मैं एकदम चौंधिया-सी गयी थी कि एक तड़पती-सी आवाज सुनायी पड़ी—"इधर-उधर मत देखिए। सीधे यहाँ चली आइए।"

अब मेरी दृष्टि उधर गयी। आश्चर्य है, इसके पहले भी मैं उधर देख चुकी थी तब मैंने समझा था कि कक्ष के उन्मुक्त प्रांगण में कोई मनुष्याकार प्रतिमा पुष्करिणी में पैर लटकाये मुद्रा में बैठी बनायी गयी है। अब मुझे भान हुआ कि यह प्रतिमा नहीं वरन् द्रौपदी है जिसके दोनों पैर पुष्करिणी में खिले कमलों से खेल रहे हैं। विचित्र आभा थी उसकी आकृति पर। जब पाण्डवों के साथ विवाहित होकर आयी तब मैंने उसे देखा था।··किन्तु इस बार की द्रौपदी जैसे दमक रही थी। पद प्रतिष्ठा एवं ऐश्वर्य मनुष्य के व्यक्तित्व में कितना परिवर्तन ला देते हैं इसका आभास मुझे उसी क्षण हुआ।"

मैं अनुभव कर रहा था कि पुलोमा बातचीत के सिलसिले में मुख्य बात से कितना बहक जाती है। टोकने की इच्छा होकर भी मैंने उसे टोका नहीं। वह कहती गयी,—"जब तन की बाह्य स्थिति में इतना परिवर्तन हो जाता है तब मन तो हिमालय चढ़ जाता होगा। द्रौपदी के मन की स्थिति का ज्ञान इसके पूर्व तो मुझे नहीं था, पर इस समय हो गया, अब वह बिल्कुल आग है आग।"

"आखिर उसके ताप का तुम्हें कैसे आभास हुआ ?"—मैंने अब उसे टोका।

"आप ताप कहते हैं; अरे लपक कहिए लपक।...जब उसने बुलाया मैं चुपचाप उसकी ओर सरकती चली गयी जैसे धधकती लपटों के निकट तिनके उड़ते चले जाते हैं।"

मेरे निकट पहुँचते ही न उसने परिचय पूछा, न आने का कारण पूछा, वरन् सीधे-सीधे गम्भीर अहंमन्यता से भरी हुई आवाज में बोली—"क्या चाहती हो ?"

जैसे मैं कोई भिखारिणी होऊँ, कुछ माँगने आयी हूँ। मुझे बड़ा बुरा लगा, पर ऐसी स्थिति में क्या करती ? दबी जबान से बोली—"आप से कुछ बातें करने आयी हूँ।"

"मुझसे बातें करने ? तुम्हारी स्थिति क्या हैं ?"—उसका स्वर पुनः भभका।

मैं कुछ समझ नहीं पायी, चुप रही। उसने पुनः पूछा,—"तुम क्या हो ?"

"मैं हस्तिनापुर की परिचारिका हूँ।"

"परिचारिका हो तो परिचारिकाओं से बात करो। तुम्हारा यह साहस कि तुम सीधे पट्टमहिषी से बातें करने चली आयी।"—इतना कहकर उसने मेरी ओर से मुँह फेर लिया।

एक क्षण के लिए मैं अवाक् रह गयी। फिर भी मेरी बेहयाई देखिए कि मैं वहाँ से हटी नहीं, वरन् अपना परिचय पुनः दुहराते हुए अपना मनतव्य कह डाला,—"मैं हस्तिनापुर की प्रधान परिचारिका हूँ, पुलोमा। आपके पतिगण मुझे जानते हैं। मैं आपके हित की एक अत्यन्त गोपनीय सूचना देने आयी हूँ।"

"मेरे हित की ? इस सूचना देने में तुम्हारा क्या हित है ?"

"इसमें मेरा कोई हित नहीं।...मैं आप से कुछ भी नहीं चाहती।"—मेरा स्वर भी थोड़ा तेज हुआ। वह चुप हुई जैसे वह सुनना चाहती हो।

"हस्तिनापुर में आपके विरुद्ध एक षड्यंत्र रचा जा रहा हैं।"—मैंने कहना आरम्भ कर दिया,—"वह आपका सारा राज्य खेल-खेल में लेना चाहते हैं।"

"तो ?"—द्रौपदी कुछ सोचते हुए बोली।

"तो आपको सचेत होना चाहिए। इसी में आपका हित है।"

"हित"···मेघ जैसी गड़गड़ाहट-भरी ध्वनि में वह तड़पी,—"···तुम्हारी जैसी हित-चिंतिकाएँ ही कौरव और पाण्डवों की अशान्ति के मूल में हैं।··· पुलोमा, तू नमक खाती है हस्तिनापुर का और हित सोचती है इन्द्रप्रस्थ का। अपने धर्म से च्युत परिचारिका, तू जब अपने स्वामी का हित नहीं सोच सकी तो मेरा क्या हित सोचेगी ?···चली जा यहाँ से। मैं ऐसी पथ-भ्रष्टा से बात भी नहीं करना चाहती।"—उसकी तड़पन कक्ष में प्रतिध्वनित हो ऐसी लगी जैसे कई बिजलियाँ एक साथ कड़की हों।

"मैं सीधे उल्टे पाँव प्रासाद के मुख्यद्वार की ओर चल पड़ी। मुड़कर देखना तो दूर रहा, मैंने अपने दाहिने-बाँयें भी नहीं देखा। ग्लानि, पश्चात्ताप एवं हताशा से विधा मेरा मन सिसकता रहा। मुझे ऐसा याद आता है कि महल की कई महिला कर्मचारियों ने मुझे पुकारा भी, रोकने की चेष्टा भी की, पर मैं नहीं रुकी। मैं चोट खायी सिंहनी थी जो शिकारी से पराजित होकर अपने माँद की ओर भागती है।"—कहते-कहते पुलोमा मौन हो गयी। स्पष्ट लगा कि पश्चात्ताप की स्याही उसकी आँखों की नीली झील में घुलने लगी।

"थोड़ी देर बाद वह स्वयं बोली,—"महाराज, मुझसे बड़ी गलती हो गयी जो इन्द्रप्रस्थ गयी।"

"ऐसी बात तो नहीं है। आखिर जाने से कुछ लाभ ही हुआ।"—मैंने कहा।

"लाभ ? कैसा ? किसका ?"—वह चकरायी।

"अरे तू न जाती, तो परिचारिका के धर्म की व्याख्या तुझे कहाँ सुनने को मिलती।" इतना कहकर मैं जोर से हँसा। मैंने मनःस्थिति बदलने के लिए यह व्यंग्य किया था, पर यह उसके जले पर नमक छिड़क गया। वह बड़ी वेदना से बोली,—"महाराज, बचपन से मैं अनाथ रही। माता-पिता कब सिधार गये, इसका मुझे पता नहीं। आप ही लोगों की छत्रच्छाया में पली और आप ही लोगों को माता-पिता समझा···यदि आप लोग भी मेरी हँसी उड़ाना चाहते हों तो उड़ा लीजिए।···मैंने तो सोचा था कि कौरव बेईमानी पर उतारू हैं।

पाण्डव धर्म के अनुसार आचरण करनेवाले हैं। बेचारों को सचेत कर दूँ, पर जब हवन करते ही हाथ जल गया, तब मैं अपने भाग्य को ही कोसूँ और क्या कहूँ ?"

मैंने देखा पुलोमा की आँखें छलछला आयीं। नारी मन की सहज भावुकता नयनों में द्रवित हो गयी। मैं चुप ही था। कृपी, पुलोमा को समझाते हुए बोली—"इसमें दुःखी होने की क्या आवश्यकता है। तुमने तो भरसक प्रयत्न किया। यदि इन्द्रप्रस्थ के ग्रह ही खराब हैं तब तेरा क्या ? तेरा प्रयत्न भवितव्यता को तो बदल नहीं देगा। जैसा होनहार होता है वैसी ही बुद्धि हो जाती है। यदि ऐसा न होता तो पांचाली जैसी डाकनी तेरा अपमान करती।"

पांचाली का नाम सुनते ही मैं भी आवेश में आया,—"घबराओ मत पुलोमा, जिसने तुम्हारा अपमान किया है, उसका अहं चूर होकर रहेगा।"

फिर भी पुलोमा सिसकती रही।

पाण्डवों के प्रति मेरे स्नेह को द्रौपदी के व्यक्तित्व ने धीरे-धीरे धो डाला। यद्यपि उस अग्नि-शिखा से मेरा कभी खुलकर साक्षात्कार नहीं हुआ था। दूर-दूर से जो सुन रखा था उसी पर मेरी धारणा बनती गयी। उनके प्रति घृणा की एक-एक ईंट से जो प्रौढ़ दीवार निर्मित हो गयी, उसमें मैं स्वयं ही बन्दी हुआ या पाण्डव ? यह तो मैं नहीं कह सकता, पर इतना निश्चित था कि इस दीवार ने मेरे शिष्यों को मुझसे दूर कर दिया। इसका मुझे पहले तो दुःख था, किन्तु मैं जब व्यास की भविष्यवाणी याद करता था और यह सोचता था कि मेरे ही विनाश के निमित्त किये गये यज्ञ से मेरी कालरूपिणी पैदा हुई द्रौपदी ही अब पाण्डवों की कुलांगना है, तब मेरा दुःख धुलता चला गया।

एक दिन सन्ध्या के समय हम लोग उद्यान में बैठे थे। धूप धरती छोड़ने लगी थी। लता-द्रुम पल्लवों से उलझता फूलों, को चूमता पवन जब हमारा संस्पर्श करता था तो एक विचित्र-सी मादकता नसों में तैर जाती थी।

मैं था, कृपी थी, अश्वत्थ था और थीं पुलोमा। पुलोमा से मेरा लगाव बड़ा आत्मीय हो गया था। वह एक तरीके से मेरे परिवार की सदस्या ही हो गयी थी। मेरे प्रासाद के सभी कर्मचारी उसके साथ वैसा ही व्यवहार भी करते थे।

आप ही समझिए जब हम चार व्यक्ति एक स्थान पर बैठे हों तब भला हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ की राजनीति के अतिरिक्त और कौन सी बात हो सकती है?

बातों का सिलसिला किसने आरम्भ किया यह तो नहीं मालूम, पर अश्वत्थ ने बड़े विश्वास के साथ कहा— ....."बहुत-सी बातें आप लोगों को नहीं मालूम हैं और मैं आप लोगों से इसलिए नहीं कहता कि पिताजी को मेरी बातों का विश्वास ही नहीं है।"

मेरे जीवन में ऐसे बहुत ही कम अवसर आये हैं जब मेरे पुत्र ने अपना हृदय मेरे समक्ष खोला है। बचपन से ही उसके प्रति मैंने कुछ ऐसा व्यवहार बनाये रखा है कि वह मेरे सामने बहुत कम बोलता रहा है जो कुछ कहना होता था अपनी मां से कह लेता था, लड़ता-झगड़ता भी उसी से था। मुझ तक उसकी बातें भी बहुत छनकर आती थीं, किन्तु इस समय वह इतना स्पष्ट और निस्संकोच बोला कि मैं सहज ही अनुभव कर बैठा कि इसका मेरे प्रति असंतोष है।

अतएव मैंने बड़ी शान्ति से पूछा,—"अच्छा अश्वत्थ, तुम्हीं ऐसी कोई बात बताओ जिसे तुमने कहा हो और मैंने विश्वास न किया हो?"

अश्वत्थ चुप रह गया। किन्तु थोड़ी ही देर बाद वह उतने ही विश्वास से बोला—"यदि मैं यह कहूँ कि द्रुपद का छोकड़ा धृष्टद्युम्न बराबर इन्द्रप्रस्थ आता रहता है या अधिकांश वहीं रहता है तो क्या आप विश्वास करेंगे?"

"अवश्य विश्वास करूँगा।"

"वह और उसकी बहन द्रौपदी दोनों, कौरवों के साथ हम लोगों के विरुद्ध भी उल्टा-सीधा बकते रहते हैं, हमारा मजाक उड़ाते हैं।...तो क्या आप इसका भी विश्वास करेंगे?"

"अवश्य विश्वास करूँगा बेटे, अवश्य विश्वास करूँगा।"—मैंने हँसते हुए कहा। मेरे साथ ही औरों की भी हँसी शामिल हो गयी। मैंने पुनः कहा,—"यह सब विश्वास करूँगा बेटे, किन्तु यदि एक बात कहोगे तो मैं नहीं विश्वास करूँगा कि अर्जुन या युधिष्ठिर हमारा मजाक उड़ाते हैं।"

यही तो ऐसी बात है जहाँ आकर हमारी हर बात रुक जाती है। अर्जुन या युधिष्ठिर के प्रति आपका मोह जो आदि से बना रहा है, वह आज तक शिथिल नहीं हुआ, जब कि .उन लोगों के मन में आपके प्रति बनी श्रद्धा की मूर्ति धीरे-धीरे चूर हो चुकी है।

"यह तुम कैसे कह सकते हो ?"

"इसलिए कह सकता हूँ कि मुझे मालूम हुआ है कि इन्द्रप्रस्थ में किसी वार्तालाप के क्रम में आपका नाम आया था तब धृष्टद्युम्न के साथ ही द्रौपदी ने आपके प्रति बड़ी अश्रद्धा व्यक्त की थी और कहा था—"उस आचार्य की बात करते हो जिसने अपनी विद्या स्वर्ण-खण्डों पर बेच दी।...जैसे कौरव कभी हमारे नहीं हो सकते वैसे ही वह आचार्य भी कभी हमारा नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी नस-नस में कौरवों का नमक भिना हुआ है और आश्चर्य यह कि उसकी इस बात का न तो युधिष्ठिर ने विरोध किया और न अर्जुन ने।"—अश्वत्थ उसी आवेश में बोलता रहा—"ऐसा लगता है उस कलूटी ने सबको अपनी मुट्ठी में कर रखा है।"

"हाँ, यह बात तो है ?" पुलोमा ने अश्वत्थ के समर्थन में अपना सिर हिलाया।

मैं कुछ न बोल सका। पुलोमा के समर्थन के बाद यह भी पूछने की स्थिति में नहीं रह गया कि तुम्हें यह सूचना किस सूत्र से मिली है। कृपी भी मुझे देखती हुई चुप थी।

मैंने बात बदलने की इच्छा से कहा,—"...अरे भाई, मैं बिका हूँ, बिका ही सही। अब मुझको किसी से क्या लेना-देना है ? लोग अपने-अपने स्थान पर प्रसन्न रहें, मैं अपने स्थान पर प्रसन्न हूँ।"

"पर अब न इन्द्रप्रस्थ अपने स्थान पर प्रसन्न रहनेवाला है और न हस्तिनापुर। देखिए, इनकी अप्रसन्नता किस सीमा तक जाती है।"—इतना कहकर अश्वत्थ स्वभावतः मेरी प्रतिक्रिया जानने के लिए कुछ क्षणों तक रुका। मुझे चुप देखकर वह पुनः बोला,—"रह गयी आपकी प्रसन्नता या अप्रसन्नता की बात ! आप अपने स्थान पर प्रसन्न रहिए या अप्रसन्न, कोई आप की परवाह करनेवाला नहीं है।

"हाँ, बात तो कुछ ऐसी ही है।"—इस बार भी पुलोमा ने अश्वत्थ का ही समर्थन किया।

कभी-कभी बातों का सिलसिला ऐसे मोड़ पर आकर रुक जाता है कि अप्रत्याशित चुप्पी हो जाती है। ऐसी ही चुप्पी इस समय छा गयी थी। तब तक एक पक्षी कहीं से आया और पुलोमा के सिर पर ठोर मारकर उड़ता चला गया।

"देख पुलोमा, अब तुझे नये वस्त्र मिलेंगे।"—कृपी बोली।

"पक्षी नर होता तब तो ?···वह तो मादा है।"—पुलोमा ने कहा।

"···तुमने उड़ते-उड़ते ही पहचान लिया कि नर है या मादा ?"—मैंने मुस्कराते हुए कहा।

"अरे आपने पुलोमा को क्या समझा है। यह उड़ते पक्षियों के पंख में भी हल्दी लगा देती है—सभी हँस पड़े।"

"हाँ, तो मादा ने चोंच मारी होगी तो क्या होगा पुलोमा ?"—मैंने फिर से बात चलायी।

"झगड़ा होगा।"

"वह तो रोज ही हो रहा है।—"कृपी बोली।

"इसीलिए अब उससे घबराहट भी कम मालूम होती होगी।"—मैंने कहा।

"नहीं, ऐसी बात तो नहीं हैं। आज सबसे अधिक घबराहट तो उसी की है।"—अचानक पुलोमा की आकृति का भाव बदला।

"क्यों तुम्हें क्या घबराहट है ?"—कृपी ने पूछा।

"है माताजी, बहुत है। इतना कहते हुए पुलोमा ने एक दृष्टि अश्वत्थ की ओर डाली और फिर सहसा जैसे बोलना चाहकर भी रुक गयी।

अश्वत्थ समझ गया कि कुछ ऐसी बात है जिसे पुलोमा मेरे सामने कहना नहीं चाहती अतएव वह अपने स्वभाव के अनुसार बीच में उठते हुए बोला—"अच्छा तो मैं चल रहा हूँ"—और वह चला गया।

मैंने पुलोमा की ओर जिज्ञासा-दृष्टि से देखा, मानो मेरी आँखें कह रही हों,—अच्छा अब बताओ। अश्वत्थ तो चला गया।

पुलोमा ने बोलना शुरू किया, "घबराहट मुझे इसलिए है कि अब मैं हस्तिनापुर कैसे जाऊँ ?...आदित्य के लुप्त होते ही मैं भी वहाँ से बिना किसी से कुछ कहे भागी क्योंकि मेरे प्रति भी उन्हें सन्देह हो सकता था कि मैं पाण्डवों से मिली हूँ।"

"और बात भी ठीक ही है, क्योंकि यदि मिली न होती तो पाण्डवों को सचेत करने इन्द्रप्रस्थ कैसे पहुँच जाती।"—मैं मुस्कराते हुए बोला।

"जैसा सचेत करने गयी, वैसा मुँह-भर का पाया भी तो।"—कृपी ने कहा।

"यही तो बात है माताजी, "....अब क्या कहूँगी कि कहाँ गयी थी और क्यों गयी थी।....लगता है, वे लोग भी अब मुझे जीवित नहीं छोड़ेंगे।"—इतना कहते-कहते उसकी आँखें भर आयीं। वह सिसकती हुई बोलती गयी—"यदि उन लोगों को पता चले कि मैं आपके यहाँ हूँ तब भी वे मुझे नहीं छोड़ेंगे, भले ही वे आपका कुछ न कर सकें।....मेरे लिए तो इस धरती पर शायद अब कहीं भी स्थान नहीं है।"—उसकी लाचारी पिघलकर आँखों से चूने लगी।

हम लोग चुपचाप उसकी समस्या पर विचार करने लगे। धीरे-धीरे संध्या भी स्याह पड़ती गयी। अन्त में मुझे एक उपाय सूझा। मैंने कहा—"तुम एक काम कर सकती हो ?"

"क्या ?"

"तुम हस्तिनापुर जाओ और रोती हुई धृतराष्ट्र से कहो कि मुझे इन्द्रप्रस्थ के गुप्तचर बलात् उठा ले गये थे।...द्रौपदी ने ही यहाँ की विशेष जानकारी के लिए मुझे पकड़वाया था।...और फिर उसके अहं का जितना भी चित्र खींच सकना खींचना।...एक बात याद रखना, द्रौपदी की जितनी बुराई करोगी दुर्योधन उतना ही प्रसन्न होगा।"

"इसका तात्पर्य है कि मैं सुलगती हुई अग्नि में तेल बनूँ।"—पुलोमा बोली।

"अरे मूर्ख तेल मत बन, घी बन।...इतना अपमानित करके तुझे अपने प्रासाद से निकाला है उस चुड़ैल ने, फिर भी तेरे मन में उसके प्रति मोह बना हुआ है।" द्रौपदी के प्रति मेरी आन्तरिक घृणा फिर एक बार उभड़ी।

पुलोमा पता नहीं क्या सोचकर मुस्करायी, बोली—"आचार्यजी, द्रौपदी से तो सब इतने नाराज हैं कि यदि जरा-सा भी उभाड़ दिया जाये तो वे उसे कच्चा चबा जायेंगे।"

"नागिन-सी फुफकारती अहंमन्यता को कच्चा चबा जाना ही योग्यता है पुलोमा।"—मेरी आँखों के सामने द्रुपद के पुत्रेष्टि यज्ञ का धुआँ धीरे-धीरे उठने लगा। मेरी आवाज और गम्भीर हुई—"...वह नारी एक ऐसी आग है जो हमको-तुमको—हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ—सबको भस्म कर देगी और अन्त में स्वयं राख हो जायेगी। इसके पहले कि वह अधिक भभके, हमें उसे बुझा देना ही श्रेयस्कर होगा।"

मैंने अनुभव किया कि मेरे जीवन का यह पहला निर्णय था जिसे मैंने स्पष्ट रूप से ले लिया था, नहीं तो हर बात में मीन-मेष करने की मेरी प्रकृति थी। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर दूँ कि इस निर्णय के मूल में उस नागिन का अहम् उतना नहीं था जितनी उसके पिता के निमित्त प्रतिहिंसा की भावना थी। मेरे इस निर्णय पर कृपी भी अवाक् रह गयी। पुलोमा मेरा मुँह देखती रही। अन्त में कुछ दबी-दबी-सी बोली—"मैं कह तो दूँगी कि मुझे द्रौपदी ने पकड़कर मंगवाया था, पर मेरी परीक्षा लेने की नीयत से लोग यदि तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगें, बाल की खाल खींचने लगें, तब मैं क्या करूँगी?"

"……तब तेरी ही खाल खिंच जायेगी।"—मैं बीच में ही बोला और जोर से हँसा। सन्ध्या का धूमिल पड़ता चेहरा मेरी हँसी से एक बार काँप उठा। मैंने पुनः पुलोमा को सम्बोधित करते हुए कहा—"देख, उपाय बताना मेरा काम है और उसका निर्वाह करना तेरी बुद्धि का।"

वह चुप थी, सोचती रही और अन्धेरा बढ़ता गया। सहसा उसके मस्तिष्क में एक नयी समस्या ने जन्म लिया—"अश्वत्थ को तो मेरी असलियत मालूम हो गयी है। कहीं उससे बात खुल गयी तो?"

"तू इसकी चिन्ता मत कर, मैं उसे समझा दूँगा।"

इसके बाद हम लोग उद्यान से उठकर कक्ष की ओर बढ़े। कृपी बहुत देर से चुप थी। उसने पुलोमा को देखा, वह उसे पहले की अपेक्षा प्रसन्न दिखायी पड़ी। कृपी मुस्कराते हुए बोली—"अब पुलोमा कुछ हल्की अनुभव कर रही है।"

"हाँ, इस समय तो अवश्य ही हल्की है, पर यदि अब वह यहाँ और रुकेगी तो हम लोगों को भारी पड़ जायेगी। इसे रातोंरात हस्तिनापुर पहुँचकर अपना नाटक शुरू कर देना चाहिए।"—मैंने कहा।

पुलोमा भी चलने को तैयार हो गयी, पर मैंने उससे रात का भोजन करके ही जाने के लिए कहा। वह सहर्ष रुक गयी।

भोजन के बाद जब जाने लगी तब मेरा चरण-स्पर्श करने आयी, मैंने आशीर्वाद देते हुए कहा—"मेरा एक अत्यन्त गोपनीय कार्य भी तुम्हें करना पड़ेगा।"

"क्या?"

"कल किसी समय, अच्छा हो रात्रि में ही, जब तुम्हें कोई न देखता रहे।"

"कोई न देखता रहे?"—वह मुस्करायी—"वही कपोतवाली कहानी" इतना कहते ही वह हँस पड़ी, मुझे भी हँसी आ गयी—"तू बड़ी दुष्टा है, बात पकड़ना खूब जानती है।……मेरा मतलब था, सबकी आँखें बचाकर तू किसी तरह आदित्य के परिवार में चली जाना और उसकी स्त्री से कहना कि वह घबराये नहीं, उसका पति जीवित है।"

पुलोमा अवाक् रह गयी—"मैं यह क्या सुन रही हूँ आचार्यजी।"

"तुम ठीक सुन रही हो पुलोमा।······किन्तु तुम्हारी योग्यता इसी में है कि उसकी स्त्री के अतिरिक्त यह बात कोई और न जाने। उसकी स्त्री को भी अच्छी तरह सावधान कर देना कि जहाँ जरा भी यह बात फूटी कि उसके पति के जीवन के लिए खतरा उत्पन्न हो जायेगा।"

"किन्तु यदि वह पूछ ही बैठे कि तुम्हें कैसे मालूम हुआ तो मैं क्या उत्तर दूँगी ?"

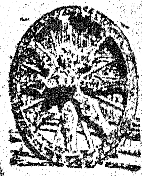
"कह देना कि एक अत्यन्त विश्वस्त व्यक्ति ने मुझसे कहा है······किन्तु किसी स्थिति में भी मेरा नाम मत बताना।"

"इतने पर यदि वह मेरा विश्वास न करे तो ?"

"न करे, न करे, भाड़ में जाये। मैं तो उसकी शान्ति के लिए सूचना भेजवाना चाहता हूँ। यदि वह अशान्त ही रहना चाहती है तो रहे।"

पुलोमा चली गयी। उसकी आकृति पर प्रसन्नता और आश्चर्य का ऐसा मिश्रित भाव था जिसे शुक्ल पक्ष के द्वादशी का चन्द्र भी अपनी ज्योत्स्ना में छिपा न सका।

● ● ●



ऐसा लगता है कि नियति की डोर से बंधे हम सब एक अनजाने, अनचीन्हे और अनबूझे भविष्य की ओर खिंचते चले जा रहे हैं। व्यवस्थाएँ एवं मान्यताएँ स्वयं हमें छोड़कर भागती चली जा रही हैं। जीवन के शाश्वत मूल्य पथ के किनारे दूरी-मापक पाषाण की तरह गड़े-के-गड़े रह जा रहे हैं, पर हम हैं जो सब कुछ छोड़कर किधर बढ़े चले जा रहे हैं, इसका पता नहीं।

नियति के इस स्वाभाविक कर्षण ने हमें एक ऐसी स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया कि क्या कहूँ। यदि कुछ न कहूँ तो अपने प्रति इस आत्मकथा में न्याय नहीं करूँगा। यदि कहूँ तो आप कहेंगे कि द्रोण ऐसा आचार्य भी इतना गिर सकता है। एक ओर आपके घृणा का पात्र होने का भय है और दूसरी ओर अपने ही प्रति अन्याय कर बैठने की दुश्चिन्ता।

मैं सच कहता हूँ, ऐसी ही परिस्थिति में मैंने निश्चय किया था कि मैं हस्तिनापुर नहीं जाऊँगा, पर अश्वत्थ ने कहा कि आपको जाना चाहिए। उसके कहने का ढंग ऐसा टेढ़ा था, जैसे वह मुझसे कह रहा हो कि आपको जाना ही पड़ेगा।

एक घड़ी दिन चढ़ आया। अब भी मेरा मन द्विविधा में था, जाऊँ कि न जाऊँ। तब तक प्रातःकालीन जलपान आया। नियमतः जलपान के समय कृपी भी रहती थी, अतएव वह भी जलपान के साथ ही कक्ष में आ गयी। मैंने उससे कहा,—"मेरी हस्तिनापुर जाने की बिलकुल इच्छा नहीं है, पर अश्वत्थ दबाव डाल रहा है।

"तब आप चले जाइए। बहुत से लोग वहाँ रहेंगे, उनमें से एक आप भी रहिएगा। आखिर आप को किसी से क्या लेना-देना है। चुपचाप बैठे रहिएगा।"

"चुपचाप बैठे रहना! यही तो मुझसे नहीं होगा। कुछ स्वभाव ही ऐसा है कृपी कि दर्शक के होते हुए भी मैं हर नाटक का पात्र हो जाता हूँ।...अब

तुम्हीं समझो जब छल से शकुनि युधिष्ठिर को जीतता चला जायगा तो मैं चुप रह सकूँगा ?"

"पर तुम्हें रहना ही पड़ेगा। अब हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ की राजनीति में हमें गूँगे और बहरों की भूमिका निभानी पड़ेगी।"

मुझे हँसी आ गयी। "कोई अन्धा रहे और कोई गूँगा और बहरा।"

इसी बीच अश्वत्थ भी कक्ष में आ गया और छूटते ही बोला,—"जिसे आप अन्धा समझते हैं, वह वस्तुतः अन्धा नहीं है। उसकी आँखें अवश्य फूटी हैं। पर वह सब कुछ देखता है।

"अपनी आँखों से नहीं, दुर्योधन की आँखों से देखता है।"—मैंने कहा।

"किसी की भी आँखों से देखता हो पर देखता तो है। अपने बच्चों का हित देखता है। ऐसी आँखोंवाले हजारों पिताओं से अच्छा है जो अपने बच्चे का हित न देखकर दूसरे के बच्चों का हित देखते हैं।"—मैंने अनुभव किया कि अश्वत्थ पहले से अधिक प्रगल्भ हो गया है। उसका सारा आक्रोश मुझ पर है, पर मैं यह नहीं समझ पाया कि मैंने उसका हित कब नहीं देखा है। यह जानते हुए भी कि परिस्थितियाँ अब बिल्कुल बदल चुकी हैं, अर्जुन के प्रति उसका पुराना द्वेष रह-रहकर भभक उठता था। इस सन्दर्भ में मैं उसे अब कैसे समझाऊँ? मैं यह सोच ही रहा था कि कृपी ने मेरी ओर दूध का उष्ण चषक आगे बढ़ाया। मेरी मनःस्थिति उसकी गर्म चुस्कियों में खोने लगी।

"क्यों रे, जुआ खेलने का निमंत्रण युधिष्ठिर ने स्वीकार कैसे कर लिया ?" —कृपी ने अश्वत्थ से पूछा।

"इसलिए स्वीकार कर लिया कि निमंत्रण लेकर विदुरजी गये थे। विदुरजी कभी उनका अहित सोच नहीं सकते, ऐसा पाण्डवों को विश्वास है।"—अश्वत्थ ने कहा।

"क्या विदुरजी को यह ज्ञात है कि शकुनि के पाँसे छल के हैं ?"— मैंने पूछा।

"यह तो मुझे नहीं मालूम।"—अश्वत्थ सिर नीचा किये, दूध पीते हुए बोलता रहा। पर जो भी हो, अब तो खेल होगा ही···और कहीं शकुनि की

चाल चल गयी तो इन्द्रप्रस्थ का सम्पूर्ण वैभव चौसर के पाँसे पर चित्त हो जायेगा।"—ऐसा लगा, युगों से दमित आकांक्षा उसकी वाणी से बरस पड़ी।

"पर क्या यह ठीक होगा ?"—दूध का घूँट कण्ठ से नीचे उतारते समय मेरे मुख से निकल पड़ा।

"ठीक होगा या अठीक ? यह तो परिणाम बतायेगा।"—अश्वत्थ दबी जबान इतना बोला, फिर एकदम चुप हो गया और शीघ्र ही जलपान समाप्त कर, किसी से बिना कुछ कहे-सुने वह कक्ष से बाहर जाने लगा।

मैंने उसे रोकते हुए पूछा,—"क्या तुम भी हस्तिनापुर चलोगे ?"

जी हाँ, मैं तो अभी ही जा रहा हूँ।"—उसके कथन में इतनी रूक्षता थी कि मैं उससे यह भी नहीं कह पाया कि तुम मेरे ही साथ चलना, अभी जाकर क्या करोगे ?

पर वह चला गया और हम पति-पत्नी बैठे-बैठे उसकी मनःस्थिति पर विचार करते रह गये।

थोड़ी देर बाद मैंने प्रतिहारी को बुलाया और कहा,—"मैं कारागार की ओर चलना चाहता हूँ।"

यद्यपि कारागार-निरीक्षण का यह सामान्य समय नहीं था, क्योंकि प्रातः काल अधिकांश बन्दी अपने नित्य-कर्म एवं सन्ध्या-पूजन में ही व्यस्त रहते हैं। बहुधा अपराह्न में ही मैं कारागार का निरीक्षण करता था। अचानक कारागार-निरीक्षण की मेरी इच्छा से अवगत होते ही प्रधान दण्डाधिकारी समझ गया कि कोई विशेष बात अवश्य है। या तो किसी कैदी का जीवन-दीप बुझनेवाला है, उसे मृत्यु-दण्ड मिलेगा या किसी की मुक्ति होनेवाली है।

कारागार में पहुँचते ही मैंने प्रधान दण्डाधिकारी के कक्ष में आदित्य को बुलवाया। जैसा आप जानते हैं, वह कारागार में रहता था, पर उसे सारी सुख-सुविधा थी।

उसके आते ही मैंने प्रधान दण्डाधिकारी तथा अन्य कर्मचारियों को वहाँ से हटा दिया तथा आदित्य को हस्तिनापुर की ताजी स्थिति से अवगत कराया

और कहा—"……तुम्हारे जीवित रहने की सूचना तुम्हारे घरवालों को मिल चुकी है। उनकी घबराहट कुछ कम हो गयी होगी। आज मैं पुनः हस्तिनापुर जा रहा हूँ। यदि हो सका तो कुछ निष्क जीवन-निर्वाह के लिए तुम्हारे परिवार में भेज दूँगा।……साथ ही, तुम्हें भी मैं यहाँ से मुक्त करना चाहता हूँ।"

इतना सुनना था कि आदित्य एकदम घबरा गया—"……किन्तु अब मैं कहाँ जाऊँ? आपकी चरण में सुरक्षित था। अब इस अरक्षित धरती पर कहाँ भटकता फिरूँगा?"

मैंने उसे समझाया—घबराने की कोई बात नहीं है। तुम इस वेष में हस्तिनापुर को छोड़कर जहाँ भी रहोगे सुरक्षित रहोगे।…… साधारणतया दो स्थान तुम्हारे लिए सब से अधिक सुरक्षित हैं। या तो पांचाल चले जाओ या इन्द्रप्रस्थ। यदि इन स्थानों में तुम्हें किसी ने पहचान भी लिया तो कोई बात नहीं। इन दोनों स्थानों में हस्तिनापुर के विरोध की अग्नि धधक रही है। उनकी लपटों की छाया में तुम शान्ति से दिन गुजार सकते हो।"

मेरी बातें सुनकर वह चिन्तित हो गया। ऐसा लगा, मानो सुवर्ण के पिंजरे में पूरी सुविधा के साथ पल रहे किसी पक्षी को मैं मुक्त आकाश में विचरण के निमित्त छोड़ना चाहता हूँ और वह बाज के भय से चिंतित हो जाये।

मैंने उसे ढाढ़स बँधाया और कहा कि मैं आज ही हस्तिनापुर चला जाने-वाला हूँ। जब उसने सुना कि आज अपराह्न में या कल कौरव तथा पाण्डवों में द्यूत-क्रीड़ा होगी और शकुनि ने ऐसे पांसे बनाये हैं जो कभी उसकी इच्छा के विरुद्ध गिरेंगे ही नहीं तब उसके मुख से स्वतः निकल पड़ा—"हे भगवान, तब तो अनर्थ हो जायेगा।"

इसके बाद ही मैंने उसे वहाँ से हटाया, क्योंकि मैं उसे बोलने का अधिक अवसर देना नहीं चाहता था। यदि वह मुझसे पूछ बैठता कि आप मुझे यहाँ से क्यों हटाना चाहते हैं तो मैं क्या उत्तर देता?

प्रधान दण्डाधिकारी को मैंने पुनः बुलवाया और उससे उसके मुक्ति का आदेश-पत्र बनवाया। उस पर हस्ताक्षर कर मैं सीधे महल में चला आया।

जब मैं हस्तिनापुर पहुँचा मध्याह्न का सूरज पश्चिम की ओर झुक चुका था। नगर के बाहरी मुख्यद्वार पर ही महापौर ने अपने सहयोगी कर्मचारियों के साथ मेरा स्वागत किया जैसे मैं कोई पराया होऊँ। रोज ही आने-जानेवाले व्यक्ति के लिए यह स्वागत इतना कृत्रिम और दिखावटी था कि मुझे हँसी आ गयी, पर बाद में पता चला कि आज कुछ ऐसी ही व्यवस्था की गयी थी। राज-पथ के दोनों ओर सैनिक टुकड़ियाँ सन्नद्ध थीं। सारे कर्मचारी अद्भुत ढंग से सचेत और सावधान लग रहे थे।

सभी चुप थे। केवल आपस में फुसफुसाहट हो रही थी। भय और कठोर अनुशासन से आतंकित नगर बीमार वृद्ध की भाँति अपने जीवन की गाड़ी खरखराती साँसों के सहारे खींचता हुआ चुपचाप पड़ा था। मैंने समझा कि जुए का खेल चल रहा है। कहीं कोई हुल्लड़बाजी न हो जाये इसीलिए इतनी सावधानी बरती गयी है।

मैं सीधे महल में पहुँचा। प्रासाद के द्वार पर ही मेरे रथ को अतिथि-भवन कक्ष ४ की ओर मोड़ दिया गया। मैंने प्रहरी से इसका कारण पूछा। वह मुस्कराया, कुछ बोला नहीं।

तब मैंने पुनः कहा—"मैं द्यूत-क्रीड़ा देखने के लिए आमंत्रित हूँ।"

"यह हमें मालूम है।"—उसने मुस्कराते हुए ही उत्तर दिया।

"तो क्या इस समय द्यूत-क्रीड़ा नहीं हो रही है?"

"जी नहीं, पहले इसी समय होनेवाली थी, पर अब कल के लिए टाल दी गयी है।"

मैं कुछ सोचने लगा। प्रहरी अपने सहयोगियों के साथ नत-मस्तक खड़ा रहा। मेरे रथ के अश्व आगे बढ़ने के लिए उन्नत-ग्रीव होते रहे।

द्रो०—१४

मैंने प्रहरी से पुनः कहा,—"मेरी इच्छा थी कि मैं धृतराष्ट्र से मिलकर उन्हें प्रणाम करता।"

"इसकी व्यवस्था बाद में हो जायेगी आचार्य ?"

"तो तुम मुझे इस समय प्रासाद में जाने नहीं दोगे ?"

वह मुस्कराया और बड़ी शिष्टता से बोला,—"मुझे तो आदेश हुआ है आचार्य कि मैं आपको अतिथि-भवन कक्ष ४ में ले चलूँ।"

विवश हो मेरा रथ उसी ओर मुड़ चला।

अन्य अतिथि-भवनों की अपेक्षा कक्ष ४ का अतिथि-भवन छोटा था। वहाँ पहुँचते ही मेरा उचित अभिवादन किया गया और मुझे अतिथि-भवन के दक्षिणी कक्ष में टिका दिया गया। कई परिचारक एवं परिचारिकाएँ हमारी शुश्रूषा में थीं। उसी भवन में कृपा को भी ठहराया गया था तथा पश्चिम के मात्र एक कक्ष में वृद्ध ज्योतिषी सुवर्चा भी थे।

सुवर्चा को लेकर एक विचित्र-सा भ्रम व्याप्त हो गया। मैंने ज्योंही अतिथि-भवन के पट्ट पर सुवर्चा का नाम देखा तभी मैं समझ गया कि हम लोगों पर दृष्टि रखने के लिए कौरवों ने सुवर्चा को यहाँ रख छोड़ा है, क्योंकि धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम भी सुवर्चा था। इच्छा हुई कि मैं उसे अपने कमरे में बुलाऊँ, पर मैं कुछ और सोचकर शान्त रह गया। सोचने लगा कि इतनी सतर्कता एवं सावधानी तो कभी हस्तिनापुर में बरती नहीं गयी। राजसूय यज्ञ के समय सचेत रहने की ऐसी व्यवस्था इन्द्रप्रस्थ में भी नहीं थी।

मेरा रथ, सारथी और अश्वपाल—सभी राजकीय अश्वशाला की ओर भेज दिये गये थे।

कुछ ही क्षणों के बाद जलपान आया,…और जलपान के साथ ही सुरेखा। सुरेखा के साथ भी कुछ परिचारक थे। इस बदली हुई स्थिति के सम्बन्ध में मैं सुरेखा से विस्तार से पूछ तो नहीं सका, केवल इतना ही बोला,—"आज बड़ी सावधानी बरती जा रही है।"

वह केवल मुस्करायी और रहस्यमय दृष्टि से अपने साथियों की ओर देखा। जब वे दूसरे कमरे की ओर बढ़े, तब वह रुककर बोली,—"महाराज की आज्ञा

है कि अहर्निश सब पर कड़ी नजर रखी जाये, कोई किसी से किसी प्रकार की भी मंत्रणा न करने पाये।"

"जल्दी में मैंने यह तो नहीं पूछा कि ऐसा क्यों है ?···किन्तु मैंने पुलोमा के बारे में जिज्ञासा अवश्य की।"

"महाराज, अब तो वह अच्छी तरह है। बेचारी मौत के मुँह से निकलकर आयी है।"—सुरेखा आतंक-भरी आवाज में बोलती रही, "कदाचित् आपको नहीं मालूम, इन्द्रप्रस्थ की पिशाचिनी ने उसे बलात् पकड़कर मंगवा लिया था। यह तो कहिए वह किसी तरह से निकल भागी।"

"आखिर उसे किस लिए पकड़वाया था ?"

"हस्तिनापुर का विशेष समाचार जानने के लिए।"—इतना सुनते ही मैंने पाण्डवों के प्रति घृणा प्रदर्शित करने के लिए नाटकीय ढंग से मुँह बिचकाया।

सुरेखा पुनः बोली,—"घबराइए मत आचार्यजी, कल ही उस पिशाचिनी का अहं हस्तिनापुर की मिट्टी में लोटने लगेगा।"

वह इतना ही कह पायी थी कि उसके साथियों ने उसे बाहर से बुलाया। वह कक्ष से फुदकती हुई निकल गयी।

विचित्र स्थिति थी, मैं अकेले वहाँ क्या करता। कुछ देर तक तो सन्ध्या के पूजन में समय कट गया। फिर कुछ समय तक अस्त होते सूर्य की उदास लाली देखता रहा। अद्भुत विचार मन में उठते रहे। सोचता रहा, सुरेखा भी जुए के खेल में कौरवों के विजय के प्रति आश्वस्त है। लगता है, बात धीरे-धीरे फैल गयी है कि शकुनि के पाँसे छल के हैं, पर यही बात पाण्डवों को मालूम हो जाये तो कौरवों का सारा सपना चूर हो जायेगा। शायद इसीलिए इतनी सतर्कता बरती जा रही है।

मन में आया, चलकर जरा कृपा से बातें करूँ। मैं कक्ष के बाहर प्रशस्त प्रांगण में भी आया, पर यह सोचकर रुक गया कि जब कृपा स्वयं मेरे पास नहीं आया तो मैं क्यों उसके पास जाऊँ। मेरी स्थिति उससे किसी प्रकार कम तो है नहीं। उसका अहंकार सामान्य व्यवहार को भी तिलांजलि दे बैठा। मुझे

आश्चर्य था; पर मेरा भी अहं किसी से कम थोड़े ही था जो मैं दौड़ा कृपा के पास चला जाता। ऐसा ही कुछ सोचता, चुपचाप प्रांगण में टहलता रहा।

मुझे यह स्पष्ट आहट लग रही थी कि कृपा अपने कक्ष में अकेला नहीं है, क्योंकि बातचीत की और बीच-बीच में जोर से ठहाके की आवाजें लगातार सुनायी पड़ रही थीं। मैं टहलते-टहलते कभी रुककर कुछ और आहट लेने की कोशिश करता तथा फिर टहलने लगता। मेरी ऐसी असमंजस से भरी मुद्रा देखकर एक परिचारक मेरे पास आया और मृदु स्वर में बोला,—"मैं आपकी कोई सेवा कर सकता हूँ?"

"उस कक्ष में कौन है?"

"कृपाचार्यजी।"

"और?"

"और भी कई लोग हैं जिन्हें मैं नहीं जानता।"

"क्या कृपा को मालूम है कि इस कक्ष में मैं ठहराया गया हूँ?"

"यह तो मैं नहीं बता सकता।"

"क्या तुम कृपा को किसी तरह अवगत करा सकते हो कि द्रोणाचार्य इस कक्ष में ठहराये गये हैं?"

"इसकी अनुमति तो मुझे नहीं है।"

"क्या मतलब?...तुम्हें इतनी भी अनुमति नहीं है, कि तुम मेरे सम्बन्ध में सूचना भी बगल के कक्ष में पहुँचा सको।"—मुझे आश्चर्य था। अनुशासन के नाम पर ऐसी कड़ाई तो मैंने कभी देखी नहीं थी।

"जी श्रीमन्, हम सभी को अच्छी तरह सावधान कर दिया गया है कि द्यूत-क्रिया के पूर्व कोई भी एक दूसरे से मिल न पाये।"

"वाह रे, तुम्हारा अनुशासन...जैसे मैं अतिथि नहीं तुम्हारा बन्दी होऊँ।" मैं थोड़ा झुँझलाया। "...इस तरह मैं टहल रहा हूँ और कहीं कृपा स्वयं मुझे देख ले तो?"

"देख ले।"

"तब तो उसे मेरी उपस्थिति का ज्ञान हो जायेगा।"

"हो जाये। इसके लिए मैं क्या कर सकता हूँ।"—परिचारक बड़े ही निर्विकार भाव से बोला और मेरे सामने से हट गया।

थोड़ी देर बाद मुझे सुवर्चा के निरंतर खाँसने की आवाज लगी। यों उनके गले की खरखराहट का अनुमान मुझे कई बार लग चुका था। मैं जानता था कि उन्हें दमा का दौरा पड़ता है। हो सकता है, इस समय वह उसी की चपेट में हों। मैं उनके कक्ष के द्वार की ओर बढ़ा।

मैं दरवाजे पर पहुँचा ही था कि फिर एक परिचारक बीच में आकर खड़ा हो गया। "आप क्या चाहते हैं?"—उसने पूछा।

"तुम्हारा सिर चाहता हूँ।"—मैं बड़ी तेजी से झुंझलाया,—"देखते नहीं हो कि एक वृद्ध बीमार है और पूछते हो कि क्या चाहते हैं।"—मैं उसे ढकेलकर कमरे में घुस गया। वह दीवार से टकराकर धरती पर गिर गया, किन्तु मैंने उधर देखने की परवाह तक नहीं की।

भीतर घुसते ही रुग्ण वृद्ध ने उठकर अभिवादन किया। मेरा मन ठीक नहीं था, मैं बगल में बैठते हुए पुनः झुंझलाया,—"क्या तमाशा बना रखा है। कोई किसी से मिल भी नहीं सकता। भाड़ में जाये ऐसी राजाज्ञा।"

"लगता है, सब कुछ भाड़ में ही जायेगा आचार्य।"—अत्यन्त गम्भीर हो खरखराते गले से सुवर्चा बोला, उसकी गढ़े में धँसी आँखें अनवरत वातायन से बाहर आकाश की ओर लगी थीं मानो वे ग्रहों की गति देख रही हों।

मेरे बिना कुछ पूछे ही वह बोलता गया—"लगता है, आर्यावर्त के विनाश का बीज अब वपन करनेवाला है।" —इतना कहने के बाद ही उसे खाँसी का दौरा पड़ा। वह लगातार खाँसने लगा, मैंने उसे सँभालकर लिटा दिया और उस पर चादर डाल ही रहा था कि सुरेखा कमरे में आ पहुँची। उसने मेरे हाथ से चादर लेकर उसे ओढ़ाया और बोली—"पण्डितजी घबराइए नहीं, राजवैद्य को बुलाया गया है। फिर अपने साथ आये दो परिचारिकों की ओर संकेत कर उसने कहा—"ये दोनों हर क्षण आपकी शुश्रूषा में रहेंगे।"

तब अत्यन्त मृदु वाणी में वह मुझसे बोली—"आचार्यजी, आप व्यर्थ ही परेशान हो रहे हैं। पण्डितजी तो पुराने रोगी हैं। इनको दौरा तो पड़ता ही रहता है।"

"मैं पण्डितजी के पुराने रोग से नहीं, बल्कि इस राज्य के नये रोग से परेशान हूँ।" मैंने कहा। वह निर्विकार रूप से खिलखिला पड़ी।

कुछ भंगिमाओं से, कुछ शब्दों से और कुछ अपने हाथ का सहारा देकर सुरेखा मुझे बड़ी शिष्टता एवं सावधानीपूर्वक सुवर्चा के कक्ष से निकाल ले आयी और मुझे मेरे कक्ष में ही लाकर दम लिया।

मुझे शान्त करते हुए उसने धीरे-से बताया—"मैंने आप से कहा था न कि यह गम्भीर राजाज्ञा है कि २४ घड़ी तक किसी भी अतिथि को किसी से मिलने न दिया जाय।"

"...और यदि इस आज्ञा का पालन न किया गया तो?"

"तो कड़ी अनुशासनिक कार्रवाई होगी।" —वह मुस्करायी और पुनः बोली— "हस्तिनापुर इधर दस-पन्द्रह दिनों में बहुत बदल चुका है आचार्य। वह किसी प्रकार की ढिलाई बरदाश्त करने की स्थिति में नहीं है।" उसकी ध्वनि से अधिक उसकी आकृति पर आतंक की छाया थी।

बातों के ही क्रम में सुरेखा ने ही अत्यन्त गोपनीय ढंग से बताया कि जिस परिचारक को मैंने धक्का देकर गिरा दिया था वह दुर्योधन का अत्यन्त विश्वस्त सेवक है। हर अतिथि-भवन में उसने ऐसे विश्वस्त सेवकों को लोगों पर कड़ी दृष्टि रखने के लिए रख छोड़ा है। उसी ने मेरे इस व्यवहार की सूचना सुरेखा को दी है, क्योंकि सुरेखा ही इस अतिथि-भवन अर्थात् अतिथि-भवन नम्बर ४ की प्रधान परिचारिका है।

सब कुछ अनुमान लगा लेने पर भी मैंने उससे कहा—"मैं नहीं समझ पाया कि हम लोगों पर ऐसी कड़ी दृष्टि की क्या आवश्यकता है?"

वह मुस्करायी, पहले कुछ बोली नहीं, फिर कक्ष के बाहर झाँककर अच्छी तरह देखा और जब वह आश्वस्त हो गयी कि हमें कोई नहीं देख रहा है तब वह मेरे निकट आकर धीरे से बोली—"आचार्यजी, कल के जुए के खेल में शकुनि कुछ तिकड़म करेगा। यह बात कहीं फूट न जाये इसीलिए इतनी सावधानी बरती जा रही है।"

"जब यही बात थी तब हम लोगों को निमंत्रण देकर विशेष रूप से बुलाने की क्या आवश्यकता थी ?" —मैंने कुछ खिन्न होते हुए पूछा।

,,"'केवल यही आवश्यकता थी कि आप लोग साक्षी रहें कि जुए का खेल बड़ी ईमानदारी से हुआ है।" इतना कहकर वह एक निर्लिप्त हँसी बिखेरती हुई चली गयी।

अँधेरा बढ़ने लगा था। पक्षियों का कल-कण्ठ भी मौन हो गया था। प्रत्येक कक्ष में दीप जला दिये गये थे। मैं अपने कक्ष में पर्यंक पर लेटा था। बदली हुई विषम स्थिति पर मेरा मस्तिष्क अनायास उलझता जा रहा था।

इसी बीच कुछ लोगों के आने की विचित्र-सी आहट लगी। स्पष्ट था कि बहुत से लोग मेरे कक्ष की ओर बढ़ते चले आ रहे हैं। मैं इसके लिए थोड़ा सजग होऊँ, इसके पहले ही मुझे एक धीर-गम्भीर ध्वनि सुनायी पड़ी—"आपका शिष्य दुर्योधन आपको प्रणाम करता है।"

मैं हड़बड़ाकर खड़ा हो गया। मैंने देखा, उसके पीछे शकुनि तथा और कई लोग हैं।

दुर्योधन वैसे ही उच्च स्वर में बोला—"मैंने सुना है, आपको यहाँ कोई कष्ट हुआ है।"

"नहीं, ऐसी कोई बात तो नहीं है।" —यदि मैं यह कहूँ कि दुर्योधन की अप्रत्याशित उपस्थिति से मैं करीब-करीब घबरा गया था, तो भूल नहीं होगी।

"'''तब आपने राजाज्ञा-उल्लंघन क्यों किया ?' —प्रशासकों की तरह उसकी कड़कती आवाज जीवन में पहली बार मेरे स्वाभिमान को दबोच बैठी। मैं कुछ ठीक से बोल नहीं पाया। हक्का-बक्का-सा यही देखता रह गया कि आज दुर्योधन कितना बदला हुआ है। वह विजय के अभिमान में ऐंठा जा रहा है।

मुझे सकपकाया-सा देखकर वह फिर बोला,—"अनुशासन में ढिलाई के कारण आज हस्तिनापुर के प्रशासन की यह स्थिति है। अब ऐसी ढिलाई किसी भी सीमा पर सहन नहीं की जायेगी।'''यों आपको किसी प्रकार का कष्ट हो तो बताइए, उसे दूर करने की चेष्टा की जायेगी।"

"नहीं, मैं अच्छी तरह हूँ।"—मेरा स्वर ग्लानि से बोझिल था।

इसके बाद वह लौट पड़ा। मैं प्रांगण में कुछ दूर तक उसके साथ आया। फिर उसने ही कहा,—"आप यहीं रुकिये। कल मध्याह्न द्यूत-क्रीड़ा के समय भेंट होगी।

मैं रुक गया। दुर्योधन अभिवादन कर मुख्यद्वार की ओर चल पड़ा। सभी परिचारक प्रणाम करते हुए उसके सामने से हटते चले गये। शकुनि छाया की तरह उसके साथ ही था, पर वह एकदम चुप था।

उसी प्रांगण में टहलते हुए मैं सोचने लगा कि महत्त्वाकांक्षा की छाया भी कितनी निष्ठुर होती है। वह सहज ही मनुष्य को हिंस्र पशु से भी अधिक निर्मम बना देती है। कल का दुर्योधन आज कितना निर्मम और कठोर है, एकदम परिवर्तित, जरा-सा भी नहीं लगा कि वह मेरा शिष्य है और मैं उसका आचार्य हूँ।

टहलते-टहलते मैं अतिथि-भवन के उद्यान में निकल आया था। आकाश में चतुर्दशी का चन्द्रमा मुस्करा रहा था। छिट-फुट बादलों के टुकड़े सूखे पत्तों की तरह नभ में उड़ते दिखायी दे रहे थे। मन में आया, रात हो गयी है तो क्या हुआ, विदुरजी के यहाँ होता आऊँ। कदाचित् इस स्तब्ध और शीतल प्रकृति में भी जलते हुए मेरे मन को कुछ शान्ति मिल जाये। निदान मैं उद्यान के अन्तिम द्वार की ओर लपका। वहाँ कोई प्रतिहारी तो नहीं खड़ा था, पर द्वार बन्द था। बाहर से उस पर बड़ा-सा ताला लटक रहा था। उसे देखते ही मेरा मन खिन्न हो गया। अनुशासन के नाम पर मैं पूर्ण रूप से बन्दी हो गया हूँ। मुझसे तो वृक्षों पर बसेरा लेनेवाले विहग अच्छे हैं। जी में आया कि धक्का मारकर लौह-शिकंजे को तोड़ दूँ। दो-एक बार उसे हिलाया भी, फिर कुछ सोचते हुए रुक गया।

लौह-शिकंजे के उस पार विराट् पीपल के विशाल तने के पीछे से एक छाया-प्रतिमा-सी कोई चीज हिलती दिखायी पड़ी। सहज ही मेरे मस्तिष्क ने उसे समझ लिया कि कोई वन्य जन्तु है, किन्तु जब वह छाया-प्रतिमा मेरी ओर आने लगी तब कुछ ऐसा आभास हुआ कि वह कोई मानवीय शरीर-यष्टि है।

मैंने अपने बगल में बंधी असि को सँभाला और कुतूहलवश मैं खड़ा ही रहा। वह छाया-मूर्ति मेरे सामने आती गयी। अत्यन्त निकट आकर उसने फिर झाड़ी का आड़ लिया।

"आचार्यजी, मैंने बड़ी चेष्टा की, पर अतिथि-भवन नं० १ में जा नहीं पाया।"—उस छाया-मूर्ति की भर्रायी एवं मन्द ध्वनि सुनायी पड़ी।

"कौन हो तुम ?"—मैंने पूछा।

वह एकदम चुप हो गया। मैंने पुनः पूछा—कौन हो तुम ?"

इस बार वह बहुत धीरे से बोला,—"आदित्य"

"अरे तुम यहां ? मैंने तुम से इन्द्रप्रस्थ जाने को कहा था न।"

"किन्तु मैं वहाँ जाकर क्या करता ? सभी तो यहाँ चले आये हैं ?"

"हाँ, पाण्डव तो यहीं आ गये हैं। पर वे कहाँ हैं ?"

"अतिथि-भवन कक्ष १ में। मैंने वहाँ पहुँचने की बहुत चेष्टा की पर वहाँ जा नहीं पाया ?"

"लेकिन वहाँ जाकर तुम करोगे क्या ?"

"कम-से-कम इतना तो बता ही सकता था कि कल जुए के खेल में आपके साथ छल होगा।

"किन्तु तुम ऐसा कर नहीं सकते। बड़ी सावधानी बरती जा रही है।"

"फिर भी मैं चेष्टा तो करूँगा ही।"

"मार डाले जाओगे।"

"जो एक बार मार डाला गया है यदि दुबारा भी मार डाला गया तो परवाह क्या ?" इतना कहकर वह एक विचित्र हँसी हँसने लगा। झाड़ियाँ उसकी खिलखिलाहट से काँप उठीं। 'शत्रु का शत्रु मित्र' के सिद्धान्त के अनुसार वह पाण्डवों का अनजाना और अनचीन्हा घनिष्ठ मित्र हो गया था। एक बार तो वह सब की दृष्टि में मर ही चुका है, पर पाण्डवों के लिए वह एक बार फिर अपने प्राण गँवा सकता था।

किन्तु मैंने उससे और अधिक बातें करना निरापद नहीं समझा। मैं वहाँ से कुछ हटने-बढ़ने को हुआ। उसे मेरी मनःस्थिति का अनुमान लग गया।

"अच्छा तो चलूँ" इतना कहकर उसने प्रणाम किया और चला गया। मैंने देखा, पीपल के पत्तों से छनकर बरसती चाँदनी से होता हुआ एक काला धब्बा धीरे-धीरे दूर हो, एकदम खो गया।

संयोग देखिए कि उसी समय कहीं से उल्लू के बोलने की आवाज सुनायी पड़ी।

दूसरे दिन मध्याह्न के भोजन के बाद ही हम लोग प्रासाद में आमंत्रित हुए। अतिथि-भवन से लेकर प्रासाद तक सैनिकों एवं राज्य-कर्मचारियों को बड़ी सतर्कतापूर्वक स्थान-स्थान पर लगाया गया था। अनुशासन के नाम पर हर एक की जबान बन्द थी। सैनिकों के पदत्राण एवं रथों की खड़खड़ाहट से सारा माहौल जैसे काँप रहा था। प्रत्येक सम्मानित अतिथि को ले जाने और उचित आसन पर बैठाने की व्यवस्था अलग-अलग कर्मचारियों को सौंप दी गयी थी।

मैं जब चला, मेरे रथ के दोनों ओर चार घुड़सवार चल रहे थे। विचित्र स्थिति थी, घुड़सवारों की चाल से मेरे सारथी को रथ की चाल मिलानी पड़ती थी। लगता था, मैं नहीं, वरन् मेरा दासत्व अत्यन्त सम्मानित ढंग से घुड़सवारों से घिरा हुआ आगे बढ़ता चला जा रहा है।

प्रासाद के भीतर जब मैं पहुँचा अधिकांश लोग अपने आसन ग्रहण कर चुके थे। सबसे उच्च आसन पर धृतराष्ट्र विराजमान थे। उन्हीं के बगल में गान्धारी बैठी हुई थी और निकट ही, थोड़े कम ऊँचे आसन पर संजय बैठा था। जब किसी नये व्यक्ति के आने की आहट धृतराष्ट्र को लगती, वे थोड़ा झुककर संजय से पूछते। संजय आगन्तुक का परिचय बताता। मेरा भी आसन धृतराष्ट्र के सिंहासन के निकट ही था और मेरे पास ही पितामह भी बैठाये गये थे। हम लोगों से नीचे दुर्योधन और उनके भाइयों का आसन था। कर्ण को दुर्योधन ने ठीक अपने बगल में बैठाया था। ये सारे आसन पूर्वाभिमुख थे। ठीक इसके सामने पश्चिमाभिमुख पाण्डव तथा उनके पक्ष के लोगों को बैठाया गया था।

इससे कौरव और पाण्डव एकदम आपने-सामने थे। दोनों के बीच में काठ की विशाल चौकी पर चौसर का फड़ बिछा था, पर पाँसे नदारत थे।

लोग बैठ रहे थे, उठ रहे थे, आ रहे थे, जा रहे थे। थोड़ी बहुत फुसफुसाहट भी हो जाती थी, पर तूफान के पूर्व की शान्ति की भाँति सारा वातावरण अद्भुत ढंग से गुम-सुम था। कुछ ऐसे ढंग से बैठाया गया था कि लोग अपने साथियों या अंतरंग मित्रों के निकट न बैठ पायें, इससे बातें करने का अवसर कम था। जैसा सब जानते थे कि मेरी आत्मीयता विदुरजी से अधिक हैं और मैं विदुरजी से बहुत दूर बैठाया गया था।

विचित्र बात थी, सब जानते थे कि आज द्यूत-क्रीड़ा के लिए ही आमंत्रित किया गया है, फिर भी सब चुपचाप बैठे थे। चौसर का फड़ बिल्कुल खाली था। सब की उत्सुकता चरम बिन्दु पर पहुँचने लगी थी। मेरे कानों में धृतराष्ट्र की भी आवाज आयी,—"आखिर अब देर किस बात की?"

इसके बाद ही शकुनि युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए बोला,—"अब विलम्ब किस लिए? चौपड़ का फड़ बिछा ही है। आइए दो-दो हाथ हो जाये।" —सभाभवन में एक सुगबुगाहट-सी रेंग गयी।

युधिष्ठिर अपने स्थान से खड़े हुए और सहज भाव से बोले,—"राजन्, आपका आमंत्रण तो स्वीकार है पर सोचता हूँ, यह खेल अच्छा नहीं है। असित और देवल जैसे महामुनियों ने पाँसे के इस खेल का एक स्वर से विरोध किया है। उनका कहना है कि जुआ खेलना धोखा देने के समान है।...और हम क्षत्रियों के लिए एक दूसरे को धोखा देना अच्छा नहीं लगता। क्या ही अच्छा हो कि क्षत्रिय युद्ध-क्षेत्र में लड़कर ही अपना फैसला कर लिया करें।"

युधिष्ठिर मुस्कराते हुए अत्यन्त निर्विकार भाव से बोले थे, पर चोर का जी आधा। मैंने ही नहीं, बल्कि मेरा विश्वास है कि कौरव-पक्ष के बहुत से लोग यह सोचने लगे कि शायद युधिष्ठिर को पाँसों की असलियत मालूम हो गयी है। मैंने देखा, दुर्योधन ने भी कर्ण से कुछ कहा। धृतराष्ट्र की आकृति पर भी गम्भीरता कुछ और गहरी हो गयी थी।

पर शकुनि साधारण नहीं था। वह जोर से हँसा,—"धोखा,—आपने भी क्या कहा महाराज। यह तो स्पर्द्धा है, इसे आप धोखा कहते हैं। वेदपाठी पण्डितों में जब शास्त्रार्थ होता है तब उनमें क्या स्पर्द्धा नहीं होती, जिसका ज्ञान अधिक होता है वह दूसरे को जीत लेता है। इसे क्या आप धोखा कहेंगे? यही दशा युद्ध-क्षेत्र में होती है। जो बलवान होता है, जिसे शस्त्र-संचालन का अधिक ज्ञान होता है वह दूसरे को जीत लेता है।···तो क्या यह धोखा है? मल्लयुद्ध में ताकतवर कमजोर को पछाड़ देता है तो क्या यह धोखा है? यही स्थिति इस चौसर के खेल की भी है। इसमें जो अच्छा खिलाड़ी होगा, वह कमजोर खिलाड़ी को पछाड़ देगा।···इसमें धोखा कहाँ? इसमें तो शुद्ध स्पर्धा है।"

कर्ण ने भी शकुनि का समर्थन किया।

दुर्योधन बोला,—"यदि आप इसे धोखा समझते थे तो फिर खेल के लिए पधारे क्यों?"

"हम लोग तो केवल इसलिए चले आये कि आप लोग बुरा न मानें।"

"फिर यदि आकर नहीं खेलेंगे तो हम लोग क्या अच्छा समझेंगे?"—अत्यन्त उजड्डता से भरी यह दुःशासन की आवाज थी। अधिकांश ने उसके कथन पर विभिन्न भंगिमाओं से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

फिर भी युधिष्ठिर शान्त भाव से बैठे रहे। उन्होंने अर्जुन से कुछ मंत्रणा की। ऐसा लगा, जैसे खेलने की इच्छा भी रखते हों, पर वे अपने स्थान से उठे नहीं।

शकुनि ने दूसरी बार पुनः युधिष्ठिर को सम्बोधित कर रहा,—"आप तो चौसर के पुराने खिलाड़ी हैं, फिर भी इतनी आना-कानी क्यों?"

जब पहले खेलते रहे हो तो देवल और असित के वचन याद नहीं रहे होंगे। इस समय याद हो आये हैं।"—दुर्योधन ने व्यंग्य किया और एक हल्की-सी हँसी कौरव-पक्ष में फैल गयी।

"ऐसा तो नहीं कि आप हारने के भय से न खेल रहे हों।" शकुनि ने पुनः वाक्बाण मारा,—"···क्योंकि धन के लोलुपों के मन में बहुधा हारने का भय बना रहता है।"

लगता है, बात युधिष्ठिर के मन में कुछ चुभ-सी गयी । युधिष्ठिर सब कुछ सुन सकते थे, पर जो व्यक्ति नित्य ही सैकड़ों निष्क और गायें दान देता रहा हो उसे स्वयं के लिए धन का लोलुप कहा जाना कैसे स्वीकार होता ? वह कुछ बोले तो नहीं केवल उठ खड़े हुए और चौसर के फड़ की ओर बढ़े । मुझे साफ लगा जैसे कोई फांसी के तख्ते पर जा रहा हो । विदुर के चेहरे पर मुझे शंका के भाव उभरते दिखायी दिये ।

चौसर के फड़ की विशाल चौकी पर युधिष्ठिर के पहुँचते ही जोरों की करतल ध्वनि हुई । मुझे अच्छी तरह याद है, कि सबसे अधिक ताली बजानेवालों में धृतराष्ट्र भी थे ।

दूसरी ओर से खेलने के लिए शकुनि बढ़ा, पर कोई हलचल नहीं हुई । जब वह चौकी पर पहुँच गया तब युधिष्ठिर ने कहा,—"आप यहाँ किस लिए पधारे हैं ?"

"क्या आप अकेले ही खेलेंगे ?"—शकुनि ने मुस्कराते हुए कहा ।

"पर मुझे तो कौरवों से खेलने के लिए आमन्त्रित किया गया है ?"

"आप मुझे कौरव ही समझ लीजिए ।"

"यह कैसे समझा जा सकता है ?··· आप कौरवों के मामा हो सकते हैं, पर कौरव नहीं ।"

शकुनि अब सकपकाया । सभा में पुनः फुसफुसाहट रेंगने लगी । दुर्योधन ने खड़े होकर कहा,—"हमारी ओर से मामाजी खेलेंगे ?"

"क्यों ? आपको हारने का भय है क्या ?" लगता है, पहले धन का जो लोभ मुझे सता रहा था, वह अब आपको सताने लगा है ।"—युधिष्ठिर ने अपने ढंग से व्यंग्य किया ।

दुर्योधन तिलमिलाकर उठा भी, युधिष्ठिर का उत्तर देने के लिए या चौसर के फड़ पर पहुँचने के लिए, यह तो नहीं कह सकता ।···किन्तु बगल में बैठे कर्ण ने उसे पकड़कर बैठा लिया ।

"अरे बन्धु-श्रेष्ठ, आ जाइए न, हो जाये दो-चार हाथ ।" युधिष्ठिर ने पुनः ललकारा ।

इस बार भी दुर्योधन को कर्ण ने उठने नहीं दिया। सभी समझते थे कि यदि दुर्योधन खेलेगा, तो युधिष्ठिर से हार जायेगा, क्योंकि युधिष्ठिर दुर्योधन से अच्छा खेलते थे।

दूसरी ओर युधिष्ठिर शकुनि के साथ खेलना नहीं चाहते थे और दुर्योधन को खेलने के लिए बराबर ललकार रहे थे। इससे कुछ ऐसा भी लग रहा था जैसे उन्हें शकुनि के तिकड़म की जानकारी हो, क्योंकि जब-जब वे ललकारते थे, मैं बराबर धृतराष्ट्र की ओर देखता था, उनकी आकृति का रंग बदलने लगता था।

जब युधिष्ठिर ने देखा कि इतना कहने के बाद भी शकुनि चौकी से पीछे नहीं हटा तब उसने "पूछा—अच्छा मामाजी खेलेंगे तो आप पर बाजी कौन देगा ?"

"बाजी मैं दूँगा।"—इस बार दुर्योधन ने खड़े होकर बड़े ताव से उद्घोषित किया। कौरव-पक्ष से एक बार फिर करतल-ध्वनि हुई।

"कितना अद्भुत है, खेलेगा मामा और बाजी देगा भाँजा।"—युधिष्ठिर के अधरों की मुस्कराहट सभा में फुसफुसाहट बनकर बिखर गयी।

"आखिर आप चाहते क्या हैं ?"—कर्ण के बार-बार रोकने पर भी दुर्योधन अन्त में खड़ा होकर बोल ही पड़ा।

"मेरी राय में किसी एक की जगह दूसरे को नहीं खेलना चाहिए। यह खेलने के साधारण नियम के भी विपरीत है।"—युधिष्ठिर ने बड़े शान्त भाव से कहा।

इस बार शकुनि फिर जोर से हँसा। स्पष्ट था कि उसकी हँसी बनावटी थी। ऐसा उसने दुर्योधन की मुद्रा बदलने के लिए किया था। उसे मालूम था कि यदि दुर्योधन को क्रोध आ जायेगा तो सब गुड़-गोबर हो जायेगा। वह काम बड़े मिठास से निकाल लेना चाहता था। उसने कहा,—"युधिष्ठिर, तुम हो बड़े चालाक। तुम्हारी स्वयं खेलने की इच्छा नहीं है तो पहले ऋषि-वंचनों का सहारा लिया और अब खेल के नियम की बात उठा दी।···यदि न खेलना

चाहते हो तो साफ-साफ कह दो कि नहीं खेलेंगे।...पर इतनी भरी सभा में बहानेबाजी करना तुम्हें शोभा नहीं देता।"

इतना सुनने के बाद युधिष्ठिर फड़ पर बैठ गया। पुनःकरतल-ध्वनि हुई। दूसरी ओर से शकुनि फड़ पर पहुँचा। शकुनि के पीछे दुर्योधन और फिर कई कौरव। यह देखकर शेष चार भाई पाण्डव भी युधिष्ठिर के पीछे आकर बैठ गये।

नियमतः शकुनि ने पाँसे निकाले और उसे युधिष्ठिर को दिखाया। युधिष्ठिर ने सरसरी तौर पर पाँसे की शुद्धता की परीक्षा की और खेल की अनुमति दे दी। प्रसन्नता की एक विद्युत्-धारा दौड़ गयी, खेल आरम्भ हो गया। लगता है, बाहरी द्वार सब के लिए खोल दिया गया। मालूम होता है, सारा नियंत्रण और अनुशासन जुए का खेल शुरू होने के पूर्व तक ही था। अचानक भीड़ का झोंका भीतर की ओर झुका। सभा-भवन खचाखच भर गया।

पहले रत्नों की बाजी लगी, फिर सोने-चाँदी के खजानों की, उसके बाद रथों और घोड़ों की। तीनों दाँव लगातार युधिष्ठिर हार गये। शकुनि की हर जीत पर कौरव उछल पड़ते। धृतराष्ट्र संजय से झुककर पूछते—इस बार क्या जीता गया और फिर वे गांधारी से अत्यन्त प्रसन्न हो बताते।

तीसरा दाँव जीतने पर बाहर से आयी जन-साधारण की भीड़ में कोलाहल मचा, कोई तेजी से चिल्ला रहा था,—"धर्मराज, मत खेलिए, धोखा है। शकुनि के पाँसे छल के हैं।"

वह व्यक्ति बराबर चिल्ला रहा था। सैनिक उसे पकड़ने के लिए दौड़े। क्षणमात्र में वह पकड़कर सभा के मध्य में लाया गया, फिर भी वह चिल्ला रहा था और सबके ऊपर थूक भी रहा था। भीड़ में से ही अन्य कई चिल्ला पड़े,—..."अरे पागल है, पागल है...।"

सचमुच पकड़े गये व्यक्ति का व्यवहार भी बिल्कुल पागलों-जैसा था। वह थूकने के साथ ही जोर से हँसता भी था। उसके सिर के खुले बाल पानी और मिट्टी से अद्वैत स्थापित कर तपस्वियों की लटों जैसे हो गये थे। आकृति पर भी बालों का घना जंगल था।

सैनिकों ने उसे लाकर सभा में पटक दिया। उसके मुख से खून निकलने लगा। खून, लार और नाक के पोटे से विचित्र घृणात्मक आकृति हो गयी थी, फिर भी वह अट्टहास करता जा रहा था और लगातार चिल्ला रहा था कि यह जुआ नहीं बल्कि धोखा है।

"पागल है····पागल है।"—दुबारा जोरों से आवाज उठी।

पहले कुछ देर तक तो इस अप्रत्याशित कृत्य पर लोग हक्का-बक्का थे। फिर दुर्योधन चीखा,—"निकाल बाहर करो इस पगले को।"

फिर क्या था ? धड़ाधड़ सैनिकों ने उसे पीटना शुरू किया और धक्के मार-मारकर बाहर निकाल दिया। कोलाहल धीरे-धीरे बाहर की ओर बह गया। तब मेरे मन में बैठे किसी व्यक्ति ने जैसे मुझसे सहसा कहा,—अरे, यह तो आदित्य था।

आदित्य ? कितना बदल गया कि पूरा हस्तिनापुर उसे पहचान नहीं रहा है। मैं सोचने लगा कि कितना अद्भुत है कि प्राण हथेली पर लेकर पाण्डवों को सावधान करने चला आया।

"खेल तो थोड़ी देर के लिए रुक ही गया था। युधिष्ठिर की आकृति पर सन्देह उभरने लगा।

"हाँ तो बाजी लगाइए।"—शकुनि बोला।

पर युधिष्ठिर शान्त कुछ सोचते रहे।

"लगता है, पगले की बात में आ गये। खेल आरम्भ होने के पूर्व ही मैंने पाँसे आपको दिखा दिये थे और जब आपने अनुमति दी थी तभी मैंने उसे फेंकना शुरू किया था।"

युधिष्ठिर फिर भी शान्त थे। उनकी चिन्तित मुद्रा से स्पष्ट था कि पगले की बात उनके मस्तिष्क के किसी कोने में खुजलाहट उत्पन्न कर बैठी है।

"तुम तो आरम्भ से ही न खेलने का बहाना खोज रहे। कभी ऋषि-वाक्यों का बहाना लिया, फिर धोखा और न्याय का बहाना लिया, अब एक पागल की बात का बहाना ले रहे हो।"—शकुनि ने फिर ललकारा।

"मुझे नहीं पता था कि धर्मराज कहा जानेवाला व्यक्ति भी धन के लोभ में ऐसा फँस जायेगा।"—यह आवाज दुर्योधन की थी।

दुर्योधन की बात सुनकर युधिष्ठिर एक बार फिर तिलमिलाया। उसने कहा, "अच्छा चलो, फिर बाजी लगाता हूँ।"

युधिष्ठिर ने बाजी लगानी आरम्भ की और शकुनि ने जीतना। पांसे क्या थे मानो शकुनि के हाथ के करामात थे। एक बार भी उनके विरुद्ध नहीं पड़े और न युधिष्ठिर के हाथ में आये। धीरे-धीरे युधिष्ठिर अपनी गायें, भेड़, बकरियाँ, दास, दासी, रथ, घोड़े, सेना, देश, देश की प्रजा सब कुछ हार बैठे। वे ज्यों-ज्यों हारते जाते थे उनकी खीझ बढ़ती जाती थी। जुए का नशा उन पर और चढ़ता जाता था। 'इस बार नहीं जीता तो इस बार सही' की भावना से वे बाजी लगाते जाते थे। जब कुछ नहीं रहा तो भाइयों के शरीर पर जो आभूषण और वस्त्र थे, उन्हीं को दाँव पर लगा दिया।

"यह लो, इन्हें भी जीता, कहते हुए शकुनि ने पांसा फेंका और सचमुच उन्हें भी जीत लिया। और कुछ बाकी है।"—व्यंग्य-भरी मुस्कराहट के बीच शकुनि ने पूछा।

"यह साँवले रंग का सुन्दर युवक, मेरा भाई नकुल बैठा है। वह भी मेरा ही धन है। मैं उसे भी बाजी पर लगाता हूँ। पांसे फेंको।"—युधिष्ठिर ने जोश में कहा।

अभी तक तो मुझे कुछ विशेष नहीं लगा था जैसे मेरे मन में पाण्डवों द्वारा सब कुछ हार बैठने की कल्पना पहले से ही हो गयी थी, पर जब इस बार युधिष्ठिर ने दाँव पर नकुल को लगाया तब मेरा अन्तर हाहाकार कर बैठा,—अरे यह तो अनर्थ तो रहा है। मैंने ओरों की ओर देखा, सब चुपचाप बैठे थे। धृतराष्ट्र, संजय से बातें करते हुए अत्यन्त प्रसन्न थे। पितामह तो ऐसे निर्विकार एवं निर्लिप्त-से बैठे थे जैसे उनके सामने कुछ हो ही नहीं रहा है। हाँ, कृपा अवश्य कुछ दुःखी दिखायी दे रहा था। सब से अधिक चिन्ता, भय एवं व्याकुलता थी विदुर के चेहरे पर। ऐसा लग रहा था कि वह युधिष्ठिर की ओर कुछ संकेत करना चाह रहे हैं, पर युधिष्ठिर जुए के नशे में उधर देख ही नहीं पा रहे थे।

एक बार तो विदुर उठकर खड़े भी हुए, पर पता नहीं किसने उन्हें भी खींचकर बैठा दिया। पराधीनता की अदृश्य जंजीरों में जैसे जकड़े हुए थे।

युधिष्ठिर नकुल को भी हार गये।

"और कुछ भी है, आपके पास, जिसे आप दाँव पर लगा सकें ?"—शकुनि ने व्यंग्यभरी मुस्कराहट पुनः बिखेरी और कहा।

मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा था कि शकुनि की व्यंग्य-भरी मुस्कराहट उसकी बातों से कहीं अधिक युधिष्ठिर को चुभती थी। वह जैसे तिलमिला जाते थे।

"अच्छा तो अब यह सहदेव है, जिसने सारी विद्याओं का पार पा लिया है। यह भी मेरा धन है। मैं इसे भी दाँव पर लगाता हूँ।"—युधिष्ठिर झुँझलाहट-भरे स्वर में बोले।

"तो लो इसे भी जीता।"—इतना कहते हुए शकुनि ने पाँसा फेंका और सचमुच उसे भी जीत लिया।

युधिष्ठिर कुछ समय तक एकदम शान्त हो गया। पाण्डव-पक्ष पर जैसे पाला पड़ा था, पर कौरव-पक्ष की ओर वासन्ती बयार बह रही थी।

"लगता है, अब आप बाजी लगाना नहीं चाहते।" शकुनि अपनी विष से भरी मुस्कराहट के बीच बोलता रहा,—"हाँ भाई, लगायेंगे भी तो क्यों ? नकुल और सहदेव तो माद्री के पुत्र थे। उन्हें दाँव पर लगाना आसान था। बाकी तो कुन्ती के पुत्र हैं; सगे भाई हैं, उन्हें कैसे दाँव पर लगाया जा सकता है।"

"नीचता की बातें मत करो, तुम मुझमें और दूसरे भाइयों में फर्क करते हो ?"—युधिष्ठिर के आक्रोश ने पहली बार वाणी का सहारा लिया।

"तब तुम उन्हें दाँव पर क्यों नहीं लगाते ?"—शकुनि बोला।

"मुझे भाइयों को दाँव पर लगाने का कोई हक नहीं था। पर तेरी चाल में आकर लगा बैठा। अब तू मुझमें फूट डालने की कोशिश कर रहा है, पर यह नहीं होगा। धर्म हमारे जीवन की साँस है, मैं उसे नहीं छोड़ सकता। मेरे लिए जैसे माँ माद्री थी वैसे ही कुन्ती है।...मैं अब कुन्ती-पुत्र परम पराक्रमी अर्जुन को भी दाँव पर लगाता हूँ।"

"तो लो मैंने उसे भी जीत लिया।"—इतना कहते हुए शकुनि ने पाँसा फेंका और सचमुच उसे भी जीत लिया।

दुर्दैव जैसे युधिष्ठिर को घेरे हुए था, मैं देख रहा था, वह एकदम हतप्रभ होता जा रहा था। उसने अर्जुन के बाद भीम को भी लगा दिया और उसे भी हार गया।

"तब स्वयं को ही क्यों छोड़ते हो? चाहते हो सभी भाई दास हो जायें और एक तुम स्वतंत्र बने रहो।"—शकुनि ने फिर वाक्बाण मारा।

युधिष्ठिर ने स्वयं को भी दाँव पर लगा दिया और हार गये। कौरव बाँसों उछलने लगे। पितामह के मुँह से निकला, छिः, छिः। भगवान ही जाने उन्होंने पाण्डवों के प्रति घृणा प्रदर्शित की या कौरवों के प्रति? क्योंकि उनको समझना मेरे वश के बाहर की बात थी।

धृतराष्ट्र ने शकुनि की प्रशंसा करते हुए गान्धारी से कहा,—"मैंने कभी उसे इतना करतबी नहीं समझा था। आखिर तुम्हारा ही भाई है न?" पर गांधारी गम्भीर थी। वह इस सीमा तक विजय की आशा नहीं करती थी।

किन्तु मैं चुप था, एकदम चुप। बोलूँ, तो क्या बोलूँ? कौरवों से घिरा था। बिल्कुल धृतराष्ट्र के बगल में बैठाया गया था। युयुत्सु के बगल में बैठा अश्वत्थ एकदम मेरी आकृति की ओर देख रहा था।

पाण्डव-पक्ष कुम्हला गया था। उसके मुँह पर बात नहीं आ रही थी। दासत्व भाव से सिर नीचा किये सभी बैठे थे। इधर कौरव आपस में गले मिल रहे थे। दुर्योधन ने शकुनि को छाती से लगाते हुए उसके कान में कुछ कहा।

तब शकुनि पुनः युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए बोला—"कुन्तिपुत्र, तुम्हारे पास एक वस्तु और है, तुम चाहो तो उसे भी दाँव पर लगा दो। शायद तुम्हारा भाग्य आखिरी बार जाग जाये।"

युधिष्ठिर दिग्भ्रमित-सा शकुनि का मुँह देखता रह गया। कदाचित् वह सोचने लगा कि अब क्या बचा है मेरे पास?"

शकुनि ने यह कहने में जरा भी विलम्ब नहीं किया कि तुम्हारे पास अभी भी द्रौपदी बची हुई है। उसने युधिष्ठिर को समझाया— "...तुम दाँव पर

द्रौपदी को लगा दो। यदि जीत जाओगे तुम तो जो कुछ हारे हो सब तुम्हें दे दूँगा।···यदि हार जाओगे तो भी कोई विशेष बात नहीं होगी, जैसे तुम सब गुलाम हो द्रौपदी भी गुलाम होकर तुम्हारे ही साथ रहेगी। सबसे बड़ी बात यह है कि वह तुम्हारे बिना रह नहीं सकती। यह कैसे सम्भव है कि तुम सब दास रहो और वह स्वतन्त्र महारानी रहे ?"

पता नहीं क्या सोचकर युधिष्ठिर ने उसे भी दाँव पर लगा दिया और हार गये।

गम्भीर हंगामा मचा। कौरवों की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। औरों को मैं क्या कहूँ ? धृतराष्ट्र तक अपने आसन-पर उछल पड़े। मैंने देखा, विदुर-जी उठकर खड़े हो गये। उनके ओठ फड़क रहे थे, आँखें सिन्दूर हो गयी थीं, तब तक दुर्योधन खुशी में उछलता हुआ और भुजाएँ हवा में घुमाता हुआ विदुरजी से बोला—"जाइए अतिथि-गृह से द्रौपदी को खींच ले आइए। आज से वह हमारी दासी है। महल में वह झाड़ू देने का कार्य करेगी।"

इतना सुनना था कि विदुरजी लाल हो गये—"नीच, जरा आगे-पीछे की भी सोच। तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है जो इस तरह की बातें करता है।······ तेरे सिर पर महाकाल मुँह बाये खड़ा है जो तुझे दिखायी नहीं देता है। द्रौपदी कभी भी तेरे परिवार की दासी नहीं हो सकती।"

विदुर इस तरह से गला फाड़कर चीखते जा रहे थे कि वातावरण एकदम बदल गया। कुछ क्षणों तक सब-के-सब स्तब्ध रह गये। किसी को विश्वास नहीं था कि विदुर इस स्थिति में भी विरोध करेंगे। मुझे स्वयं आश्चर्य था, मैंने अपने जीवन में कभी भी उन्हें ऐसा क्रोधित होते नहीं देखा था। वे क्रोध से एकदम काँप रहे थे। उनकी तड़पती आवाज आग बरसा रही थी। वे पूरी सभा को सम्बोधित कर कहते जा रहे थे–"सभासदो, इस दुर्योधन की बुद्धि मारी गयी है जो इतने पराक्रमी पाण्डवों को अपना शत्रु बना रहा है। नाहक मृत्यु को निमंत्रण देने चला है।······अपने को हार चुकने के बाद युधिष्ठिर द्वारा दाँव पर द्रौपदी को लगवाना कहाँ का न्याय है ? इस अन्याय का पूरी सभा

को विरोध करना चाहिए। कौरवों का अन्त तो निश्चित रूप में समीप है जो वे अपने हित की बातें न सुनकर स्वार्थ में गँवारों जैसा व्यवहार कर रहे हैं।"

इतना कहने के बाद विदुर की आँखें समर्थन पाने के लिए मेरी ओर मुड़ीं। मैंने समर्थन में केवल सिर हिलाया और कुछ बोलने जा ही रहा था कि अश्वत्थ आकर मेरे निकट खड़ा हो गया—"आपको इस झगड़े में पड़ने से क्या मिलेगा ?" मेरी विचार-सरणि दूसरी ओर मुड़ गयी। द्रुपद के यज्ञ की ज्वाला मेरी आँखों के सामने लपलपाने लगी।

युयुत्स ने अवश्य ही अपने बड़े भाई दुर्योधन का विरोध किया, पर उसका सभा पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ा।

परिस्थिति को नियंत्रण से बाहर जाते देखकर दुर्योधन गरजा—"विदुरजी ने तो सदा हमारा विरोध किया है। वे कौरवों का वैभव फूटी आँखों नहीं देख सकते। उन्होंने सदा ही पाण्डवों का ही पक्ष लिया है। भला इस समय वे ऐसी बातें कहें तो आश्चर्य क्या ?"

इतना कहने के बाद उसने प्रतिकामी को बुलाया और कहा—"विदुर की बुद्धि ठिकाने नहीं है, तुम जाओ और द्रौपदी को अतिथि-भवन से बुला लाओ।"

प्रतिकामी आज्ञापालक कुत्ते की तरह दुम हिलाता चला गया।

इसे भगवान की कृपा ही समझिए कि द्रौपदी इस समय यहाँ नहीं थी, नहीं तो भूखे भेड़िये की तरह सब उसे कच्चा चबा जाते। कौरव-पक्ष का सारा क्रोध उसी के प्रति था। मैं स्वयं नहीं समझ पा रहा था कि द्रौपदी इस समय पाण्डवों के साथ क्यों नहीं थी, जब कि प्रत्येक कार्यक्रम और उत्सव में वह उनके साथ जाती थी।

प्रतिकामी के जाने के बाद भी कौरव-पक्ष में वाद-विवाद की स्थिति आयी। युयुत्सु और विकर्ण, विदुर के विचार के थे। उन्होंने दुर्योधन का विरोध करने का साहस किया, पर दुःशासन, दुर्योधन और विशेष रूप से कर्ण ने एकदम उसकी जबान बन्द कर दी। पाण्डव-पक्ष तो जलकर राख हुए जंगल की तरह धुआँ छोड़ रहा था।

थोड़ी देर बाद प्रतिकामी लौटकर-आया, पर द्रौपदी उसके साथ न थी।

दुर्योधन उसे देखते ही चीखा—"कहा है द्रौपदी ?"

"वह नहीं आयी।"

"नीच, तू उसे बलात् पकड़कर ले आ नहीं सका ?"

प्रतिकामी भय से काँपने लगा, उसने बड़ी विनम्रता से निवेदन किया कि मैंने उससे सारी स्थिति बतायी। पहले तो वह घबरा गयी फिर बड़ी धीरता से बोली—"ऐसा कभी हो ही नहीं सकता।"......तुम जाकर जुए के खिलाड़ी से भरी सभा में पूछो कि पहले वह स्वयं को हारे थे या मुझे। जब इसका उत्तर तुम्हें मिल जाये तब तुम मेरे पास आना।

"तो पूछता क्यों नहीं युधिष्ठिर से ?"—दुर्योधन तड़पा।

प्रतिकामी ने भरी सभा में द्रौपदी की बात दुहरायी, पर युधिष्ठिर अवाक्-सा रह गया। वह बेचारा कभी विदुर की ओर और कभी मेरी ओर देख रहा था। मेरी मनःस्थिति ऐसी असमंजस में थी कि मैं क्या कहूँ ?"

इसी बीच दुर्योधन स्वयं चीखा—"तू उससे जाकर कह दे कि इस समय तेरे पतियों के मुख में जबान नहीं है। तू स्वयं आकर अपने पतियों से जो पूछना हो, पूछ ले।......जा अभी चला जा।"

प्रतिकामी पुनः चला गया। विदुर ने फिर समझाने की कोशिश की, पर वहाँ तो कुएँ में ही भाँग पड़ी थी। और लोग तो कुछ नहीं बोलते थे, पर दुर्योधन विदुर के बोलते ही झल्ला उठता था।

प्रतिकामी इस बार भी कोरा ही लौटा। उसे देखते ही दुर्योधन भूखे सिंह की भाँति उस पर झपटा। यदि औरों ने उसे रोक न लिया होता तो दो चार-थप्पड़ वह उसे अवश्य ही जड़ देता।

किन्तु इस बार प्रतिकामी ने बड़े साहस का काम किया। उसने पूरी सभा को सम्बोधित करते हुए कहा— "द्रौपदी ने कहा है कि मेरे पतियों के मुख में इस समय जबान भले ही न हो पर पूरी सभा क्यों मौन है ? मेरा प्रश्न सभा के हर व्यक्ति से पूछो। यदि उनमें से कोई उत्तर न दे सके तब मेरे पास आओ।

"चुप, नीच कहीं का।" —दुर्योधन पुनः झल्लाया और उसने दुःशासन से कहा— "लगता है, प्रतिकामी भीम से डरता है, तुम अभी जाओ और उस चुड़ैल को घसीटते हुए सभा में ले आओ।

दुःशासन खुशी से उछलता हुआ तीर-सा सभा-भवन के बाहर चला गया। एक दबा-सा कोलाहल लोगों के बीच उभरा। किसी स्त्री को सभा में बलात् खींच लाना न्यायसंगत नहीं है, पर दुर्योधन और कर्ण के रहते किसमें मुँह खोलने का साहस था। मैंने देखा, गांधारी चुपचाप उठकर अन्तःपुर में चली गयी। स्पष्ट था कि यह सब उसके मन के अनुसार नहीं था।

थोड़ी देर बाद बाल खींचते हुए दुःशासन द्रौपदी को ले आया और सभा के मध्य लाकर उसे ढकेल दिया। द्रौपदी एक बार गिरते-गिरते बची फिर फुफकारती हुई नागिन की तरह खड़ी हो गयी।—"सावधान, यदि किसी ने मेरा स्पर्श किया।"''पहले मेरी बातें सुनिये और फिर मेरे तन पर हाथ लगाइएगा।"

उसके बिखरे बाल, उसका तमतमाया चेहरा, उसकी काँपती और तड़पती हुई आवाज, मेघों-सा गरजता उसका दम्भ और श्वेत साड़ी से परिवेष्टित अग्नि-शिखा की तरह धधकती हुई उसकी शरीरयष्टि—अपने समन्वित रूप में क्रोध से भस्म होती हुई उस देवाङ्गना की भाँति लग रही थी जो सद्यः शाप देने के लिए तत्पर हो। उसने दहाड़ते हुए वे ही प्रश्न दुहराये जिसे उसने प्रतिकामी से पुछवाये थे, पर किसी के पास कोई उत्तर नहीं था। वह बार-बार पूछती रही, "...जो पहले ही स्वयं अपने आपको पराधीन कर चुका हो, जिसकी स्वतंत्रता छिन गयी हो वह अपनी पत्नी को दाँव पर कैसे लगा सकता है?"

द्रौपदी के तर्क अकाट्य थे। उसकी आवाज में भी तड़पन और विह्वलता थी। फिर भी लोगों का मुँह बन्द था, पर भीम से रहा नहीं गया। वह क्रोध में काँपता उठ खड़ा हुआ। उसने युधिष्ठिर को ही खूब सुनाया, यहाँ तक कह डाला कि आदिवासी जंगली और गँवार लोग भी, अपनी रखैल स्त्रियों तक को दाँव पर नहीं लगाते और तुम इतने नीच हो गये कि तुमने पांचाल-कन्या को दाँव पर लगा दिया।"

इतना कहते-कहते वह क्रोध से एकदम काँपने लगा था। उसने तड़पते हुए सहदेव से कहा,—"....जा अभी कहीं से आग ले आ।...मैं धर्मराज कहे जानेवाले इस व्यक्ति का वह हाथ ही जला दूँ जिससे उसने जुआ खेला है।"

भीम के मुख से इतना सुनकर सभी लोग स्तब्ध-से रह गये। मुझे स्वप्न में भी यह विश्वास नहीं था कि भीम, युधिष्ठिर को कभी इतना डाँट सकता है, पर युधिष्ठिर सिर नीचा किये चुपचाप सुनता रहा। ऐसा लग रहा था कि वहाँ युधिष्ठिर नहीं, बल्कि युधिष्ठिर का पुतला बैठा हो।

नाग का विष, जंगल की आग और भीम का क्रोध यदि नियंत्रित न किया जाय तो वह अनर्थ कर बैठता है। अर्जुन ने शीघ्र ही उसे शान्त करने की चेष्टा की,—"भइया, यह समय क्रोध करने का नहीं है।...दूसरे तो यही चाहते हैं कि हम इस विपत्ति में आपस में ही लड़ मरें।...तुम्हारे इस क्रोध से उन्हें कितना सुख मिला होगा, जरा सोचो तो।"

भीम एकदम शान्त हो गया। उसका क्रोध बादल की तरह गरजा और पानी की तरह बह गया। उसके क्रोध के समय द्रौपदी की तेजस्विता एक बार पुनः भभकी थी, किन्तु शान्त होते ही उसकी आकृति का रंग अचानक बदल गया। वह अत्यन्त निरीह और विकल-सी दीख पड़ी।

रह-रहकर मेरे मन में यह बात उठती थी कि मुझे इस अन्याय का विरोध करना चाहिए। किसी ने मुझसे यह भी कहा कि इस समय द्रौपदी रजस्वला है, शायद इसीलिए वह अपने पतियों के साथ द्यूत-क्रीड़ा में सम्मिलित नहीं हुई थी। ऐसी रजस्वला स्त्री को सभा में लाकर अपमानित करना स्वयं में अन्याय है। पर मेरी नीचता और स्वार्थ ने मेरी जबान पकड़ ली थी।

नीचता ? हाँ मेरी बहुत बड़ी नीचता थी कि पिता के प्रति अपनी प्रतिहिंसा मैंने पुत्री पर आरोपित कर दी थी। द्रौपदी का अपमान मुझे लगता था कि स्वयं द्रुपद का अपमान हो रहा है। मेरे मन में एक विचित्र प्रकार का सन्तोष था। इस नीचता की भी कोई पराकाष्ठा हो सकती है! आज मैं प्रायश्चित्त-स्वरूप ही इस घटना का उल्लेख कर रहा हूँ।

और स्वार्थ ? मेरी धमनियों में कौरवों का रक्त प्रवाहित था। उन्हीं की कृपा से मैं भिक्षाटन पर जीवन निर्वाह करनेवाला ब्राह्मण राजा हो गया

था। इसी से मेरी विद्या, मेरा विवेक और मेरा न्याय—सचमुच मेरे अपने नहीं थे। मेरे बिक जाने के बाद भी स्वयं कौरव-वंश में ऐसे लोग थे, जिनका विवेक इस स्थिति में भी मूक रहनेवाला नहीं था। उन्होंने द्रौपदी की ओर से भरी-सभा में न्याय की गुहार लगायी। इन्हीं में था धृतराष्ट्र का एक पुत्र विकर्ण। उसने भरी-सभा से पूछा—"क्या कारण है कि इतना बड़ा अन्याय होते देखकर आप लोगों ने चुप्पी साध ली है।""मैं उम्र में आप लोगों से छोटा हूँ, फिर भी बूढ़े और अनुभवी लोग जब अपना मुँह बन्द किये बैठे हैं तब बोलना ही पड़ता है। मेरा विश्वास है कि युधिष्ठिर को लोगों ने धोखा देकर चौसर खेलने के लिए बुलाया है। वे आरम्भ से ही खेलना नहीं चाहते थे। कभी उन्होंने ऋषि-वचनों का सहारा लिया और कभी अन्याय का, किन्तु बार-बार उन्हें खेलने के लिए अनावश्यक जोर दिया गया""दबाया गया।"

दुर्योधन बीच में ही चीखा,—"व्यर्थ की बकवाद मत कर, युधिष्ठिर कोई बच्चे थोड़े ही थे जो उन्हें दबाकर खेला दिया गया।

पर विकर्ण भी माननेवाला नहीं था। उसने अद्भुत शौर्य का परिचय दिया। "मुझे अपनी पूरी बात कह लेने दीजिए,""तब बोलियेगा।"

वह कहता गया,""और द्रौपदी? उसके प्रति तो सरासर अन्याय हो रहा है। द्रौपदी केवल युधिष्ठिर की पत्नी तो है नहीं। वह पाँच पतियों की पत्नी है, फिर युधिष्ठिर को ही उसे हारने का क्या अधिकार है? इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात वह है जिसे द्रौपदी ने बार-बार पूछा है और सभा मौन हो जाती रही है।""सचमुच जब युधिष्ठिर स्वयं को हार गये थे तब उन्हें द्रौपदी को दाँव पर लगाने का क्या हक था?""हम सब देख रहे थे। युधिष्ठिर की स्वयं की हार के बाद खेल एकदम समाप्त हो गया था, फिर भइया दुर्योधन के इशारे पर मामाजी ने पुनः द्रौपदी को दाँव पर लगाने के लिए युधिष्ठिर को उभारा। चौसर के खेलने में यह कहाँ का नियम है कि खेलाड़ी को दाँव पर लगाने के लिए उभारा जाय?"

विकर्ण की आवाज यद्यपि उतनी तेज नहीं थी, फिर भी उसकी ध्वनि में सत्य एवं न्याय की तेजस्विता थी। सभा में उपस्थित अधिकांश की सद्भावना

उसकी ध्वनि में मुखरित हुई थी। कुछ ने प्रत्यक्ष और कुछ ने परोक्ष रूप से विकर्ण का साधुवाद किया। अधर्म पर उतारू सभा में भी धर्म की रक्षा हो गयी। एक उल्लासमय कोलाहल सभा में तैर गया।

पर यह स्थिति बहुत देर तक नहीं थी। फनफनाता हुआ कर्ण खड़ा हो गया। उसने विकर्ण को बुरी तरह डाँटा,—"सभा में इतने वयोवृद्ध और बूढ़े बैठे हैं उनके बीच में तुम बढ़-बढ़कर बोल रहे हो। तुम्हें शर्म नहीं आती! सारे नियम, न्याय और अन्याय का ठेका, तुम्हीं ने उठा लिया है।

बेचारा विकर्ण कुम्हला गया। उसने एक विचित्र दृष्टि से मुझे देखा, जैसे वह कह रहा हो—आप मेरी सहायता कीजिए। न्याय, अन्याय के इस प्रश्न पर कुछ तो मुँह खोलिए।

मेरी तो विचित्र स्थिति थी। हर व्यक्ति न्याय के लिए मेरी ओर देखता था और मैं चुप था, एकदम चुप। जबान तो बन्द थी, पर मस्तिष्क सोचता गया, हृदय चीखता गया। मेरे समक्ष ऐसी विषम स्थिति थी कि एक क्षण भी वहाँ बैठना जैसे भार हो गया था। मैं उठा। दौड़ता हुआ अश्वत्थ मेरे पास आया,—"क्या कर रहे हैं?"

उसने सोचा, मैं विरोध करने के लिए खड़ा हो रहा हूँ। लगता है, जैसे अश्वत्थ को मेरे पीछे लगा दिया गया था कि मैं कुछ गड़बड़ न कर सकूँ, वह मेरा नियंत्रण करता रहे। कैसी विडम्बना है! पिता का नियंत्रण पुत्र करे!

मैंने जब बताया कि प्राकृतिक विवशता वश बाहर जा रहा हूँ तब वह आश्वस्त हुआ।

मैं सभा से उठकर सीधे उद्यान में चला आया। धूप ढल चुकी थी। उद्यान में कोई दिखायी नहीं दिया, न परिचारक, न प्रतिहारी और न माली ही। लगता है, सभी सभा-कक्ष की ओर चले गये थे।

कुछ समय तक चुपचाप यहाँ बैठा रहा। पक्षियों की चहचहाहट और फूलों की मुस्कराहट में मन की शान्ति खोजता रहा। करीब-करीब एक घड़ी समाप्त होने को आयी। सहसा जोर का कोलाहल सुनायी पड़ा। लगा, सभा-भवन में कोई अप्रत्याशित घटना घट गयी है। दिखायी तो नहीं पड़ता था,

पर लगा प्रासाद के बाहर से भीड़ का झोंका सभा-कक्ष की ओर बढ़ा। दूसरी ओर अन्तःपुर से कुछ परिचारिकाएँ उद्यान की ओर भागती आयीं।

पर मैं अपनी जगह से उठा नहीं। तन जैसे पथरा गया था, पर मन बड़ी तेजी से चक्कर काट रहा था, वह उस चलते हुए चक्र की भाँति था जो गति की चरम सीमा पर स्थिर दिखायी देता है।

मैं कोलाहल सुनता जा रहा था, वह बराबर बढ़ ही रहा था, किन्तु वह अचानक शान्त हो गया। लगा, जैसे चीखते मनुष्यों का किसी ने गला दबा दिया हो। कुछ अवश्य होगया है। उद्यान की ओर आयी परिचारिकाएँ पुनः अन्तःपुर की ओर लपकीं।

मेरी भी जिज्ञासा जागी, पर मैं टस-से-मस नहीं हुआ। उस सभा-कक्ष के माहौल से जैसे मुझे वितृष्णा हो गयी थी। सामने पुष्करिणी के कमलों को निहारता रहा। कुछ समय और बीत गया। अचानक बहुत सारे सियार बोलने लगे, गधे रेंकने लगे। मांसाहारी चील-कौओं के चीखने-चिल्लाने की मनहूस आवाजें आने लगीं। अरे यह तो बड़ा अशुभ है, मैंने सोचा और उद्विग्न हो गया।

तब तक पुलोमा और सुरेखा दौड़ी हुई उद्यान की ओर आयीं। इस बार उन्होंने मुझे झुरमुट में बैठा देख लिया और फिर मेरी ओर बढ़ती चली आयीं जैसे ढाल की ओर पानी बढ़ता चला आता है।

"अरे, आचार्यजी आप यहाँ बैठे हैं।...और वहाँ अनर्थ हो रहा है।"—पुलोमा घबरायी हुई बोली।

"उस अनर्थ का मेरे जीवन के लिए क्या अर्थ?" मैंने निरपेक्ष भाव से कहा,—"मैं तो कमलों को देख रहा हूँ। ये पंकिल जल में रहकर भी जल से अलग हैं।"

मेरी मनःस्थिति पर उन्हें विस्मय था कि इतनी संघर्ष और द्वन्द्व की स्थिति पर भी मैं शान्त हूँ। दोनों मुझे विस्फारित नेत्रों से देखती रहीं।

मैंने अपने चेहरे पर एक बनावटी मुस्कराहट चिपका ली और बोला,—"सोचता हूँ पुलोमा, क्या मैं इन कमलों जैसा नहीं हो सकता, जो पंकिल जल में रहकर भी पंक से अलग रहते हैं ?"

दोनों अवाक् मुझे देखती रहीं, कितनी विचित्र उनकी स्थिति थी। एक ओर धधकती आग उन्होंने देखी थी और दूसरी ओर मैं उनके लिए शीतल झरने के समान था। आग और पानी के संगम-स्थल पर प्रबल वाष्प-भरे कुंभ की भाँति पहले वे चुपचाप खड़ी रहीं, फिर अचानक फूट पड़ीं,—"आप यहाँ दार्शनिकों जैसी बातें करते हैं, उधर दुःशासन द्रौपदी को निर्वसन कर रहा था।"

"निर्वसन ! क्या कहती हो ?···क्या पागल हो गये हैं लोग ?···सचमुच अधर्म ही होनेवाला है ?"—मेरी मुद्रा अचानक बदल गयी।

"लगता तो ऐसी ही है, आचार्य। देखते नहीं हैं, गधे और सियार अचानक बोलने लगे हैं।" —पुलोमा ने कहा।

"तो क्या सचमुच द्रौपदी निर्वसन हो गयी ?"—मेरी जिज्ञासा अपने उत्कर्ष-बिन्दु पर थी।

"नहीं, ऐसा तो नहीं हो सका।"

"तब वह जोर का कोलाहल क्यों हुआ ?"

"भीम ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक, भरत वंश में बट्टा लगानेवाले इस दुरात्मा दुःशासन की छाती चीरकर इसके उष्ण रक्त से अपनी प्यास न बुझा लूँ तब तक भगवान मुझे सद्गति न दे।"—इतना कहकर पुलोमा चुप हो गयी, पर सुरेखा ने तुरन्त ही कहा,—"उसके साथ ही अपनी वेणी लहराते हुए द्रौपदी बोली थी कि जब तक इस नीच के रक्त से मैं अपने बाल न धो लूँ तब तक वेणी खुली रखूँगी।"

इन दोनों प्रतिज्ञाओं की विभीषिका ने मुझे भीतर-ही-भीतर कंपा दिया। "इसके बाद क्या हुआ ?"—मैंने पूछा।

"हुआ क्या ?···दुर्योधन ने कहा कि रस्सी जल गयी, पर उसकी ऐंठ अभी नहीं गयी।···खींच ले इसकी साड़ी और खोल दे इसकी ऐंठ।···दुःशासन ने

लपककर उसकी साड़ी का पल्लू पकड़ा ही था कि वह तड़पी और नितान्त भक्ति भाव से कातर हो बोली—"हे भगवान, यदि मेरे सतीत्व में जरा भी बल हो तो मेरी साड़ी खींचने का प्रयास करते ही इसकी भुजाएँ गलकर गिर जायें।···एकदम धधक रही थी द्रौपदी आचार्य।"

"फिर क्या हुआ ?"—मेरी जिज्ञासा विराम नहीं चाहती थी।

"दुःशासन, साड़ी पकड़कर एकदम हतप्रभ-सा हो गया ?···लगता है, द्रौपदी के प्रज्वलित व्यक्तित्व ने उस पर जादू कर दिया या अमंगलसूचक ध्वनियों ने उसे बिल्कुल घबरा दिया।"

"जो भी हुआ, भगवान ने लज्जा रख ली।"—मैंने एक सन्तोष की साँस ली, क्योंकि द्रौपदी मेरे नेत्रों के समक्ष सदैव पुत्रेष्टि यज्ञ की भभकती ज्वाला की भाँति आती थी, वह गन्दे नाले की भाँति कभी नहीं आयी। मेरी प्रतिहिंसा उसके अंह को पराजित करना चाहती थी, पर उसे अपमानित नहीं।

परिचारिकाएँ कुछ और कहें, मैं व्यग्रता में उठा और सभाकक्ष की ओर बढ़ने लगा।

पुलोमा ने ही बताया कि धृतराष्ट्र द्रौपदी की तेजस्विता से बहुत प्रभावित हुए और उसे बन्धन-मुक्त कर दिया, साथ ही, वरदान-स्वरूप उसके पतियों को भी मुक्त कर दिया गया और जीता हुआ सारा वैभव उन्हें लौटा दिया गया।"

"भला इतनी बुद्धि तो उन्हें आयी।"—मुझे आश्चर्य था कि मुश्किल से एक घड़ी मैं उद्यान में था, इतने कम समय में यह सब कैसे हो गया ?

पुलोमा ने ही बताया कि विदुरजी ने धृतराष्ट्र को बड़ा लथेड़ा।

"अरे विदुरजी का भला उन पर क्या प्रभाव पड़ता यदि गान्धारी ने उन्हें समझाया न होता। वह तो उठकर पहले ही भीतर चली आयी थी फिर अमंगलसूचक ध्वनियों से वह एकदम घबरा गयी। उसने महाराज को समझाया कि इस समय यदि नहीं चेता गया तो कौरव-वंश का नाश हो जायेगा।"

जो कुछ हुआ उससे मैं बड़ा प्रसन्न था। भगवान को मैं अनेक धन्यवाद दे रहा था। मैंने हँसते हुए कहा,—"चाहे जिस कारण से आयी हो, लगता है धृतराष्ट्र के नेत्रों में ज्योति आ गयी।"

"आ तो गयी है आचार्यजी, पर टिके तब तो।"—तुलोमा बोली और हँस पड़ी। उसकी हँसी का साथ हम लोगों ने भी दिया।

सब कुछ सामान्य हो गया। सारा अनुशासन और सारी कड़ाई छैलाकर एक नादान शिशु की तरह सो गयी। हम लोग अच्छी तरह अब एक-दूसरे से मिल सकते थे। कोई रोक-टोक नहीं था। मैं अपने अतिथि-गृह में कृपा से भी मिला और सुवर्चा से भी। कौरवों की नीचता को तो सभी धिक्कारते थे, पर युधिष्ठिर की सरलता भी आलोचना की सीमा से परे नहीं थी।

सब का विचार था कि जो कुछ हुआ अप्रत्याशित था, एक विपत्ति थी जो सहसा आयी थी और भगवान की कृपा से टल गयी, पर बूढ़े ज्योतिषी सुवर्चा की धारणा ऐसी नहीं थी, उसका सोचना था कि यह जो कुछ हो रहा है, सब ग्रह-नक्षत्रों के प्रकोप से ही हो रहा है। उसने अपनी काँपती अँगुलियों पर गणना करके खरखराते गले से बताया,—"…अभी यह कुछ नहीं है, अभी तो आपत्ति का बादल केवल गरजा है, जब बरसेगा और जब आसमान फटेगा तब देखना।"—पकी हुई बरौनियोंवाली बूढ़े की बड़ी-बड़ी आँखों से अनुभव की गरिमा झाँकने लगी, जिसमें मैं भी कुछ क्षणों तक खो गया। मैं थोड़ी देर तक मौन बैठा रहा। जब चलने लगा सिर्फ इतना ही बोला,—"मुझे तो बस वर्तमान दिखायी देता है पण्डितजी। मेरे पास भविष्य देखने की आँखें नहीं हैं।"

"भविष्य आँखों से नहीं, गणना से दिखायी देता है आचार्य।"—बूढ़े की विचित्र ढंग से काँपती हँसी बढ़ते हुए अँधेरे में कुछ दूर जाकर खो गयी।

मैं वहाँ से उठकर अपने कमरे में चला आया और चुपचाप अपनी शय्या पर लेट रहा। थोड़ी देर बाद ज्योति-पात्रों में दीप जला दिये गये।

रात गाढ़ी होने लगी। औपचारिक दृष्टि से ही सही, पर पाँचों भाई पाण्डव मुझसे मिलने आये। सभी ने मेरा चरण-स्पर्श किया। मैंने आशीर्वाद

भी दिया, पर मन में बड़ा दबा जा रहा था। मेरे अन्तर में एक अपराधी की चेतना थी जो भीतर-ही-भीतर मुझे कोस रही थी और धमकाते हुए कह रही थी कि यदि इन लोगों ने पूछा कि इतने गम्भीर अन्याय के समय भी आप मौन थे, मुझे आप से तो ऐसी आशा नहीं थी, तब तुम क्या उत्तर दोगे ?"

पर ऐसी स्थिति नहीं आयी। आशीर्वाद ले, सौजन्यपूर्वक, बिना कुछ कहे-सुने, वे चले गये। परिस्थितियाँ भले ही मुझे चाहे किसी पक्ष की ओर ले जायँ, पर इतना तो निर्विवाद मैं कहूँगा कि पाण्डवों में कौरवों से कहीं अधिक मानवता और शिष्टता है।

दूसरे दिन जब सोकर उठा एक घड़ी रात बाकी थी। सृष्टि अपनी काली चादर में लिपटी पड़ी थी। आकाश के तारे झिलमिला रहे थे। मेरे उठने की आहट लगते ही सुवर्चा मेरे कक्ष में चले आये। मैंने वृद्ध का चरण-स्पर्श किया। आशीर्वाद देना तो दूर रहा उसने मेरा हाथ पकड़कर पूरब के आकाश की ओर संकेत किया। उधर मंगल चमक रहा था। वे बोले,—"वो देख वो, युद्ध का नक्षत्र हस्तिनापुर पर प्रसन्न दिखायी देता है।"

बूढ़े की विह्वलता पर मैं मुस्कराकर रह गया। लगता है, रात को उसे नींद नहीं आयी थी और रात-भर वह गणना करता ही रह गया था।

जब मैं सन्ध्या-पूजन से निवृत्त हुआ, तब धूप निकल आयी थी। जलपान करते समय ही मुझे पता चला कि पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ की ओर प्रस्थान कर दिया है। जलपान समाप्त कर मैंने चलने का निश्चय किया। इसकी सूचना परिचारक को दी और कहा,—"मेरे सारथी से कहो कि रथ सज्जित कर ले आये।"

सारथी तो नहीं आया पर थोड़ी देर बाद पुलोमा दौड़ी हुई मेरे पास आयी। लगता है, परिचारक ने सूचना सारथी को न देकर पुलोमा को दी थी।

पुलोमा ने आते ही कहा,—"सुना है, आप जा रहे हैं।"

"सोचता तो हूँ।"

"पर इस समय आप जा नहीं सकते।"

"क्यों ? क्या इस समय भी कल जैसा अनुशासन है ?"

"कल जैसा नहीं, बल्कि आज जैसा ?"—वह मुस्करायी । मैं कुछ समझ नहीं पाया ।

उसने बड़ी गम्भीरता से बताया कि रात में परिस्थिति एकदम बदल चुकी है । शकुनि, कर्ण और दुर्योधन ने धृतराष्ट्र को फिर उल्टा-सीधा समझाया है । उन्हें पुनः जुए के खेल के लिए राजी कर लिया है । इस बार ऐसा खेल होगा जिसमें केवल एक बार पाँसा फेंका जायेगा । जो पक्ष हारेगा, उसे बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास भोगना पड़ेगा ।

"भाड़ में जाये तुम्हारे हस्तिनापुर की यह माया ।"—मैं झुंझलाया, "...किन्तु आज तो यह खेल होता नहीं है ।...सुना है, पाण्डव इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान कर चुके हैं ।"

"...उन्हें मार्ग से ही लौटा लाने के लिए दूत भेज दिये गये हैं ।"—पुलोमा बोली ।

"...इससे क्या ? मैं अब यहाँ नहीं रुकूँगा । मेरा मन बहुत ऊब गया है ।

"...राजकीय आदेश है कि जब तक पाण्डव लौटकर अतिथि-गृह में पूर्ववत् नहीं आ जाते तब तक कोई भी हस्तिनापुर नहीं छोड़ेगा ।"

"विचित्र है, यह राजकीय आदेश ! आखिर इस आदेश के पीछे प्रयोजन क्या है ?"

"प्रयोजन स्पष्ट है, प्रासाद का रात-भर का जागरण लोगों को बता चुका है कि पुनः द्यूतक्रीड़ा का षड्यंत्र होगा । बात बहुत फूट गयी है । पूरी सतर्कता बरती जा रही है कि कोई पाण्डवों को सावधान न कर दे ।"

"किन्तु इससे मुझसे क्या मतलब ? मैं तो सीधे अहिच्छत्र जा रहा हूँ ।"

पुलोमा चुपचाप कुछ समय तक सोचती रही फिर चली गयी । जाते समय मैंने उससे कहा,—"मेरे सारथी को भेज देना ।"

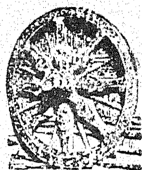
उस समय तो वह कुछ नहीं बोली । थोड़ी देर में फुदकती हुई आयी ।—"अच्छा अब आप जा सकते हैं ।...किन्तु इसी शर्त पर आपको अनुमति मिली है कि आप सीधे अहिच्छत्र जायेंगे ।"...आपका सारथी रथ लेकर आ रहा है ।

यह सारा माहौल ऐसा था जिसमें मैं घुटा जा रहा था, रथ आते ही मैं सीधे अहिच्छत्र की ओर चल पड़ा।

मैंने अनुभव किया कि दो राजकीय घुड़सवार मेरे पीछे-पीछे आ रहे हैं। वे तब तक मेरा पीछा करते रहे जब तक मैं स्पष्ट रूप से हस्तिनापुर के राज-पथ को छोड़कर अहिच्छत्र के मार्ग पर मुड़ नहीं आया।

थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर मुझे वह पागल—आदित्य दिखायी दिया। वह मारे खुशी में अपने हाथ हवा में हिला रहा था। उस नादान को यह नहीं मालूम था कि उसकी यह प्रसन्नता सन्ध्या तक पुनः शोक में डूब जायेगी।

● ● ●



हम सदा से ही दूसरों के व्यवहार को देखकर उसके सम्बन्ध में निष्कर्ष लेते आये हैं, पर हमारे सारे निष्कर्ष गलत सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि हम नहीं जानते कि वे किस कारण और किस संदर्भ में ऐसा व्यवहार करने को प्रेरित हुए हैं।

किसी के सम्बन्ध में निष्कर्ष लेना ही हो तो उसके अन्तर में झाँकना होगा, उसके अन्तर-केन्द्र पर घट रही घटनाओं को देखना होगा। किन्तु हमने,—विशेषकर मैंने द्रौपदी के मामले में ऐसा नहीं किया जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके सम्बन्ध में मेरी धारणा सदा गलत रही। व्यर्थ में उसके प्रति घृणा पाले रहा। उसके साथ घोर-से-घोर अन्याय होने दिया और एक तटस्थ दर्शक की भाँति उपेक्षा भाव से देखता रहा तथा मन को समझाता रहा कि यह मेरी लाचारी है, विवशता है।

यह कैसी है लाचारी जिसके घेरे में व्यक्तित्व अपना विवेक खो बैठे ? यह कैसी है विवशता जिसके अन्धकार में पुरुषत्व चुपचाप सो जाये और मनुष्य एक कठपुतली मात्र रह जाये ?

ऐसे ही पश्चात्ताप की आग में जब मैं भीतर-ही-भीतर सुलगने लगता, मौन हो एकान्त में कुछ क्षण बिता देता, तब कृपी अपने सहज भाव से वाणी की शीतलता मुझ पर छिड़कते हुए कहती,—"अब सोचने से क्या होगा ? चिड़िया खेत चुग चुकी है।"

सचमुच अब पछताना-भर ही हाथ रह गया है।

बात यह हुई कि दूसरी बार भी जुए के खेल में पाण्डव ही हार गये, फलतः उन्हें बारह वर्ष के लिए वन तथा एक वर्ष के लिए अज्ञातवास के निमित्त जाना पड़ा। वे हस्तिनापुर से इन्द्रप्रस्थ नहीं लौटे बल्कि सीधे यहाँ से वन चले गये।

सुना, जब वे वन जाने लगे तब आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उन्होंने मुझे भी खोजा। जब मैं नहीं मिला, तो बेचारे बड़े खिन्न हुए। द्रौपदी ने कहा था—"धर्म, कर्म, भगवान की कृपा और गुरु के आशीर्वाद का विपत्ति के समय बड़ा भरोसा रहता है।...और ऐसे समय गुरुजी हमें छोड़कर चले गये।" लोग बता रहे थे कि इतना कहते-कहते बेचारी रो पड़ी थी, तब पाण्डवों की आँखें भी नम हो आयी थीं।

लोगों से ही मैंने सुना था कि बाजी हारने पर उन्हें उतना दुःख नहीं हुआ था जितना आपको न देखकर उन्हें हुआ। द्रौपदी ने तो यहाँ तक कहा कि मुझे अहिच्छत्र चलकर उनका आशीर्वाद ले लेना चाहिए।

किन्तु युधिष्ठिर इस पक्ष का नहीं था। उसका कहना था कि जुए की शर्त के अनुसार हमें अरण्य चलना चाहिए, अहिच्छत्र नहीं।

"......अहिच्छत्र हम ठहरने के लिए थोड़े ही चल रहे हैं। हम तो गुरु का आशीर्वाद लेने चल रहे हैं। वहाँ से वन चले चलेंगे।"–द्रौपदी ने कहा था।

"सब कुछ तो चला गया पांचाली, अब केवल एक बात ही बची है। तू चाहती है कि मैं बात का भी धनी न रहूँ।"—लोगों का कहना था कि इतना कहते-कहते युधिष्ठिर का गला भर आया था। उन्होंने अपने को बहुत संभाला और फिर धीरे से कहा—"नियमतः अब हमें एक क्षण के लिए भी नगरीय जीवन के निकट नहीं जाना चाहिए। आरण्यक जीवन ही अब हमारा जीवन होना चाहिए।"

अर्जुन ने भी युधिष्ठिर का समर्थन किया था—"भय्या, ठीक कहते हैं। अब हमें वन में ही चलना चाहिए। रह गयी गुरु के आशीर्वाद की बात! यदि हमारी निष्ठा गुरु-चरणों में होगी, तो उनका आशीर्वाद सदा हमारे साथ रहेगा।"

इतने अन्तर्मंथन के बाद वे वन की अनचीन्ही और अनजानी डगरों पर आगे बढ़े थे।

कुन्ती को विदुर ने अपने पास रोक लिया था। वह बूढ़ी हो चली है, उसका जीवन स्वयं एक भार है। वह अपने पुत्रों पर भार न बने शायद इसी-

लिए उन्हें समझा-बुझाकर विदुर ने अपने पास रहने के लिए सहमत कर लिया था।

मैं बहुत चाहता था कि एक बार कुन्ती से भेंट करूँ, किन्तु मारे संकोच के जा नहीं पाता था। सोचता था कि किस मुँह से उसके पास जाऊँगा ? क्या कहूँगा, यदि उसने पिछली बातें छेड़ दी तो ?

सोचा, कृपी को साथ लेता चलूँ, कोई विषम स्थिति आयेगी, तो वह संभाल लेगी। इसी सोच-विचार में दो-चार दिन और बीत गये।

एक दिन प्रातःकाल अग्निहोत्र से लौटने पर मैंने कृपी को कक्ष में बुलाया। कटकटाता जाड़ा था। सूरज कुहरे के कम्बल से ढँका अब भी सो रहा था। यद्यपि दिन अच्छी तरह निकल आया था। गलन अत्यधिक थी। तीर-सी सनसनाती हवा काटने को दौड़ती थी। दीवारों में बने अग्निस्थलों के धूमहीन जलते हुए अंगारों से कक्ष गरम हो रहा था। सबेरे के जलपान के साथ ही बातें आरम्भ हुईं।

"सोचता हूँ, आज हस्तिनापुर तुम्हें भी लेता चलूँ।"—मैंने कहा

मैं उसे अपने साथ कभी भी नहीं ले जाता था, आज अचानक मेरे मुख से साथ चलने का प्रस्ताव सुनकर, वह बड़े विस्मय में पड़ी। "मुझे ?"—वह बोली—"लगता है, आज सूर्य पश्चिम में उदित हुआ।"

"हो सकता है, क्योंकि आज वह कुहरे से ऐसा ढँका है कि पता नहीं चलता है कि वह पूरब में है या पश्चिम में।"—इतना कहते ही मेरी हँसी कमरे में बिखर गयी।

फिर मैंने बातचीत के सिलसिले में बड़ी सावधानीपूर्वक उसके ले चलने का प्रयोजन बताया। वह हँस पड़ी और बड़े अभिमान-भरे स्वर में बोली—"शस्त्र और शास्त्र जहाँ दोनों असफल होने लगते हैं, तब नारी की बुद्धि ही काम आती है।"

"काम नहीं आती, वरन् हम पुरुषों की महत्ता है कि उसका उपयोग हम लोग कहीं-न-कहीं कर लेते हैं।"—मैंने मुस्कराते हुए कहा।

"अच्छा जी, तो आप लोग हम लोगों का उपयोग कर लेते हैं, वर्ना हम किसी काम के नहीं है।"—मैं पुनः जोर से हँस पड़ा। तब तक एक नेवला

पता नहीं कहा से मेरे कक्ष में घुस आया और हम दोनों के बीच से उछलता हुआ निकल गया। कृपी हड़बड़ाकर खड़ी हो गयी और बोली—"हम दोनों के बीच से होता हुआ पूरब से पश्चिम गया है। शुभ होगा या अशुभ ?"

"यह तो मैं नहीं जानता, पर लोग कहते हैं कि ऐसी स्थिति में यात्रा करनी पड़ती है।"—हम दोनों पुनः हँस पड़े।

बातों का क्रम दूसरी ओर मोड़ते हुए कृपी ने कहा—"वनवास की घटना के बाद तो आप कई बार हस्तिनापुर गये।"

"हाँ, गया तो कई बार, पर विदुरजी से मिल नहीं पाया।"

"फिर क्या करते हैं वहाँ जाकर ?"

"जलपान करता हूँ, भोजन करता हूँ, गप्पें मारता हूँ और चला आता हूँ।"—एक साथ ही मैंने इतने सारे काम हँसते हुए गिना दिये।

"इतने सारे काम कर डालते हैं आप !" व्यंग्य-भरी मुस्कराहट के साथ उसने पूछा—"गप्पों के बीच कभी पाण्डवों की भी चर्चा छिड़ती है ?"

"नहीं, बिल्कुल नहीं।"⋯⋯इस समय कौरवों को पाण्डवों के विषय में चर्चा छेड़ने का अवकाश भी नहीं है।⋯⋯सब-के-सब हर्षातिरेक से विह्वल हैं। उनके मन में वसन्त की मादकता है, मानो पाण्डव तेरह वर्ष के लिए नहीं वरन् राज-पाट छोड़कर सदैव के लिए चले गये हैं।

"क्या धृतराष्ट्र भी कुछ नहीं कहते ?"

"बिल्कुल नहीं। वे बड़े गम्भीर रहते हैं। कुशल-क्षेम के अतिरिक्त तो उनसे कोई बात ही नहीं होती।⋯इधर वह बूढ़ा कुछ खोया-खोया-सा रहता है।"

"तो क्या वे राज-काज में भी रुचि नहीं लेते ?"

"मेरा ख्याल है कि वह बहुत कम लेते हैं।"

"तब काम कैसे चलता होगा ?"

"क्या उनके पुत्र कम योग्य हैं ?"—मैंने मुस्कराते हुए कहा,—"⋯अरे, सबसे बड़ा राजा तो इस समय वहाँ शकुनि बैठा है। हस्तिनापुर का एक पत्ता भी आज कल उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं हिल सकता।"

इसके बाद कृपी चुप हो गयी। अग्नि-पात्र में जल रहे अंगारे की ओर वह एकटक देखती रही। फिर दार्शनिकों जैसी मुद्रा में बोली—"पश्चात्ताप वह नदी है जिसमें बाढ़ अन्याय की बरसात के बाद आती है। अभी तो धृतराष्ट्र उसमें डूब-उतरा रहा है।...एक समय ऐसा भी आयेगा जब वह डूब मरेगा।"

"अरे उसके डूब मरने के लिए चुल्लू-भर पानी बहुत है।"—यह पतली आवाज सहसा द्वार की ओर से आयी थी। हम दोनों की दृष्टि अचानक उधर खिंच गयी। वहाँ पुलोमा खड़ी मुस्करा रही थी।

"क्षमा कीजिएगा, मैं बिना अनुमति लिये कक्ष में घुस आयी हूँ।"—पुलोमा बोली।

"...और घुस ही नहीं आयी हो, वरन् हमारी सारी बातें भी छिपकर चोरों की भाँति सुनती रही हो।" कृपी ने मुस्कराते हुए कहा।

"उसके लिए भी क्षमाप्रार्थिनी हूँ।"

पुलोमा आकर अग्नि-पात्र के समक्ष तन गर्म करने के लिए खड़ी हो गयी। वह परिवार के सदस्य जैसी हो गयी थी। हस्तिनापुर से जब उसका मन ऊबता था, वह सीधे अहिच्छत्र चली आती थी, किन्तु कौरव परिवार के बहुत कम लोग इस तथ्य को जानते थे। जब कोई पूछता कि तेरा अपना सगा तो कोई नहीं है, तू कहाँ हफ्तों बिता देती है तब वह बड़े विश्वास के साथ बता देती कि मेरे एक दूर के चाचा लगते हैं वहीं जाकर मनफेर आती हूँ।

इस समय वह लम्बे अरसे के बाद आयी थी। मैंने सोचा, कोई विशेष बात अवश्य होगी। जिज्ञासावश बोल ही पड़ा,—"इस ठिठुरते मौसम में बड़े सबेरे चली, पुलोमा।"

"क्या करती, दिन निकलने के बाद हस्तिनापुर से निकलना बड़ा मुश्किल हो जाता है, कोई-न-कोई काम अवश्य ही सौंप दिया जाता है, अतएव रात में ही आमात्य से अनुमति ले ली थी और सूरज निकलने के दो घड़ी पूर्व ही चल पड़ी?"

"कोई विशेष बात तो नहीं?"

पहले उसने झटके में कह तो दिया 'नहीं' पर शीघ्र ही बोल पड़ी,—"हाँ, हाँ, है।"—और फिर दाहिने हाथ की मुट्ठी हिलाकर पाँसा फेंकने की मुद्रा में बोली,—"वह चला गया।"

उसकी इस नाटकीय अभिव्यक्ति से हम सब हँस पड़े, फिर आश्चर्य व्यक्त करते हुए मैं ही बोला—"शकुनि चला गया?...भला यह कैसे हो सकता है?"

"लगता है साले-बहनोई में टक्कर हो गयी।"—कृपी ने कहा।

"नहीं, ऐसा नहीं हुआ, बल्कि भाई-बहन में टक्कर हो गयी।"—पुलोमा ने बताया,—"बात यह हुई कि मामा की राय थी कि वनवास के समय पाण्डवों के पीछे सदा गुप्तचरों को लगाये रखना चाहिए, इससे उनके गति-विधि की जानकारी हमें होती रहेगी और वनवास काल बीतने के बाद अज्ञातवास में हम उनका पता आसानी से लगा सकेंगे।"

"बात समझदारी की की उसने।...सलाह बुद्धिसंगत थी।"—मैंने कहा।

"पर न्यायसंगत नहीं थी।"—कृपी बोली।

"यही विचार तो गांधारी का था। उसने स्पष्ट कहा,—"इतना सब कुछ कर लेने के बाद भी आप लोगों का मन नहीं भरा?...अब पाण्डवों के पीछे गुप्तचर लगाना सरासर अन्याय है।" पुलोमा ने बताया।

"तब इसके बाद क्या हुआ?"

"हुआ क्या? बात बढ़ गयी....और आप तो जानते ही हैं, गांधारी हर बात में अपना टाँग नहीं अड़ाती, पर जब अड़ा देती है तब उसकी टाँगे अंगद के चरण हो जाती हैं।"

"शकुनि ने अपनी बहन का विरोध नहीं किया?"—मैंने पूछा।

"क्यों नहीं किया? उसने अपने ढंग से विरोध किया और कहा कि मैं तो आप के हित की बातें करता हूँ, इसमें कोई मेरा लाभ थोड़े ही है।"

"तब?"

"पहले तो गान्धारी सुनती रही, सुनती रही। फिर अचानक हमने देखा जैसे उसके शरीर में कराला काली का आवेश हो आया। वह तड़पते हुए बोली—"कृपया आप हमारे हित और अहित की बात सोचना बन्द कर

दीजिए।"—इतना सुनना था कि शकुनि मंत्रणा-शिविर से झल्लाता हुआ बाहर निकल आया···और सुना है कि इस घटना के दूसरे ही दिन वह हस्तिनापुर से कहीं चला गया।"

"धृतराष्ट्र ने उसे रोका नहीं ?"

"धृतराष्ट्र तो अब राज-काज में बिल्कुल रुचि नहीं लेते। वे उदासीन-से रहते हैं। आँखे तो उनकी भगवान ने ही बन्द कर दी थी, अब उन्होंने अपने कान भी बन्द कर लिये हैं।"

"चलो अच्छा ही हुआ। संसार के सभी झंझटों की जड़ में आँख और कान ही हैं। अब धृतराष्ट्र अवश्य वीतरागी हो जायेंगे।"—इसके साथ ही एक हल्की-सी हँसी वातावरण में तैर गयी।

इसी बीच प्रतिहारी ने आकर स्मरण दिलाया कि प्रधान दण्डनायक को आपने समय दिया है।

"क्या वे आ गये हैं ?"

"जी, महाराज !"

"तब उनसे कहो कि आज समय नहीं दे पाऊँगा।"

प्रतिहारी चला गया। मैंने पुलोमा से फिर पूछा—"यह घटना कब की है ?"

"परसों की।"

"तभी तुम्हारे पेट में पानी नहीं पचा। तुम बताने चली आयी !"—

उसके व्यक्तित्व की यह सत्यता इतने निरपेक्ष ढंग से उद्घाटित हुई थी कि वह झेंप-सी गयी और भीतर-ही-भीतर मुस्कराते हुए सिर नीचा किये रही।

"अच्छा एक बात बताओ।"— मैंने कहा— "यह सब विदुरजी को मालूम है या नहीं ?"

"यह तो नहीं कह सकती क्योंकि विदुरजी इधर बहुत दिनों से प्रासाद में नहीं आये।"

"हो सकता है वह शकुनि से नाराज हों।"—कृपी ने कहा।

"हो सकता है।"—पुलोमा ने कृपी का समर्थन किया और बताया— "आज कल सुलक्षणा का स्वास्थ्य ठीक नहीं है।"

"क्यों ? क्या हो गया उस बेचारी को ?"—सुलक्षणा का नाम सुनते ही पता नहीं मेरे मन में कैसी सिहरन होने लगती है।

"उसे निरन्तर ज्वर बना रहता है।"

यों तो मैं विदुरजी के यहाँ चलने का कार्यक्रम बना ही चुका था, फिर भी मेरे मन ने कहा—चलो, चलने का अच्छा बहाना मिला। मैंने पुलोमा से कहा—"सोचता हूँ, आज कृपी को लेकर उनके यहाँ होता आऊँ।"

"अवश्य जाइए। पर प्रासाद में भी जाइएगा क्या ?"—पुलोमा ने पूछा।

"क्यों ? राजप्रासाद में कोई खतरा है क्या ?"

"ऐसी कोई बात तो नहीं है।"—पुलोमा सोचते हुए बोलती रही—"इधर आप बहुत दिनों से प्रासाद नहीं गये हैं, आज अचानक पहुँचेंगे तो लोग यही कहेंगे कि कल ही मामा से खटपट हुई और आज ही आचार्यजी राजनीति की नयी गंध लेने चले आये।"

बड़ी नाटकीय है पुलोमा। बोलते समय ऐसे हाव-भाव करती है कि कुछ न पूछिये। 'गंध लेने' कहते समय उसने इस ढंग से नाक बिचकाया कि हमें हँसी आ गयी।

मैं जब कक्ष के बाहर निकला दिन काफी चढ़ आया था। सूरज अपने कुहरे का कम्बल समेट चुका था।

विदुर के आवास के बाहरी उद्यान में जब मेरा रथ प्रविष्ट हुआ दिन के तीसरे प्रहर की नम और शीतल हवा के झोंकों ने हमारा स्वागत किया। मट-मैले रूई के ढेर-के-ढेर नभ में उड़ते दिखायी दिये। पौष के बादलों से घिरा आकाश धीरे-धीरे पसीजने लगा था।

मैं सच बताऊँ, विदुर के समक्ष जाने का मेरा साहस नहीं होता था। मुझे सदैव द्यूत-सभा का वह दृश्य याद आ जाता था जिसमें वह मेरा समर्थन पाने के लिए मेरी ओर देख रहे थे और मैं चुप था। मैंने कृपी को ही आगे-आगे चलने

का इशारा किया। न तो अतिथि-कक्ष में और न प्रतीक्षा-कक्ष में ही कोई दिखायी दिया। मैंने एक चाकर से पूछा। उसने शयन-कक्ष की ओर संकेत किया। बिना किसी हिचकिचाहट के कृपी भीतर घुस गयी और पीछे-पीछे मैं भी था।

सभी लोग इसी कक्ष में थे। सुलक्षणा की कृशकाया शय्या पर रजाई के नीचे पड़ी थी। सिरहाने पलंग पर ही विदुरजी बैठे थे। पलंग के मध्य भाग से कुछ नीचे, पैर की ओर काष्ठ के ऊँचे आसन पर कुन्ती बैठी थी। उसी के निकट धधकते अँगारों से भरा एक अग्निपात्र रखा था। उसी में कुन्ती अपने हाथ और पैर सेंक रही थी। हम लोगों को देखते ही वह उठ खड़ी हुई। हड़-बड़ाहट में उसकी साड़ी अग्नि-पात्र में जाते-जाते बची। विदुरजी ने भी खड़े होकर ही हमारा अभिवादन किया।

यथानियम कुन्ती ने हमें प्रणाम किया और कृपी के पैर छुए।

"क्षमा कीजिएगा। कदाचित् आपको मालूम नहीं है कि मैं खड़ी होने में असमर्थ हूँ।"—सुलक्षणा लेटी-लेटी ही प्रणाम करते हुए बोली। उसकी प्रभा-पूर्ण आँखें हँस रही थीं।

मैं कटकर रह गया। मुस्कराते हुए बोला—"अब कैसी तबीयत है, भाभी?"

"भला देवरजी को भाभी की याद तो आयी! मैं तो सोच रही थी कि पाण्डवों के वनवास के साथ-ही-साथ आपका भी हस्तिनापुर में प्रवेश वर्जित कर दिया गया क्या?"

मैं कुछ कहूँ इसके पूर्व ही विदुरजी ने कहा—"भला इनके प्रवेश पर क्यों रोक लगेगी। इन्होंने उन लोगों के मन के विरुद्ध क्या किया है?"

विदुरजी ने कहा सत्य ही था, पर चोर का जी आधा। मुझे लग रहा था कि जो मैंने विदुरजी का समर्थन नहीं किया था वह उसी पर बोली बोल रहे हैं। मैं भीतर-ही-भीतर दबा जा रहा था। तब तक परिचारक दो ऊँचे और सुन्दर काष्ठ-आसन ले आया। हम लोग उन्हीं पर बैठ गये। कुन्ती ने अग्निपात्र हमारी ओर बढ़ा दिया, किन्तु वह कुछ बोली नहीं एकदम शान्त थी। उसकी

दृष्टि भी हमारी ओर नहीं थी, वह सुलक्षणा की ओर मुँह करके बैठी थी, मानो मेरी गम्भीर उपेक्षा कर रही हो। श्वेत साड़ी से लिपटा खुले बालोंवाला उसका गौरवर्ण मन्दिर के दीप की भाँति देदीप्यमान और पवित्र था।

"आखिर क्या हो गया आपको ?"—एक क्षण के लिए व्याप्त गम्भीर मौन को अन्त में हमने ही भंग किया।

"क्या बताऊँ, ज्वर ने ऐसा पकड़ा है कि छोड़ता ही नहीं है।"

"इसमें ज्वर बेचारे का क्या दोष ? आपका शरीर ही ऐसा है कि जो पकड़ लेगा छोड़ेगा ही नहीं।" —इतना कहते हुए मैं ठहाका मारकर हँसा। सुलक्षणा भी खिलखिला पड़ी, पर विदुर और कुन्ती पर इसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। उनकी गम्भीरता ने बातों के इस क्रम को भी तोड़ दिया।

थोड़ी देर बाद सुलक्षणा ही बोली—"लगता है, आज सूरज पश्चिम की की ओर उगा है।"

"उगा तो नहीं था, पर इस समय अवश्य पश्चिम की ओर झुक गया है।" —मैंने कहा और समझ गया कि सुलक्षणा क्या कहनेवाली है।

"...जो तुम आज कृपी को साथ लेकर चले हो।"

"हाँ...तुम्हारी अस्वस्थता का समाचार जब इन्होंने सुना तो बोली, मैं भी देखने चलूँगी।"

"चलो अच्छा हुआ, जो इसी बहाने भेंट हो गयी।"

नितान्त औपचारिक बातें बहुत देर तक चल नहीं सकीं। मैंने अनुभव किया कि मैं विदुर और कुन्ती से बहुत दूर हो गया हूँ या दूर कर दिया गया हूँ। मैं समझ नहीं पा रहा था कि बातें शुरू करूँ, तो कैसे करूँ ? अन्त में लाचार होकर कहना ही पड़ा,—"मुझसे कोई भूल हो गयी हो तो क्षमा कीजिएगा।"

अब कुन्ती ने मेरी ओर देखकर पुनः मुँह फेर लिया।

विदुरजी बोले,—"...भाई, इसमें तुम्हारी क्या गलती है ? मनुष्य तो समय की धारा में बहनेवाला एक ऐसा जीव है जो बहुत कम धारा के विपरीत हाथ-पैर मारता है।...इस समय धारा ही ऐसी बह रही है कि हम सब उसमें बहे चले जा रहे हैं।"

इसके बाद फिर एक लम्बी चुप्पी हो गयी।

अचानक पूर्व के वातायन ने पंख फड़फड़ाये। हवा का तेज झोंका आया। किसी परिचारक को बुलाकर वातायन के दरवाजे बन्द न कराकर, विदुरजी स्वयं उठे। उसे बन्द किया और कुछ समय के लिए बाहर चले गये।

थोड़ी देर बाद नितान्त गम्भीरता से सिर नीचा किये हुए ही कुन्ती बोली,—"आपके शिष्य वन जाते समय बड़ी व्यग्रता से आपको स्मरण कर रहे थे।"

"जी हाँ, पूरी सूचना मुझे मिली है।"—पर मैं क्या करता? मुझसे अन्याय देखा नहीं गया। मैं उस दिन प्रातःकाल ही हस्तिनापुर से चल पड़ा था।

"देखा तो बहुतों से नहीं गया, पर किसी ने जबान नहीं खोली।...यदि विदुरजी का साथ कुछ वरिष्ठ लोगों ने दे दिया होता, तो निश्चित था कि परिणाम कुछ दूसरा ही होता।"—भर्राये स्वर से कहती-कहती बायीं केहुनी से पलंग टेकते हुए कुन्ती ने अपना सिर पकड़ लिया।

"कहने को यह बात कही अवश्य जा सकती है, पर परिणाम अन्ततोगत्वा वही होता जो हुआ है, क्योंकि वरिष्ठ लोगों की आवाज भवितव्यता की धारा को मोड़ नहीं सकती थी"—कृपी ने मुझे संभाला। उसे साथ ले आने की उपयोगिता का मैंने अनुभव किया।

मैंने सुलक्षणा की ओर देखा और उसके मुख पर उभरती रेखाओं से स्पष्ट लगा कि वह नहीं चाहती कि इस माहौल में इस तरह की बात चलायी जाये, उसने समझाते हुए ही कहा—"...सही बात है बहन, भवितव्यता को हम रोक नहीं सकते,...जो भगवान करता है, ठीक ही करता है। सम्भव है, पाण्डव अब और अधिक शक्तिशाली और समर्थ होकर हमारे सामने आयें, क्योंकि अन्याय सहने में मानवीय शक्तियों का विकास होता है।"

तब तक किसी वृद्ध को साथ लेकर विदुरजी पुनः कक्ष में प्रविष्ट हुए और सुलक्षणा के कथन का उत्तर देते हुए बोले—"यदि अन्याय सहने में शक्ति का विकास होता तो वधिक के परशु के तले पड़ी हुई गाय संसार में सब से अधिक शक्तिशालिनी होती।"

इसके बाद बात बढ़ाना हमने उचित नहीं समझा। मैं मन-ही-मन अनुभव करने लगा कि कुन्ती और विदुर मुझसे सन्तुष्ट नहीं है।

शीघ्र ही मुझे पता चला कि विदुर के साथ आया वह वृद्ध व्यक्ति मांत्रिक है, जो मन्त्र के प्रभाव से सुलक्षणा का ज्वर उतारने का प्रयत्न करेगा। उसने अपने झोले में से कुछ जड़ियाँ निकालीं। तुलसी की पत्तियाँ, बेलपत्र और एक मिट्टी का बर्तन मँगवाया। हम लोगों को संकेत कर उसने पलंग से दूर हटा दिया और स्वयं अग्निपात्र के निकट आकर खड़ा हो गया। कुछ देर मौन खड़ा रहा, फिर मन्त्र पढ़-पढ़कर अग्नि में कुछ डालने लगा। थोड़ी देर तक ऐसा करता रहा।

हम लोग चुपचाप खड़े उस व्यक्ति का 'करतब' देख रहे थे। सुलक्षणा के अधरों में मुस्कराहट बन्द थी। उसे देखने से ऐसा लग रहा था, मानो वह सोच रही हो कि जिस ज्वर को बड़े-बड़े वैद्यों की औषधियाँ नहीं हटा सकीं उसे क्या इस खिलवाड़ से हटाया जा सकेगा? इस मांत्रिक प्रयोग पर उसे अवश्य ही मजाक सूझ रहा था, पर मर्यादा ने उसे चुप कर रखा था।

थोड़ी देर बाद उस व्यक्ति ने अग्निहोत्र बन्द किया और अग्नि को उस मिट्टी के बर्तन में उलटकर उसे दूसरे मिट्टी के पात्र से बन्द कर बाहर ले गया। मैंने वातायन से देखा, बाहर पानी से सनी गीली मिट्टी पहले से ही रखी थी। उसने उसे मिट्टी के बर्तन के सन्धिस्थल पर अच्छी तरह लगाया और उसे लेकर पुनः भीतर आया। सुलक्षणा को आशीर्वाद देते हुए वह बोला—"अब तुम निश्चिंत हो विश्राम करो। तुम्हारा ज्वर मैंने इस मृण्मय पात्र में बन्द कर दिया है, और मैं इसे जंगल में ले जाकर गाड़ दे रहा हूँ।" इतना कहता हुआ वह बड़ी क्षिप्र गति से सीधे कक्ष से बाहर चला गया। विदुरजी उसके पीछे दौड़े। हम लोग वहीं खड़े-के खड़े रह गये। मैंने वातायन से पुनः बाहर देखा, आगे-आगे वृद्ध और पीछे-पीछे विदुरजी उद्यान के बाहरी द्वार की ओर भागे जा रहे थे। वर्षा कुछ तेज हो गयी थी।

सुलक्षणा का व्यंग्य मुखरित हुआ—"अब पाण्डवों की भाँति मेरे ज्वर को भी वनवास दे दिया गया है।"—साथ ही एक तरल खिलखिलाहट कक्ष में फैल गयी।

"···पाण्डव तो अपनी अवधि समाप्त कर अवश्य आयेंगे, पर तुम्हारा ज्वर कभी नहीं आयेगा।"—मैंने कहा।

"कौन जाने उस मांत्रिक ने किसी निश्चित अवधि के लिए ही मेरे ज्वर को वनवास दिया हो।"—इस बार फिर सुलक्षणा हँसी।

"इसे तो भइया ही बता सकते हैं?···अभी वह लौटकर आते हैं? तब तुम उनसे पूछना।"—मैंने कहा।

"मैं इसलिए कह रही हूँ कि यह मांत्रिक भी कौरवों से सम्बन्धित है।"

सुलक्षणा के कहने पर मैं सोचने लगा कि मैंने इसे कभी कौरवों के दरबार में देखा नहीं। मेरी चिन्तन-मुद्रा देखते ही सुलक्षणा तुरन्त बोली,—आपने पहचाना नहीं, यह मांत्रिक दण्डाधिकारी तारानाथ का बड़ा भाई है।···दुर्योधन का बड़ा विश्वासपात्र है।

दुर्योधन का विश्वासपात्र, और मैं नहीं जानता? मुझे स्वयं पर आश्चर्य था और ग्लानि भी। इतने दिनों से मैं इस परिवार से सम्बन्धित हूँ फिर भी बहुत कुछ नहीं जानता। लगता है, मैं एक भ्रम में जी रहा हूँ। एक मायाजाल मुझे चारों ओर से घेरे है, जिसका प्रत्येक तन्तु मेरा अनजाना है, अपरिचित है। स्वयं को मैं जिसके सबसे निकट समझता हूं, उसी की बहुत-सी बातें मैं स्वयं नहीं जानता।

मैं मन-ही-मन सोचता जा रहा था कि विदुरजी ने कक्ष में प्रवेश किया। छत्र लगाये रहने पर भी वह कुछ-कुछ भींग गये थे। छत्र हटाकर परिचारक दौड़ा हुआ गया और धधकते अंगारों से भरा अग्निपात्र ले आया।

सुलक्षणा ने पुराना सन्दर्भ आगे बढ़ाते हुए विदुरजी से पूछा···"सुना है, पाण्डवों की भाँति कुछ अवधि के लिए मेरे ज्वर को वनवास दिया गया है।"

यह 'सुसमाचार' आपने किस श्री-मुख से सुना है?"—मुस्कराते हुए विदुरजी ने व्यंग्य का उत्तर व्यंग्य से ही दिया। हल्की हँसी के बाद उन्होंने

कहा कि आपके ज्वर को बन्दी बनाकर वन-भूमि में गाड़ दिया जायेगा जब कि पाण्डव स्वच्छन्द वन-विहार कर रहे हैं ?"

"...पाण्डव अपनी द्विगुणित शक्ति के साथ एक-न-एक दिन अवश्य आयेंगे, जब कि तुम्हारा ज्वर दिन-प्रति-दिन क्षीण होता हुआ जीवन में अपना दम तोड़ देगा।"—विदुर के स्वर-में-स्वर मिलाते हुए मैं बोल बड़ा।

"क्या सचमुच ऐसा होगा ?"—दो घड़ी के सान्निध्य में शायद पहली बार कुन्ती मेरी ओर देख कर बोली थी। कितनी निरीहता थी उसकी आँखों में, वह मैं कैसे बताऊँ ? मैंने उसे विश्वास दिलाते हुए कहा,—"ऐसा ही होगा बहन। सुलक्षणा के ज्वर को शाप और तुम्हारे पुत्रों को एक ब्राह्मण का आशीर्वाद है।"

इतना सुनना था कि उसका अन्तर गद्‌गद् हो गया, एक विचित्र सिहरन उसके अंगों पर रेंग गयी। उसके तपस्या-रत मातृत्व के निःशुष्क मरुभूमि में उपलब्धि के विश्वास का वसंत आ गया। वह अपने कल्पना-लोक में ही मुस्करायी, पर प्रत्यक्षतः वह गम्भीर ही रही, क्योंकि वह माँ थी, जिसका हृदय अपने पुत्रों के लिए मालती की कलियों से भी अधिक कोमल और दयामय था, जिसकी लम्बी साधना वज्र से भी कठोर और यज्ञ के धूम से भी अधिक पवित्र थी। यह जानते हुए भी कि मैं उसके विरोधी पक्ष का हूँ,—मुझसे अपने पुत्रों के लिए मंगल कामना सुनते ही पुलकित हो उठी। मैंने देखा, उसकी आँखों में ममता के अश्रु-कण झलक आये और मेरे प्रति उसका उपेक्षा-भाव अचानक घुल गया। वह अत्यन्त गद्‌गद् कण्ठ से बोली,—"भगवान करे आपका आशीर्वाद सफल हो।

"मेरे आशीर्वाद को जब आपकी शुभाशंसा मिली है तो वह अवश्य सफ़ल होगा देवि।"—विश्वास-भरे मेरे स्वर से कक्ष का वातावरण एक बार फिर सिहर उठा।

अब मेरे संकोच के बन्धन ढीले पड़े। मैं बराबरी के धरातल पर बोलने की स्थिति में आया। मैंने विदुरजी से पूछा,—"सुना है, आपका मांत्रिक कौरवों के पक्ष का था।"

"यहाँ कौन है जो कौरवों के पक्ष का नहीं।" फिर वे स्वतः हँसे और कुछ सोचते हुए बोले,—"....इसीलिए तो देर हो गयी थी।...उसने कुछ रहस्यमय सूचनाएँ दी।"

वर्षा से बोझिल शीतल हवा का एक झोंका कमरे में और आया। पूरब के गवाक्ष से बौछार की बूँदें भी आयीं, जिसकी दो-चार छीटें सुलक्षणा के पलंग पर भी अवश्य पड़ी होंगी। शीघ्र ही गवाक्ष को भी कपड़े ठूँसकर बन्द करवा दिया गया। इसी बीच जोर की बादलों की गड़गड़ाहट सुनायी पड़ी।

"लगता है, पत्थर पड़ेगा।...खड़ी फसल नष्ट हो जायेगी।"—कृपी के मुख से निकला।

"जिस देश के शासक की बुद्धि पर ही पत्थर पड़ गया हो, उस देश की फसल पर ही पत्थर पड़े तो आश्चर्य क्या?"—विदुर ने कहा। उनके इस व्यंग्य को विस्तार नहीं मिला। हम सब की बुद्धि मांत्रिक के बताये रहस्य की जिज्ञासा में उलझी रही। कुन्ती ने पूछ ही दिया—"कुछ विशेष बात बतायी क्या मांत्रिक ने?"

"हाँ, अब वह गान्धारी पर मंत्रों का प्रयोग कर रहा है?"—विदुरजी बोले।

"गान्धारी पर मंत्रों का प्रयोग! आखिर किस लिए?"—चकित हो मेरे मुख से निकल पड़ा।

"कदाचित् आप प्रासाद के अन्तर्मंथन से परिचित नहीं हैं।"—विदुरजी ने बहुत सारी बातें बतायी जिनमें से बहुत कुछ मैं बहुत पहले से ही जानता था, —"शकुनि का अपनी बहन से खटपट हो गया है। वह नाराज होकर यहाँ से चला गया।...वह चाहता था कि वनवासी पाण्डवों के पीछे बराबर गुप्तचर लगाये जायँ, जिनसे उनकी गतिविधि का भी ज्ञान हो और अज्ञातवास के समय शीघ्र पहचान लिये जायँ।...पर गान्धारी इसे नियम-विरुद्ध समझती थी। उसने शकुनि को अच्छी तरह लथेड़ा और वह नाराज हो हस्तिनापुर छोड़कर चला गया।

"...तब यह मांत्रिक क्या करेगा?"—मैंने पूछा

"मांत्रिक दुर्योधन का अत्यन्त विश्वस्त व्यक्ति है। वह मंत्र-प्रयोग से गान्धारी की मानसिक स्थिति पर नियंत्रण करेगा। वह ऐसी स्थिति ला देगा कि गान्धारी भी वही करेगी जिसे शकुनि और दुर्योधन चाहेंगे।"

"किन्तु शकुनि तो चला गया।"

"दुर्योधन ने उसे मना लाने के लिए दूत भेज दिये हैं।"

एक क्षण के लिए हम लोग सोचते रह गये। कुन्ती ने बड़ी वेदना से कहा,—"...लगता है, मेरे पुत्रों के पीछे गुप्तचर भी लगा दिये जायेंगे।"

"इससे क्या होता है? लगा दे वह गुप्तचर।"—विदुर बड़े विश्वास के साथ बोलते रहे,—'मैं तो कहता हूँ कि गुप्तचर नहीं, वह स्वयं ही लग जाये। होगा वही जो होनेवाला होगा।"

"पर परेशानी तो बढ़ ही जायेगी।"—कुन्ती का स्वर वेदना से भींगा था।

"परेशानी ?"—विदुरजी हँसे। वस्तुतः वे हँसे नहीं। उन्होंने हँसने का अभिनय किया,—"कहीं कोई परेशानी नहीं होगी।...जानती हो भाभी, सबसे बड़ा गुप्तचर कौन है ?"

कुन्ती प्रश्नवाचक मुद्रा और विस्फारित नेत्रों से विदुर को देखती रही।

विदुरजी ने ऊपर की ओर तर्जनी से संकेत करते हुए कहा,—"सबसे बड़ा गुप्तचर वह है जिसकी दृष्टि हम सब पर है। हमारी हर गति-विधि से वह परिचित है। हमें बस उसी का भरोसा करना चाहिए।...यह उसी की कृपा है कि प्रासाद में जो कुछ 'चुरता' है, वह सब हम लोगों को मालूम हो जाता है। हमारा कोई गुप्तचर तो वहाँ है नहीं।"

कुन्ती ने आँखें मूँदकर जैसे कुछ स्मरण किया। ऐसा लगा कि अपने आराध्य-देव के चरणों में उनका मन लग गया है।

इसी बीच एक परिचारिका केशर-कस्तूरी से युक्त गरम दूध हम सब के लिए ले आयी। हम पेय की उष्णता एवं मधुरिमा में ठंढक की कड़ुआहट डुबोने लगे।

तब तक अचानक सुनायी पड़ा,—"भगवान आशुतोष की जय! विदुर महाराज की जय !! धर्मराज धृतराष्ट्र की जय !!!

द्रो०—१७

मैं बड़े आश्चर्य में पड़ा कि इस जाड़े की बरसात में यहाँ जय बोलनेवाला कौन चला आया। वह भी धृतराष्ट्र के लिए धर्मराज का विशेषण! मेरा ही नहीं, कृपी का भी आश्चर्य उफान लेने लगा। उधर आवाज बराबर बढ़ती गयी। यहाँ तक कि गांधारी की जय और शकुनि के जय की सीमा तक चली आयी।

मैं कुछ पूछूँ, इसके पहले ही सुलक्षणा बोली,—"देखिए, फिर पागल आ गया।"

मुझे खाँसी आयी। गला साफ करने और थूकने के बहाने बाहर निकला। जय-जयकार की आवाजें बराबर आ रही थीं, पर कोई दिखायी नहीं दिया। बरसात अपना दम तोड़ चली थी, पर सर्द और नम हवा अब भी तीर-सी हड्डियों तक चुभती चली आ रही थी।

सन्ध्या हो चली थी।

भीतर आ मैंने कृपी को सम्बोधित करते हुए कहा,—"अब हमें चलना चाहिए।…पानी रुक गया है। दिन रहते यदि अहिच्छत्र पहुँच जाता तो अच्छा था।

"क्या प्रासाद में हो लिये हैं?"

"नहीं।"

"तो क्या अपने कौरव-शिष्यों से नहीं मिलेंगे?"

"पता नहीं क्यों, अब मिलने की इच्छा नहीं होती।"—मेरे इतना कहने पर कुन्ती ने पुनः मेरी ओर देखा। बड़ा सन्तोष था उसकी आँखों में।

हम दोनों चलने के लिए उठ खड़े हुए पर किसी ने भी हमें ठहरने के लिए नहीं कहा। केवल सुलक्षणा मुस्कराते हुए बोली,—"अब तो आप फिर आयँगे नहीं?"

"क्यों?" मैंने चकित हो पूछा।

"…क्योंकि अब मेरा ज्वर फिर नहीं आयेगा।…और आप हैं कि जब तक मेरा ज्वर नहीं आयेगा या मैं अस्वस्थ नहीं होऊँगी, आयेंगे नहीं।"—सुलक्षणा की प्रभापूर्ण आँखों में हँसी थी।

"नहीं-नहीं, अब मैं जल्दी-जल्दी आऊँगा। तुम्हें बीमार होने नहीं दूँगा।"

"लगता है, मेरी बीमारी तुम्हारी ही मुट्ठी में तो है।"

"यह बात पूर्ण रूप से भले ही सत्य न हो, पर आंशिक रूप से अवश्य सत्य है।"—मेरे कहने के ढंग पर सब को हँसी आ गयी और सुलक्षणा भी हँसी। उसकी वह हँसी अब तक मेरी स्मृति पर चिपकी हुई है।

यों पानी बरसना करीब-करीब बन्द हो चुका था। फिर भी वायुमंडल अत्यधिक नम था और गलन बहुत अधिक बढ़ गयी था। विदुरजी और कुन्ती हमें उद्यान के बाहरी द्वार तक छोड़ने आये।

अभी मेरा रथ कदाचित् ही दो-चार डग आगे गया होगा कि मुझे फिर उसी तरह के 'जय-जयकार' की ध्वनि सुनायी पड़ी। मैंने मुड़कर देखा,—"अरे यह तो आदित्य है।"—मेरे मन ने कहा। मैंने रथ रोक दिया और उसे अपने पास बुलाया। पहले वह दौड़ा हुआ मेरी ओर आया, फिर वह मुझसे कुछ दूर ही पर रुक गया। बड़ी विचित्र दृष्टि से कुछ क्षणों तक वह मुझे देखता रहा। पुनः पता नहीं क्या सोचकर उसने जोर से थूका और लौट गया। मैं बुलाता रह गया, वह फिर नहीं आया।

"जाने दीजिए पागल है।"—सारथी ने बताया,—"...विदुरजी का माली कह रहा था कि इस पगले ने जीना मुहाल कर दिया है। रात-दिन कुछ-न-कुछ बकता रहता है। विदुरजी इसे भगाते भी नहीं है, वरन् इसके भोजन की पूरी व्यवस्था रखते हैं।"

सारथी बोलता जा रहा था और मेरा अति संवेदनशील मन सोचता जा रहा था कि इसने मुझे देखकर थूका क्यों? यह इसका मेरे प्रति उपेक्षा भाव है या विशुद्ध पागलपन? यदि यह उपेक्षा भाव है तो क्यों? मैंने कोई भी कार्य इसके प्रति ऐसा नहीं किया जिससे यह मुझे घृणा करें। मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था। सारथी ने इस बीच यह भी बता दिया था कि माली कह रहा था कि यह पागल बीच-बीच में दो-चार दिनों के लिए अदृश्य भी हो जाता है।

...किन्तु मैं सोचता रहा। मैंने अनुभव किया कि कृपी इसे पहचान नहीं रही है। उसे बताने की इच्छा होते हुए भी मैंने उससे कुछ नहीं कहा। केवल

उस पगले की ओर देखता रहा, जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गया। कृपी ने ही रथ बढ़ाने के लिए सारथी को संकेत किया।

रथ आगे बढ़ चला। फिर भी मैं सोचता रहा। मेरी मुद्रा गम्भीर ही बनी रही। कदाचित् उसे बदलने के ही लिए कृपी बोली—"आज मैंने एक बात देखी।"

"क्या ?"

"बड़े भाग्यवान हैं आप।"

"क्यों ?"

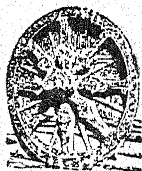
"क्योंकि सुलक्षणा की आँखों में आपके लिए एक विशेष प्रकार की ललक है ?"—वह मुस्करायी।

"···तुम भी ऐसा कहती हो।"

"क्यों ? मेरे सिवा तुम्हें कोई और ऐसा कहनेवाला भी है ?"

हम दोनों हँस पड़े। रथ की गति तेज हो चली थी।

• • •



समय और सागर की लहरें किसी की प्रतीक्षा नहीं करतीं। वह अबाध गति से आगे बढ़ती चली जाती हैं। जो उनकी गति के साथ गति नहीं मिलाता वह समय के सागर में डूब जाता है। लहरें उसके जीवन का लेखा-जोखा भी नहीं रखतीं। फिर उन्हें इसकी परवाह क्या है? बहुत थे, जो डूब गये, बहुत थे जो लहरों के थपेड़ों में बह गये। बहुत थे जो चीखती लहरों के भय से किनारे ही खड़े-के-खड़े रह गये। इतिहास को उनसे कुछ लेना-देना नहीं। इतिहास तो बस उन्हीं की ओर मुड़कर देखता है जो समय के प्रवाह के विरुद्ध तैरते हुए निकल जाते हैं। वही मृत्युंजय हैं। वही कालजयी हैं।

करीब-करीब तेरह वर्ष बीत गये।

समय के थपेड़ों को चीरते हुए पाण्डव निकल आये थे।

एक युग बीत गया। हम समय की चीखती लहरों के किनारे खड़े-के-खड़े रह गये, पर प्रकृति तो ऐसा नहीं कर सकी, वह समय के साथ-ही-साथ आगे बढ़ती गयी। शरीर पर सिकुड़नें पड़ने लगीं, आकृति पर झुर्रियाँ बढ़ने लगीं, आँखों के गढ़ों में सन्ध्या की कालिमा बटुरने लगी। केशों में हिमानी श्वेतता बढ़ी। मेरी प्रौढ़ावस्था पर वृद्धता का रंग चढ़ने लगा। पर पाण्डव तपस्या की अग्नि में तपकर कंचन-से खरे उतरते गये।

वह ग्रीष्म की सन्ध्या थी। हम अपने उद्यान में टहल रहे थे। दिन-भर अच्छी तरह तपकर सूर्य अपना मुँह ढाँक चुका था। मध्याह्न के पूर्व से ही अग्नि की लपट-सी गर्म और चीखती हवा चक्कर काटते-काटते थककर कहीं थम गयी थी। एक पत्ता भी नहीं खड़क रहा था। मेरे साथ कृपी, अश्वत्थ तथा और कुछ लोग थे। एक सघन रसाल के नीचे, स्फटिक की विशाल शिला पर श्रीफल और मधु का शीतल पेय बनाने की व्यवस्था थी। परिचारक उसी में संलग्न थे।

हम टहलते जा रहे थे। प्रतिहारी ने बड़ी व्यग्रता से सूचना दी,—"कुरु महाराज आये हैं।" मैंने धृतराष्ट्र को समझा और महाद्वार की ओर लपका, तब देखता हूँ दुर्योधन चला आ रहा है।

"महाराज कहा हैं ?"—मैंने उससे पूछा।

"महाराज तो नहीं आये हैं।"

"तो तुम अकेले आये हो ?"

"जी हाँ।"

"किन्तु मुझे तो सूचना दी गयी कि महाराज आये हैं। चलो कोई बात नहीं, समझनेवालों ने तुम्हीं को महाराज समझ लिया होगा।...युवराज को महाराज समझ लेना कोई बहुत बड़ी भूल नहीं है, बल्कि एक दूरदर्शिता है। अखिर आप किसी-न-किसी दिन महाराज तो होंगे ही।"—मैं मुस्कराया, किन्तु मेरे मुस्करा-हट का कोई प्रभाव दुर्योधन के चेहरे पर दिखायी नहीं दिया। उसकी व्यग्रता ज्यों-की-त्यों बनी रही। उसने प्रश्नवाचक मुद्रा में कुछ बताने के लिए ही कहा,—"आपने कुछ सुना ?"

"क्या ?"

"कीचक मारा गया।"

"कीचक ?"—मैं समझ नहीं पाया कि वह किस कीचक के सम्बन्ध में कह रहा है। मैं कुछ सोचने लगा।

"कदाचित् आप समझ नहीं पाये।...उस विराट...।"

"हाँ, हाँ,...अब समझा। कीचक मारा गया ? वह तो बड़ा शक्तिशाली था।"

"यही तो सब को आश्चर्य है।...और मारा भी गया तो मल्लयुद्ध में।"

"यह कैसे मालूम ?"

"बतानेवाले ने बताया कि उसके तन पर आयुध की कोई चोट नहीं थी। उसके सारे शरीर को बड़ी निर्दयतापूर्वक दबाकर एक गठरी की तरह कर दिया गया था।"

दुर्योधन का मेरे यहाँ आना स्वयं में एक बड़ी बात थी। उसे देखते ही कुतूहलवश कृपी और अश्वत्थ भी वहाँ चले आये थे तथा हम दोनों के पीछे ही

खड़े हो चुपचाप हमें सुनते रहे। मैंने उन्हें देखा तो नहीं पर अनुभव किया कि अनेक मेरे परिचारक भी जिज्ञासावश वहाँ आकर खड़े हो गये हैं।

इतने बलिष्ठ कीचक की यह दुर्दशा? मेरा हृदय काँप गया, पर मस्तिष्क सोचता रहा। मैंने दुर्योधन से पूछा,—"पता है, आजकल बलराम कहा हैं?"

"यह तो नहीं मालूम।...पर कुछ दिनों पूर्व द्वारिका में उनके रहने की सूचना मिली थी।"—उसने कुछ सोचते हुए कहा, फिर अचानक उसकी मुद्रा बदली,—"इस समय आपको बलराम की याद कैसे आ गयी?"

"...क्योंकि इस समय आर्यावर्त में बलराम और भीम दो ही ऐसे वीर हैं जो मल्लयुद्ध में कीचक को पछाड़ सकते हैं।...और मेरा निश्चित मत है कि यह कार्य और किसी तीसरे का नहीं है।"—मैंने बड़े विश्वास के साथ कहा।

"यही तो पितामह भी कह रहे थे।"—दुर्योधन बोला और कुछ सोचने लगा।

शीघ्र ही मैंने पुनः पूछा,—"गुप्तचरों ने तुम्हें यह नहीं बताया कि वह मारा क्यों गया?"

"उनका कहना है कि विराट की सैरन्ध्री पर उसकी आसक्ति थी।...कहा जाता है कि उस सैरन्ध्री के गन्धर्व पतियों ने एक रात उसकी हत्या कर दी।"

"गन्धर्व-पतियों ने?"—अब मेरे विस्मय को अनिश्चतता के अँधेरे में एक किरण-सी दिखायी पड़ी। मैंने पूछा,—"वह सैरन्ध्री है कैसी? उसका रूप-रंग कैसा है?"

"यह तो मैंने पूछा था, पर वह बताने में असमर्थ रहा। उसका कहना था कि महल के बाहर उसे किसी ने नहीं देखा है।"

मैं कुछ समय के लिए पुनः चुप हुआ, फिर बड़ी गम्भीरता से सोचते हुए बोला,—"ऐसा तो नहीं कि वह सैरन्ध्री ही द्रौपदी हो।...अच्छा, यह पता लगा सकते हो कि वह सैरन्ध्री कितने दिनों से वहाँ कार्य कर रही है।"

"गुप्तचरों का तो कहना है...लगभग साल-भर से।"

"...तब हो न हो वह द्रौपदी ही है। आजकल अज्ञातवास के दिन चल रहे हैं। लगता है, वह अपने अज्ञातवास के दिन विराट के प्रासाद में ही काट रही हो।"

"पितामह के भी यही विचार हैं।"—दुर्योधन बोला,—"वह तो यह भी कह रहे थे कि विराट के ही यहाँ पाण्डव भी किसी-न-किसी रूप में होंगे।

"हो सकता है।...प्रत्यक्ष रूप में किसी-न-किसी वेश में विराट के यहाँ ही चाकरी करते हों और प्रच्छन्न रूप में द्रौपदी के गन्धर्व पति हों।"

दुर्योधन कुछ बोला तो नहीं, पर मैंने देखा उसकी आकृति पर अनेक प्रकार के भाव बने और मिटे। मैंने अनुभव किया कि इस समय मेरे पीछे खड़े लोग भी उसे बड़े ध्यान से देख रहे हैं। दुर्योधन की दृष्टि नीचे थी और वह दाहिने पैर के पदत्राण की नोक से धरती की छाती कुरेद रहा था।

:'तब क्या करना चाहिए?"—उसने धीरे से पूछा।

"पितामह की क्या राय है?"

"वह तो कहते हैं कि जैसा उचित समझो वैसा करो।"—एक बार फिर पितामह की आकृति मेरे मानस में अपनी विभिन्न मुद्राओं में उभरी। मेरे मन ने धीरे से मुझसे कहा,—"यह बूढ़ा भी कितना विचित्र है; कभी कुछ भी स्पष्ट नहीं कहता।...मुख में कुछ, मन में कुछ।"

"...अब तुम लोगों ने क्या सोचा है?"—मैंने दुर्योधन से पूछा।

"हम लोगों ने निश्चय किया है कि हमें शीघ्र ही विराट पर आक्रमण करना चाहिए।"

"मैं भी यही सोचता हूँ।..." अब तक चुपचाप हमें सुनते रहने के बाद अश्वत्थ पहली बार बोला।

"किन्तु आक्रमण करने से क्या होगा? विराट से आपकी कोई शत्रुता तो है नहीं।...फिर मात्र सन्देहवश उस पर आक्रमण करना क्या न्यायोचित है?"—कृपी भी हमारे वार्तालाप में सम्मिलित हो गयी।

शीघ्र ही हमें सूचना मिली कि शीतल पेय तैयार है। हम सभी घनी अमराई के नीचे स्फटिक-शिला की ओर बढ़े। सन्ध्या लगभग विश्राम करने की मुद्रा में थी। अँधेरा बढ़ चला था।

तेरह वर्षों का अन्तर इतिहास के पन्नों में कुछ नहीं होता, पर व्यक्ति के जीवन में बहुत होता है। इतने लम्बे अन्तराल के बाद मनुष्य एकदम बदल

जाता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि आज जो हम हैं वह एक युग पहले न थे और न एक युग बाद रहेंगे। हमारे शरीर का अणु-परमाणु निरन्तर नष्ट होता और नया बनता रहता है। परिणामतः हम बारह वर्षों में एकदम परिवर्तित हो जाते हैं।'''वस्तुतः हम परिवर्तित हो गये थे, दुर्योधन परिवर्तित हो गया था। हस्तिनापुर की राजनीति परिवर्तित हो गयी थी। किसी को कल्पना भी नहीं थी कि पाण्डव अब कभी बराबरी में हमारे सामने खड़े भी हो सकते हैं। वह रस्सी जिसे निरर्थक समझकर फेंक दिया गया था नागिन बनकर फुफकारने लगी थी। कीचक-वध उसकी पहली फुफ़कार के रूप में कौरवों के सामने आयी थी।

इससे वे भीतर-ही-भीतर अत्यधिक तिलमिला उठे थे। उनकी घबराहट इसी से समझी जा सकती है कि जिस दुर्योधन का अहं मुझे अपने चाकर से अधिक समझने के लिए कभी भी तैयार नहीं हुआ, आज वही दुर्योधन पालित स्वान की तरह दौड़ता हुआ चला आया और मेरे सामने दुम हिला रहा था। विश्वास नहीं होता कि यह वही स्वान है जो द्यूत-क्रीड़ा के समय पागल हो काटने को दौड़ता था। समय जो चाहे सो न करा दे।

एक साँस में ही पूरा पेय गले में उँड़ेल लेने के बाद उसने बड़े विनीत भाव से कहा—"लोगों की राय है कि आक्रमण तुरन्त कर देना चाहिए।"

"क्यों ?"

"क्योंकि सभी का विश्वास है कि पाण्डव विराट के यहाँ ही हैं और अभी अज्ञातवास का समय पूरा नहीं हुआ है। हम आक्रमण के बहाने पाण्डवों को खोज निकालेंगे।"

मेरे विचार से यह कार्य उतना आसान नहीं था जितना दुर्योधन सोचता था। मैंने कहा— "मैं युद्ध के तुम्हारे प्रस्ताव का विरोध नहीं करता, पर पाण्डवों को खोज निकालना आसान नहीं है।"

दुर्योधन चुप था।

मैंने सोचा, कहीं वह फिर मेरे सम्बन्ध में अन्यथा न समझ बैठे, अतएव मैंने पुनः बात चलायी। "यदि तुमने आक्रमण का निश्चय कर लिया हो तो आक्र-

मण करो, किन्तु किसी कार्य को करने के पहले अच्छी तरह सोच लेना चाहिए कि इससे लाभ क्या होगा ?"

"इससे तीन लाभ होंगे।"— मेरी बात पूरी होते ही दुर्योधन बोल पड़ा— "पहला लाभ होगा कि हम विराट को पराजित कर उसका गोधन प्राप्त करेंगे। दूसरा लाभ होगा, सन्धि कर विराटराज शत्रुदमन को अपने पक्ष में करेंगे। तीसरा लाभ होगा कि पाण्डवों को उनकी अज्ञातवास की अवधि पूरी होने के पूर्व ही खोज निकालेंगे। शर्त के अनुसार उन्हें फिर से वनवास और अज्ञातवास बिताना पड़ेगा।"

"....और यदि हम ही हार गये तो ?"

दुर्योधन बोलना चाहकर भी चुप रह गया, पर अश्वत्थ भभका—"पिताजी, आपकी प्रकृति विचित्र है। आप हर वस्तु का श्याम पक्ष ही देखते हैं।"

"जब हर वस्तु का श्याम पक्ष भी होता है तब उसे पहले देखना ही चाहिए बेटे। यही हमारी दूरदर्शिता हैं।" —मैंने मुस्कराते हुए कहा— "....आप सारी योजना यह मानकर बना रहे हैं कि पाण्डव वहाँ हैं।....और मैं यह कह रहा हूँ कि यदि वे वहाँ हैं तो हमारी हार भी हो सकती है।"

"हार होने के बाद भी यदि पाण्डव पहचान लिये गये तो हमारा लाभ होगा।" —दुर्योधन बोला।

"पराजय की हानि जितनी बड़ी होती है वत्स, उससे मिलनेवाला कोई भी लाभ उससे बड़ा नहीं होता।"—हल्की हँसी के बीच मैंने कहा।

कुछ समय तक वह शान्त सोचता रहा।

"तो क्या यह मान लिया जाय कि हमें चुपचाप बैठ जाना चाहिए।" दुर्योधन ने पूछा।

"यह कौन कहता है ?"—मेरी मुस्कराहट प्रगल्भ हो उठी। "तुम्हारे आक्रमण करने का तो मैं समर्थक हूँ ही, पर यह सोचकर आक्रमण करना चाहिए कि हमें एक बड़ी और कठिन लड़ाई लड़नी पड़ेगी।...तुम्हारे मन में यदि यह धारणा हो कि वैभव से विपन्न होने पर पाण्डव दुर्बल हो गये होंगे, तो मेरे प्रिय शिष्य इसे मस्तिष्क से निकाल दो।"—अत्यन्त आत्मीयता से

दुर्योधन के कन्धे पर अपना दाहिना हाथ रखते हुए अनुभव से बोझिल मुस्कराहट के साथ मैंने उसे देखा ।

उसने बताया कि पितामह भी ऐसा ही समझते हैं कि पाण्डवों की शक्ति पहले से कम नहीं होगी । राज्यविहीन होने से क्या हुआ ? तेरह वर्षों के अनुभव की विशाल सम्पदा उन्होंने अर्जित की होगी जो किसी राज्यशक्ति से कम महत्त्व की नहीं है ।

पितामह की बात दोहराने पर भी दुर्योधन का अहं यह मानने को कभी भी तैयार नहीं था कि हस्तिनापुर की शक्ति किसी से कम है ।

बातों के ही क्रम में उसने यह भी बताया कि त्रिगर्तराज सुशर्मा की आजकल शत्रुदमन से अन-बन चल रही है । वह भी उसे पराजित करना चाहते हैं।

मैं सुशर्मा को अच्छी तरह जानता था । उस परम वाचाल की बातों का क्या ठिकाना ? इसी से पूछ बैठा—"यह तुम्हें कैसे मालूम ?"

वह पिछले दिनों हस्तिनापुर में था । कीचक-वध का समाचार सुनते ही वह योजना बनाकर अपनी राजधानी लौट गया ।"—दुर्योधन ने बताया ।

"क्या योजना बनायी ?"

"उसने योजना बनायी कि दक्षिण से वह विराट पर आक्रमण करेगा और उसके दो दिनों बाद उत्तर से हम लोग चढ़ाई कर देंगे ।"

"यदि यह योजना है तो ठीक ही है ।" मैं बोला । इस लम्बी बातचीत में पहली बार दुर्योधन के चेहरे पर मुस्कराहट दिखायी दी ।

"......कल मध्याह्न से परसों मध्याह्न के पूर्व तक प्रयाण का मुहूर्त है ।"—उसने बताया, किन्तु मैं इतनी जल्दी तैयार होने की स्थिति में नहीं था, क्योंकि मुझे अहिच्छत्र की सैन्य-शक्ति को भी साथ रखना था । मैं युद्ध की गम्भीरता को अच्छी तरह समझ रहा था । मैं सोच में पड़ गया । मेरा यह कहना भी ठीक नहीं था कि मुझे तैयारी के लिए समय चाहिए । मैं अश्वत्थ की ओर देखते हुए बोला—"यदि कल दिन-भर में पूरी सेना तैयार कर लो तो परसों मध्याह्न के ही पूर्व प्रयाण कर दिया जाय ।"

अश्वत्थ ने बड़े उत्साह में कहा— "अरे एक दिन तो बहुत है तात। आपात स्थिति में तो एक घड़ी में सेना तैयार होती है।"

मेरा ही लड़का मुझे युद्ध का अनुभव बताये। मुझे हँसी आ गयी। अश्वत्थ तो सकपकाया, पर दुर्योधन ने मेरी हँसी का साथ दिया और प्रसन्नता में उछल-कर अश्वत्थ को छाती से लगा लिया।

जब दुर्योधन हस्तिनापुर के लिए लौटा, रात की सभा जुट चुकी थी, तारे इकट्ठे हो गये थे।

मेरे शयन-कक्ष के बगल का मन्त्रणा-कक्ष था।

रात थी। ज्योति-कलशों में जलती दीप-शिखा का काँपता हुआ प्रकाश था। प्रशस्त काष्ठ मंचक था। मंचक पर लगभग आधे से अधिक भरा मैरेय पात्र था। ढुलका हुआ चषक था। मंचक के चारों ओर उच्च काष्ठ आसन पर बैठे हुए हम थे। हम, अर्थात् मैं, कृपी और अश्वत्थ।

विचारणीय समस्या बस इतनी थी कि विराट पर आक्रमण के लिए प्रस्थान करनेवाली हस्तिनापुर की सेना में केवल मैं ही सम्मिलित होऊँ या अहिच्छत्र की सैन्य-शक्ति थी। कृपी केवल मेरे सम्मिलित होने के पक्ष में थी। उसका कहना था कि युगों से चले आये कौरवों और पाण्डवों के वैमनस्य के सन्दर्भ में ही यह आक्रमण है। इससे अहिच्छत्र को क्या लेना-देना है।"'हाँ, आपका कौरवों से सम्बन्ध है। आप उनके साथ आक्रमण में सम्मिलित होइए।"

पर अश्वत्थ इस पक्ष में नहीं था। उसका कहना था कि हमें पूरी सैन्य-शक्ति के साथ आक्रमण में सम्मिलित होना चाहिए। मैं भी करीब-करीब इसी पक्ष में था, पर चुप था। दोनों ओर से अपने पक्ष में शक्तिशाली तर्क दिये जा रहे थे। मैं मैरेय की मादकता में मुस्कराता हुआ दोनों की बातें सुन रहा था।

कृपी ने कहा—"आपको जितना कौरव मानते हैं उससे कम पाण्डव नहीं मानते।"

१८५५

"मानते हैं तो माना करें।...पर यह कौरवों की ही कृपा है कि बचपन में जिसे दूध भी पीने को नहीं मिलता था, आज वह युवराज बना बैठा है।" अश्वत्थ बोला।

"तुम्हारा यह मिथ्या भ्रम है अश्वत्थ।......तुम्हारे सारे मित्र जब लात खाकर, अपना-सा मुख लेकर चले आये थे तब अन्त में वह अर्जुन ही था जिसने द्रुपद को पराजित कर बन्दी बनाया था, जिसके कारण तुम्हारे पिता राजा हुए और तुम युवराज बने।"

"अर्जुन का नाम सुनना था कि अश्वत्थ लाल हो गया—"...यह तू कैसे कह सकती है? कौरव हमारे अपने हैं। हमने उनका अन्न खाया है। हमारी धमनियों में प्रवाहित होनेवाले रक्त में कौरवों का नमक है।

"यह उस समय का नमक है, जब कौरव और पाण्डव दो नहीं थे।"—कृपी भी कुछ आवेश में आयी।

"यह तुम्हारा भ्रम है माँ। वह कभी एक नहीं थे।"

"तुम्हारी दृष्टि में भले एक न हों, पर हमारी दृष्टि में तो थे।"—पाण्डवों ने कभी हमें पराया नहीं समझा।"

"और कौरवों ने हमें सदा अपना समझा।"

"यह तुम नहीं बोल रहे हो अश्वत्थ, यह अर्जुन के प्रति तुम्हारा द्वेष बोल रहा है।"

"जी नहीं, बल्कि यों कहिए कि कौरवों के प्रति हमारी कृतज्ञता बोल रही है।"—अश्वत्थ उसी प्रवाह में बहता चला गया—"भला सोचिये, यदि यह बात कौरव सुनेंगे तो क्या सोचेगें? क्या कहेंगे?......यही न कि हमारा नमक उनके खून में पानी हो गया है।"

"उनका नमक भले ही पानी हो जाये या रहे......पर मैं यह सोच रही हूँ कि तुम्हारे रक्त में प्रवाहित कौरवों का विष अहिच्छत्र को भस्म करके ही छोड़ेगा।"—कृपी का स्वर क्रोधाकुल था। वह काँप रही थी।

अश्वत्थ भी तमतमाया। वह उठकर खड़ा हो गया। यदि ऐसी बात है तो मैं अहिच्छत्र को भस्म नहीं होने दूँगा। आप लोग इसे बैठकर सेइए। मैं अकेले ही हस्तिनापुर की सेना के साथ जाऊँगा।"—इतना कहते हुए वह कमरे से निकल गया।

कृपी चुपचाप बैठी रही। कक्ष का सारा वातावरण गम्भीर हो भारी हो गया था। मैं सोचते हुए ज्योति-कलशों की ओर देख रहा था, जहाँ फतिंगे ढेर-के-ढेर व्यर्थ ही अपना प्राण दिये जा रहे थे।

"यदि मेरी बातें आपके लाड़ले को अच्छी नहीं लगतीं तो मैं आज से संकल्प करती हूँ कि आप लोगों के बीच में कभी नहीं बोलूँगी।........बुलाकर मनाइए अपने लाड़ले को।"—कृपी इतना कहकर एक झटके में कक्ष के बाहर निकल गयी।

मैंने देखा, दोनों अपने-अपने क्रोध की सीमा पर हैं, पर साथ ही मैंने यह भी अनुभव किया कि इतना होने पर भी कृपी का विवेक अभी जीवित है, नहीं तो 'बुलाकर मनाइए अपने लाड़ले को' न कहती। पर मैं ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा। मस्तिष्क पर छाती मैरेय की धुंध मुझे वैसे ही पड़े रहने के लिए विवश कर रही थी। मैंने करतलध्वनि कर एक दासी को बुलाया। यह पुष्पा थी। मैंने उसे एक बार देखा, फिर लगा यह कहाँ से खूसट बूढ़ी चली आयी है, फिर भी मैंने ढुलके हुए चषक की ओर संकेत किया।

पुष्पा मेरी मुखाकृति से या पता नहीं कैसे मेरे मन का भाव समझ गयी, वह मुस्कराते हुए बाहर गयी और क्षण में मालती को भेजा।

मालती ने आते ही चषक में सुरा उँड़ेलनी शुरू की। मैरेय मेरे गले के नीचे उतरती गयी और मैं मैरेय में डूबता गया।

अश्वत्थ क्रोध का पुतला है। जब वह आगबबूला हो जाता है आपे में नहीं रहता। वह कुछ भी कर डाल सकता है। कदाचित् इसीलिए क्रोध की गहरी पर्तों के नीचे दबे रहकर भी कृपी का विवेक उसे मनाने के लिए कह गया था। मादकता के हिंडोले पर झूलते मेरे मन में यह बात पेंग मारने लगी।

"अश्वत्थ को बुलाओ।"—अचानक मेरे मुख से निकला।

मालती दौड़ी हुई बाहर गयी। बहुत देर तक नहीं आयी। मैंने सोच लिया कि वह मनाने में लगी है। मेरा विचार हुआ कि कृपी से ही बुलाकर कहूँ कि वह उसे समझा लाये। अतएव मैंने एक परिचारिका को कृपी को बुलाने के लिए भी भेजा।

राजहठ, बालहठ और नारीहठ से भी प्रबल होता है। इकलौती सन्तान का हठ, इसी से कृपी भी व्यग्र हो उठी और मेरी मादकता भी टूटती जा रही थी।

थोड़ी देर बाद अश्वत्थ मेरे कक्ष में आकर चुपचाप खड़ा हो गया। मेरी मदभरी आँखों में उसके क्रोधाकुल आकृति की ललाई कुछ और अधिक लाल होकर दिखायी दी। न वह बैठा और न मैंने उसे बैठने के लिए ही कहा। वह निर्वाक्, निर्द्वन्द्व, निर्भ्रान्त खड़ा ही रहा। मैंने यह भी देखा कि कृपी द्वार पर आयी और अश्वत्थ को देखकर लौट गयी।

मैं उसी मुद्रा में अत्यन्त गम्भीर हो बोला,—"जानते हो वत्स, क्रोध मूर्खता से आरम्भ होता है और पश्चात्ताप पर समाप्त।"—मेरी ध्वनि की भर्राहट से उस कक्ष का मद्धिम प्रकाश भी काँप उठा।

पर अश्वत्थ कुछ नहीं बोला।

मैंने पुनः कहा,—"विवेकशील को ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए कि पश्चात्ताप ही हाथ लगे।"

"यदि मेरे भाग्य में पश्चात्ताप ही लिखा होगा तो मेरा विवेक क्या करेगा ?"—उसकी वाणी में क्रोध और निर्ममता का अद्‌भुत मिश्रण था।

"....पर ऐसी बात नहीं है। तुम्हारे भाग्य में पश्चात्ताप नहीं, वरन् राज-सुख लिखा है।" मैंने मुस्कराने की चेष्टा करते हुए कहा,—"....तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिए। ऐसा नहीं कि तुम्हारी बातें मैंने अनसुनी कर दी हों।....मैं अभी आपात् स्थिति का तूर्य बजवाता हूँ तथा रातों-रात सेना को तैयार होने का निर्देश देता हूँ।....तुम जाकर विश्राम करो।"

अश्वत्थ चुपचाप चला गया। मैंने देखा, उसकी चाल में एक विजयी व्यक्ति की ऐंठ थी।

अधिक सुरापान के कारण आज मैं देर तक सोता रह गया।

बिस्तर छोड़ते ही नक्षत्र-नमस्कार के लिए जब मैं शयन-कक्ष से निकला, पौं फट चुकी थी। सघन अमराई से कोकिल का पंचम स्वर फूटा पड़ रहा था। शीघ्र ही हमें सूचना दी गयी कि प्रतीक्षा-गृह में बैठे प्रधान सेनानायक ने अपना अभिवादन आपकी चरणों में भेजा है।

"जाकर कह दो, घबराने की कोई बात नहीं है। मैं सन्ध्या-वन्दन के बाद ही मिल सकूँगा। एक घड़ी पश्चात् ही आने का कष्ट करें।" परिचारक दौड़ा हुआ प्रतीक्षा-कक्ष की ओर गया।

यद्यपि मुझे कुछ भी बताया नहीं गया था, पर मैंने देखा—प्रत्येक कर्मचारी अपने कार्य पर सनद्ध था। प्रासाद का कोना-कोना भय और आतंक से थर्रा रहा था। बाद में पता चला कि मेरे आदेशानुसार मध्य रात्रि के बाद आपात-स्थिति का तूर्य बजा दिया गया था और हर आधी-आधी घड़ी पर सैन्य-शिविर में सतर्कता की भेरी (एक प्रकार का नगाड़ा) बज उठता था।

सन्ध्या-पूजन से लौटते ही मुझे फिर सूचना दी गयी कि प्रधान सेनानायक आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।—"वे कब से बैठे हैं?"

"बहुत पहले से।" परिचारक ने बताया।

व्यग्रता में प्रधान सेनानायक का समय से पूर्व आ जाना स्वाभाविक ही था। मैंने भी जलपान करने और वस्त्र बदलने में शीघ्रता की तथा प्रतीक्षा-गृह में पहुँचा।

"मुझे दुःख है कि मैंने आपको दुबारा कष्ट दिया।"—इस संक्षिप्त भूमिका के साथ मैंने उसे सारी परिस्थिति से अवगत कराया। उसने बताया कि सेना आपके आदेश की प्रतीक्षा में तैयार बैठी है।

परम्परा के अनुसार आपात् स्थिति का तूर्य बजवाने के पूर्व हमें प्रधान सेनानायक से परामर्श करना चाहिए था; पर मैं ऐसा कर नहीं सका था। इससे मैं प्रधान सेनानायक से बातें करते समय एक प्रकार के संकोच का अनुभव कर रहा था। फिर भी मैंने धीरे-धीरे उन परिस्थितियों की चर्चा की जिनके कारण मैं ऐसा कर नहीं पाया और अन्त में उसकी राय जाननी चाही।

पहले वह कुछ कहने से सकपकाया। जब मैंने उसे हर प्रकार से अभय का विश्वास दिलाया और वह आश्वस्त हो गया तब वह अत्यन्त संयत भाषा में विनयपूर्वक बोला,—"...यों तो आप स्वामी हैं और मैं आपका सेवक। जो भी आदेश होगा, उसे शिरोधार्य करूँगा ही।....किन्तु यदि मुझे निर्णय लेना होता तो मैं अहिच्छत्र की सेना कभी इस चढ़ाई में न भेजता।" इतना कहते-कहते वह अचानक चुप हो गया। उसे ऐसा लगा जैसे वह मेरी आलोचना कर रहा हो।

मैंने उसे पुनः अभय के लिए आश्वस्त किया और पूछा,—"आप ऐसा निर्णय क्यों लेते ?"

"पहली बात तो यह है कि दुर्योधन ने आपको बुलाया है, अहिच्छत्र की सेना को नहीं....।"

उसकी बात पूरी हो, मैंने बीच में ही टोका,—"क्या मैं और अहिच्छत्र दो हूँ ?"

"नहीं, ऐसी बात भी नहीं है।"—उसके स्वर में थोड़ी निर्भयता आयी,—"कौरवकुमार का आपको बुलाना एक राजा द्वारा राजा को आमंत्रण नहीं था, वरन् एक स्वामी की सेवक के लिए बुलाहट थी। आप कौरवों के सेवक हो सकते हैं, पर आपकी सेना उनकी चाकर नहीं है।"—मैं एकदम अवाक्-सा रह गया। क्या कह डाला मेरे प्रधान सेनानायक मुक्तेश्वर ने।

"आखिर तुम ऐसा क्यों नहीं मानते कि यह आह्वान एक राजा का राजा द्वारा था ?" मैंने बड़ी गम्भीरता से पूछा।

"...जिन परिस्थितियों की आपने चर्चा की है, उससे तो यही स्पष्ट लगता है कि कौरवकुमार व्यग्रता में आपको बुलाने चले आये थे जैसे किसी स्थिति से घबराकर कोई स्वामी अपने सेवक के यहाँ पहुँच जाये।....यदि वह आपको राजा समझते तो नियमतः आपको युद्ध का निमंत्रण देते। उसे मानना न मानना आपके अधिकार में होता, पर ऐसा है नहीं। हस्तिनापुर के आदेश का पालन आपको करना ही पड़ेगा।...न चाहते हुए भी आपको जाना ही पड़ेगा।....हस्तिनापुर में आपकी वही स्थिति है जो आपके यहाँ मुझ जैसे सेवक

की।" मुक्तेश्वर के अधरों के बीच एक हल्की-सी मुस्कराहट आयी और वह चुप हो गया।

मैं बिल्कुल निर्वाक् था,—आप विश्वास करें—मैं एकदम चुप था। मैं क्या कहूँ, सोच नहीं पाया। शब्दों का ऐसा अकाल मेरे मस्तिष्क में कभी नहीं पड़ा था।

उसे अवश्य लगा कि उसने मेरे मर्म पर आघात किया है। शीघ्र ही बातों का सिलसिला दूसरी ओर मोड़ते हुए बोला,—"…श्रीमन्,—द्रुपद के अतिरिक्त इस समय आर्यावर्त में अहिच्छत्र का कोई शत्रु नहीं है।…फिर व्यर्थ में विराट को भी शत्रु बनाने से क्या लाभ? दूसरी बात एक और है।…हस्तिनापुर अपनी पूरी सैन्य-शक्ति के साथ जा रहा है। साथ ही, यदि आपकी भी सेना चली जायगी तो अहिच्छत्र एकदम अरक्षित हो जायेगा।…यदि द्रुपद ने चढ़ाई कर दी तो?"

सचमुच विचारणीय प्रश्न उपस्थित कर दिया था, मुक्तेश्वर ने। मैं सोचता रह गया। सहसा मेरे मन में विचार उठा। मुझे लगा, अब साँप भी मर जायेगा और लाठी भी नहीं टूटेगी। मैंने शीघ्र ही अश्वत्थ को बुलाया।

मुक्तेश्वर घबराया कि मेरे कथन पर बिना अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त किये और बिना कुछ बोले आचार्यजी ने अश्वत्थ को क्यों बुलाया?—वह अत्यन्त विनीत भाव से गिड़गिड़ाया,—"मुझसे कोई भूल हो गयी क्या?"

"नहीं, कोई बात नहीं।…मैं चाहता हूँ कि कृपी को भी बुला लिया जाय। धड़ से दूसरा परिचारक कृपी को बुलाने के लिए दौड़ा।

क्षण-भर में दोनों आ गये।

मैंने दोनों को सम्बोधित करते हुए कहा,—"…हम लोग अभी गम्भीरता से विचार कर रहे थे। हम दोनों इस प्रश्न पर एकमत हैं कि विराट पर आक्रमण के लिए हमें अहिच्छत्र की सेना नहीं ले जानी चाहिए, क्योंकि हमारा शत्रु द्रुपद हमारे बगल में ही है। यदि उसने आक्रमण कर दिया तो हम लाचार हो जायेंगे…हस्तिनापुर भी हमारी सहायता के लिए आ नहीं सकेगा।"

"तब?"—अश्वत्थ की भौंहों में टेढ़ापन आया।

"तब क्या ?"...हम तुम हस्तिनापुर की सेना के साथ चलेंगे। हमारे राज्य में आपात् स्थिति बनी रहेगी। सेना प्रतिपल तैयार रहेगी। विराट की स्थिति देखेंगे, यदि सेना की आवश्यकता होगी तो हम तुम्हें भेजेंगे। तुम अहिच्छत्र की सुरक्षा के लिए आधी सेना लेकर यहाँ रह जाना और आधी सैन्य-शक्ति के साथ मुक्तेश्वर को भेज देना।

अश्वत्थ सोचता रह गया। हम सब भी चुप थे। वह थोड़ी देर बाद बोला,—"ठीक है, ऐसा ही कीजिए।"

"...इसीलिए मैंने तुम दोनों को यहीं बुला लिया, जिससे कि सारी बातें साफ-साफ हो जायें। किसी के मन में किसी प्रकार का भ्रम या सन्देह न रहे। "—इतना कहने के बाद मैं दोनों से ही बोला,—"अच्छा, अब आप जा सकते हैं ?" पहले अश्वत्थ गया और बाद में कृपी मुस्कराती हुई प्रतीक्षा-कक्ष से निकली। उसकी मुस्कराहट निश्चित रूप से उसकी ही बात अश्वत्थ से मना लेने की चतुराई पर मुझे 'धन्यवाद' दे रही थी।

दो घड़ी दिन और चढ़ा। सूर्य की प्रखर किरणें सीधी पड़ने लगी थी। मैंने अपने और अश्वत्थ के लिए अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित दो रथों को तैयार रहने का आदेश दे दिया था। अपराह्न में राज-ज्योतिषी के बताये मुहूर्त पर हस्तिनापुर के लिए चल पड़ना था। मैं तैयारी में था।

सहसा मुझे सूचना मिली कि एक रथ बड़ी तेजी से प्रासाद की ओर आ रहा है। मैंने समझा कदाचित् कोई कौरवकुमार पुनः कोई महत्त्वपूर्ण सूचना देने आ रहा हो। मैं प्रासाद के पिछले द्वार से निकलकर उद्यान की ओर बढ़ा। रथ उद्यान के मुख्यद्वार पर आकर रुक गया। पहले उस पर से दो सैनिक उतरे। फिर मैंने देखा, एक युवती रथ पर से कूदी और एक सैनिक की कमर से असि खींचकर मेरी ओर बढ़ी। कुछ और आगे आकर उसने मुझे प्रणाम किया। अरे, यह तो पुलोमा है। मुझे हँसी आ गयी।

वह मेरे निकट आकर अत्यन्त अशिष्ट ढंग से असि घुमाने लगी, पहले तो मैं हँसा, किन्तु जब उसकी अशिष्टता अत्यन्त दुर्विनीत हो उठी, तो मुझे क्रोध आ गया। "बन्द करो यह खिलवाड़।"—मैं तड़पा।

वह पलभर में विनीत हो अभिवादन करने के लिए झुकी और बड़े भाव से बोली,—"महाराज, कल ब्राह्म मुहूर्त में ही हस्तिनापुर की सेना विराट पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान करेगी।"

"यह मुझे ज्ञात है, किन्तु इस प्रकार की अशिष्टता क्यों की गयी ?" मैंने आक्रोश में पूछा।

"मेरी अशिष्टता क्षमा हो महाराज।...मैं तो युद्ध की सूचना देने आयी थी, अतएव युद्ध के लिए आपकी मुद्रा बनाने के लिए ही मैंने ऐसा किया था।

"मुद्रा बनाने के लिए ?"—मैं समझ नहीं पाया।

"जी।...जिससे आप कुछ क्रोध में हो जायें।...क्रोध में युद्ध का निमंत्रण बड़ा अच्छा लगता है, महाराज।" इतना कहते-कहते वह मुस्करायी। मुझे भी हँसी आ गयी। मेरे मुँह से निकल पड़ा, "...तू बूढ़ी हो जायेगी, फिर भी तेरा लड़कपन नहीं जायेगा।"

उसने अनेक बार चरण-स्पर्श कर क्षमा माँगी, पर उसके 'करतब' पर मुझे हँसी आती रही।

पुलोमा को देखते ही कुछ जानने की इच्छा हो जाना स्वाभाविक ही था। वह स्वयं भी अवसर मिलते ही बताने लगती थी। इसीलिए मैं उसे लेकर अन्तःपुर की ओर चला गया। उसे देखते ही कृपी आ गयी।

उसने बताया कि 'कीचक-वध' का समाचार सुनते ही राजभवन की निद्रा लुप्त हो गयी है, इतने दिनों की सुख-शान्ति जैसे भाप बनकर उड़ गयी है। यह घबराहट का ही परिणाम है कि कल दुर्योधन स्वयं चले आये थे और आज उन्होंने ही मुझे भेजा है कि कहीं आचार्य विस्मरण का बहाना कर आना-कानी न कर बैठें।

मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि दुर्योधन के मन में सदा मेरे सम्बन्ध में सन्देह बना रहता है। मैंने बात बदलते हुए पूछा,—"ऐसा भी कोई है जो इस खबर से घबराया न हो ?"

राजभवन में तो कदाचित् कोई नहीं है, लेकिन हाँ, जनता में अनेक लोग है जो पाण्डवों के जीवित बच जाने की सम्भावना मात्र से प्रसन्न हैं।"

"तू विदुरजी से नहीं मिली ?"—यह प्रश्न कृपी का था।

"नहीं, उनसे तो नहीं मिली।"—फिर जैसे उसके मस्तिष्क को झटका-सा लगा,—"...किन्तु हाँ, माताजी अवश्य मिल गयी थीं।"

"कौन माताजी ?"

"अरे वही, पाण्डव-माता कुन्ती।...जानते हैं उन्होंने क्या कहा।" निश्चित ही उसने बताने की इच्छा से ही यह प्रश्न पूछा था...और स्वयं कहने लगी पाण्डव माता बहुत ही प्रसन्न हैं। जब मैंने उनसे आक्रमण की तैयारी की बात कही तब उन्होंने कहा,—"हाँ, मैंने भी सुना है। पर देखो, यदि भगवान ने चाहा तो यह भी विपत्ति टल जायेगी।"

"क्यों ?"—मैंने पूछा।

"पुलोमा ने कहा कि उन्होंने बताया है कि अब एकाध दिन ही अज्ञातवास के शेष हैं, जो हो सकता है आक्रमण करते-करते ही समाप्त हो जाये।" फिर पुलोमा की मुद्रा बदली और सोचते हुए बोली,—"...किन्तु आचार्यजी राज-महल में तो लोग कह रहे थे कि अभी दस-पन्द्रह दिन बाकी है।"

"वे भ्रम में हैं।"

"क्यों ?"

"क्योंकि पुत्र के वियोग में एक-एक दिन का जैसा हिसाब माँ रख सकती है वैसा कोई दूसरा नहीं रख सकता।"

पुलोमा मेरे तर्क से सहमत थी। वह मेरा मुख देखती रह गयी।

"कुछ और कहा कुन्ती ने ?"—मेरी जिज्ञासा शान्त न रह सकी।

"हाँ, मुख्य बात तो रह ही गयी।...आक्रमण के सन्दर्भ में वह कह रही थीं कि शायद आचार्यजी न जायें।

"क्यों ?"

"मेरे पूछने पर वे इसका कारण बता पाने में असमर्थ थीं।" पुलोमा ने कहा।

कुन्ती से सम्बन्धित अनेक सन्दर्भ मेरी आँखों के सामने नाचने लगे। मैं सोचने लगा कि उसने मेरी विवशता नहीं समझी और मुझे अपनी आत्मीयता

की सीमा-रेखा के भीतर घेर लिया। मैं बड़ी द्विविधा में पड़ा। सोचा, कह दूँ कि कुन्ती का सोचना ठीक है। न जाने की इच्छा होकर भी जा रहा हूँ, अकेला जा रहा हूँ, एकदम अकेला। केवल अश्वत्थ को साथ लेकर। मेरी सारी सैन्य-शक्ति अहिच्छत्र में रह जायेगी।

किन्तु यह बात भी मुँह से निकलते-निकलते रह गयी। जैसे मेरे मन ने ही मुझसे कहा—पुलोमा अपनी दुर्बलता में नारी ही है। कदाचित् उसके पेट में बात पचे, न पचे। यदि कौरवों को मालूम होगा तो ठीक नहीं। अतएव मैं मौन रह गया, एकदम चुप।

मनुष्य संसार में उतना किसी से नहीं परेशान होता, जितना अपनी भावुकता से परेशान होता है। मैं इस समय अपनी भावुकता से परेशान था और मेरा विश्वास है कि जब कुन्ती यह सुनेगी कि कौरवों के साथ मैं भी आक्रमण के निमित्त गया हूँ तो वह भी अपनी भावुकता से परेशान ही होगी।

पराजय, वह भी ऐसी पराजय जिसकी कल्पना किसी ने नहीं की थी।

कोई व्यक्ति अपनी पराजय का वर्णन ऐसा खुलकर नहीं करता जितना मैं करने जा रहा हूँ, इसलिए नहीं कि मैं निर्लज्ज हूँ, इसलिए भी नहीं कि कौरवों की पराजय के वर्णन में मुझे सन्तोष का अनुभव होता है, वरन् इसलिए कि मैं अपने शिष्य के हाथों पराजित हुआ था। यह पराजय भी मेरे लिए गौरव की बात थी।

गर्मी थी। विराट का युद्ध-स्थल कुम्भकार के आँवें-सा तप रहा था। कौरवों की सेना ने प्रातःकाल से ही विराट राज्य की सीमा पर उपद्रव करना आरम्भ कर दिया था, पर चार घड़ी तक कोई भी हमारा सामना करने नहीं आया। योजनानुसार कल सुशर्मा ने इस राज्य पर चढ़ाई की थी और विराटेश्वर को बन्दी बनाकर वह ले गया था। कौरव सेना के पहुँचते ही चारों ओर हाहाकार हो उठा।

किसी प्रकार का प्रतिरोध न होते देखकर हमारी सेना ने विराट राज्य की सीमा में घुसकर गायें इकट्ठी करना आरम्भ कर दिया था। दुर्योधन और उसके भाई इस कार्य में बड़ी क्षिप्रता से लगे थे। कर्ण भी किसी से पीछे नहीं था। पश्चिम ओर सबसे पीछे सेना के पार्श्वभाग में पितामह थे और पूर्व की ओर मैं था।

मैंने देखा, एक लुज-लुज वृद्ध लकुटी के सहारे घबराया हुआ मेरी ओर चला आ रहा है। अनाक्रामक वृद्ध युद्ध में अवध्य माना जाता था, इसलिए उसे मृत्यु की चिन्ता तो निश्चित ही नहीं रही होगी। फिर भी उसकी व्यग्रता उसे मेरी ओर झोंके जा रही है। मेरी ही ओर उसके आने के ढंग से कुछ ऐसा लगा जैसे वह मुझे पहचान रहा हो।

मैंने भी अपना रथ उधर ही मोड़ दिया। निकट आकर वृद्ध कुछ विचित्र ढंग से बोला,—आप तो ब्राह्मण मालूम पड़ते हैं।"

मुझे हँसी आ गयी,—"क्यों, ब्राह्मण को कोई सींग-पूँछ होती है क्या ?"

"नहीं श्रीमन्। ऐसा तो नहीं है।—यदि ऐसा होता तो मैं आपको ब्राह्मण न कहकर जानवर कहता।"

मुझे ऐसे तीखे उत्तर की उससे आशा नहीं थी। मैं झेंप-सा गया और अपनी झेंप मिटाते हुए कुछ झुँझलाहट-भरे स्वर में बोला,—"...जी हाँ, मैं ब्राह्मण हूँ, बोलिए आप क्या चाहते हैं ?"

"मैं चाहता हूँ कि आप शास्त्र वचन का पालन करें और यह लूटपाट बन्द कर दें।"

मैं चुप था।

बूढ़े ने पुनः कहा,—"शास्त्र कहता है कि जो स्वयं विपत्ति में हो उस पर आक्रमण नहीं करना चाहिए।"

"...और राजनीति कहती है कि आक्रमण करने का यही सबसे अच्छा अवसर है।"

"इसीलिए तो पहले मैंने आप से ब्राह्मण होने की सम्पुष्टि करायी थी।...यदि आप क्षत्रिय होते तो मैं ऐसा न कहता।"

"क्यों, शास्त्र-वचन केवल ब्राह्मणों के ही लिए हैं ?"

"नहीं। है तो सबके लिए, किन्तु ब्राह्मण उसके लिए सबसे अधिक प्रतिबद्ध है क्योंकि यह उसी की रचना है।"

मैं कुछ नहीं बोला। वही कहता गया,—"''हमारा देश विपत्ति में फँसा है।''राजा को सुशर्मा बन्दी बनाकर ले गया। सेना पराजय की ग्लानि में स्वयं रण से विमुख हो गयी। युवराज उत्तर बेचारा क्या करे ? उसने इतनी बड़ी सेना और इतने योद्धाओं को एक साथ कभी देखा ही नहीं।"

"किन्तु इस प्रकार का निवेदन उत्तर को स्वयं करना चाहिए।''आप कौन हैं ?"

"मैं निकट के ग्राम का प्रमुख हूँ। कभी विराटेश्वर का मुख्य पारिषद् था। अब राजनीति से संन्यास ले बैठा हूँ।"—एक साँस में अपना परिचय दे देने के बाद उसने बताया,—"''मैंने देखा कि उत्तर आ रहा था, पर इतनी विशाल सेना देखकर वह घबरा गया और रथ से उतर भागा।"

"''तो क्या भागकर महल में चला गया ?"—मुझे हँसी आ गयी।

"जी नहीं। उसके सारथी ने उसे समझा-बुझाकर पुनः रथ पर बैठाया, पर वह रथ को युद्धस्थल की ओर न ले जाकर दूसरी ओर ही ले गयी है।"

"ले गयी है ?''क्या कहा ?"

"जी हाँ, वह सारथी पुरुष नहीं नारी है।"

"विचित्र देश है, जहाँ नारियाँ सारथी का कार्य करती हैं''योद्धाओं को ढाढ़स बँधाती हैं और पुरुष युद्धक्षेत्र छोड़कर भागते हैं।" मुझे हँसी आ गयी। वह मेरा मुख देखता रह गया। फिर बड़े साहस के साथ बोला,—"आर्य, यह ऐसा देश नहीं है। केवल उत्तर के सारथी को ही मैंने नारी देखा है। मेरे जीवन की यह पहली घटना है।"

जिस बात पर मुझे आश्चर्य करना चाहिए था उस पर हँसी आ रही थी। मैं हँस रहा था।

वह झुँझलाया,—"आप हँस रहे हैं, खूब हँसिए।''न रहा आज कीचक, नहीं तो हँसने के लिए आपको अवसर ही न मिलता।" ज्योंहीं उसकी दृष्टि

हमारे सेना की ओर गयी, वह गिड़गिड़ाने लगा,—"भगवान के नाम पर दया कीजिए। असहाय की गौएँ मत छीनिए।"

"भाई, यह चढ़ाई मैंने नहीं कौरवों ने की है। मैं तो उनके साथ चला भर आया हूँ।"

"तब किससे प्रार्थना करूँ महाराज ?" उसने पूछा। मैंने गोओं को एकत्र कर रहे दुर्योधन की ओर संकेत किया। वह मुझसे काफी दूर दक्षिण की ओर था।

बूढ़ा उस ओर बढ़ा ही था कि मेरे कानों में अर्जुन के शंख की चीखती ध्वनि पड़ी।

"अरे यह तो अर्जुन ही है।"—मैं इतना कहता हुआ पितामह की ओर चला। तब तक वायु-वेग से आते उसके रथ की भयंकर गड़गड़ाहट से सेना के दक्षिण पार्श्व में भगदड़ मच गयी।

"अरे, रथ पर तो एक स्त्री बैठी है।" किसी ने कहा। हम सबने बड़े ध्यान से देखना आरम्भ किया, किन्तु रथ की गति इतनी तीव्र थी और वह इतनी दूरी पर था कि कुछ भी साफ दिखायी नहीं पड़ा।

"लगता है, विराटेश्वर के बन्दी हो जाने पर उसकी रानी लड़ने के लिए आ रही है।"—यह दूसरी आवाज थी, पर निरन्तर बज रहे शंख ने मुझे बता दिया था कि यह कोई और नहीं अर्जुन ही है।...किन्तु नारी वेष में, मैं कुछ समझ नहीं पाया।

जैसा मैंने बताया, मैं पितामह की ओर बढ़ रहा था और पितामह मेरी ओर चले आ रहे थे।

हम लोगों के मिलते-मिलते कर्ण और दुर्योधन भी आ गये। सब का विचार यही था कि यह अर्जुन ही है। दुर्योधन की आकृति पर प्रसन्नता एवं भय दोनों के भाव थे। भय इस बात का था कि युद्ध घमासान होगा। प्रसन्नता इस बात की थी कि अर्जुन पहचान लिया गया और अज्ञातवास की अवधि पूरी नहीं हुई।

अवधि के सम्बन्ध में मैंने पितामह से पूछा। पितामह ने सब के सामने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मेरी गणना के अनुसार अवधि बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी है। सम्भवत: यह पहला अवसर था जब पितामह ने कोई बात स्पष्ट कही हो।

किन्तु अब क्या करना चाहिए। युद्ध किया जाय या नहीं, इस पर पितामह का मन साफ नहीं था। कृपाचार्य का विचार था कि जब देश में राजा न हो तो युद्ध नहीं करना चाहिए। मेरा भी यही विचार था। जहाँ तक पाण्डवों के पहचाने जाने का प्रश्न था, अर्जुन पहचान लिया गया था। युद्ध में पराजय की आशंका मुझे आरम्भ से ही बनी थी। मैं कह नहीं सकता, ऐसा क्यों था। मेरे मन में ऐसी कालिमा रह-रहकर क्यों उठ रही थी? मेरे युद्ध न छेड़ने का कृपा ने भी जोरदार समर्थन किया।

यह बात दुर्योधन और कर्ण को अच्छी नहीं लगी। वे दोनों युद्ध के पक्ष में थे। कर्ण ने तो मुझे बहुत बुरा-भला कहा। यहाँ तक कि यह बात अश्वत्थ को भी बहुत बुरी लगी। वह चिढ़कर बोल पड़ा,—"लड़ाई नहीं होगी, नहीं होगी ...नहीं होगी।...आप लोग क्या करेंगे?"

"हम लोग लड़ लेंगे।" कर्ण ने कहा,—"क्योंकि इस समय अर्जुन अकेला है।"

"कौन जाने और भी उसके भाई आ रहे हों।" अश्वत्थ बोला।

"तो उन्हें भी आने दीजिए।"—कर्ण का गर्व उछाल मार रहा था।

मैंने एक बार फिर समझाने का प्रयत्न किया,—"अन्य भाई हों चाहे न हों, अर्जुन अकेला ही बहुत है।...जिस समय उसने निवातकवच और पौलोम दैत्यों से युद्ध किया था तब भी अकेला ही था।...तुम लोगों की घोष-यात्रा के समय जब गन्धर्वों ने तुम्हें बन्दी बना लिया था उस समय अकेले ही उन्हें परास्त कर अर्जुन ने तुम लोगों को गन्धर्वों से मुक्त कराया था।"

अर्जुन के नाम से कर्ण को बेहद घृणा थी। इतना सुनते ही वह आपे से बाहर हो गया और अपनी मर्यादा का ध्यान न रखकर उसने ऐसी-ऐसी बातें कह डालीं जो उसे नहीं कहनी चाहिए थीं।

आखिर सुनने की भी एक सीमा होती है। मारे क्रोध के मैंने युद्ध से साफ इन्कार कर दिया। कृपाचार्य मेरे साथ थे ही। अश्वत्थ भी दुःखी हो बोला,—"इतना अपमानित होने से अच्छा है कि हम युद्ध से लौट चलें।"

सचमुच हम लौट चलने ही वाले थे कि दुर्योधन बड़ी आत्मीयता से अश्वत्थ से बोला,—"भैया, तुम भी ऐसा कहोगे?"

"...तो कौन लड़ेगा इस अधिरथ के बच्चे को साथ लेकर।"—अश्वत्थ क्रोध से काँप रहा था। दुर्योधन उसे अलग ले जाकर समझाने लगा।

इसी बीच दो सनसनाते तीर आये और मेरे चरणों पर गिर पड़े। मैं समझ गया कि यह अर्जुन है जो मुझे प्रणाम कर रहा है। मैंने पितामह से कहा। वह एकदम घबरा गये,—"देखिए, हम लोगों की शंका ठीक ही निकली।... किन्तु वह जो रथ से बाण चला रहा है, औरतों की साड़ी पहने हैं।"

"बात चाहे जो हो, यह टंकार गांडीव की ही है।"—मैंने कहा, तब तक दो और बाण सनसनाते हुए मेरे दाहिने कान के बगल से निकल गये। मैंने पुनः पितामह से कहा,—"यह अर्जुन ही है जो बाण मारकर मेरा कुशल समाचार पूछ रहा है।"

पितामह ने दुर्योधन को समझाया—"...नियमतः जब तक आचार्यजी बाण मारकर आशीर्वाद नहीं देंगे तब तक अर्जुन प्रहार नहीं करेगा।...इसी बीच तुम गायें लेकर दक्षिणी पार्श्व से युद्ध से निकल जाओ।"

विपत्ति और व्यग्रता वह अग्नि है जिसमें अहं कपूर की तरह जल जाता है। एक आज्ञाकारी सेवक की भाँति दुर्योधन ने उस समय बातें मान लीं और गायों को हँकाता हुआ वह युद्धस्थल से निकल चला।

अर्जुन ने उसे देख लिया और वायु-वेग से उसका पीछा किया। दुर्योधन निकल नहीं पाया। युद्ध होने लगा।

पहले पितामह ने अर्जुन का सामना किया और वे शीघ्र ही परास्त हुए। फिर जो घमासान लड़ाई हुई कि मत पूछिए। कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य सब की हालत खराब हो गयी। मेरा शरीर भी बाणों से बिंध गया। पितामह ने तो अपना रथ युद्धस्थल से एकदम पीछे कर लिया।

एक ओर अपराह्न की धूल-भरी तेज हवा और आकाश से बरसती ज्वाला तथा दूसरी ओर अर्जुन के बेधते विषम बाण। विचित्र स्थिति थी। दुर्योधन और कर्ण दोनों रक्त से लथपथ हो गये थे। मन में आ रहा था कि कर्ण से कहूँ—देखा बेटे, अकेले अर्जुन का पराक्रम, पर इसके लिए भी अवसर नहीं था। विद्युत् वेग से चलनेवाला उसका रथ अभी यहाँ और अभी वहाँ पहुँच जाता था। धूल से बनते बादलों के बीच वह तड़ित्-तरंग-सा दिखायी पड़ता और लुप्त होता रहता था।

ऐसा अद्भुत युद्ध-कौशल देखता हुआ सूर्य पश्चिम की ओर झुकने लगा था। लड़ाई का मैदान अब भी रथों की गड़गड़ाहट से काँप रहा था। अचानक मैंने अनुभव किया कि अर्जुन ने कोई आग्नेय अस्त्र फेंका। एक विशेष प्रकार का गन्ध-भरा विषैला धुआँ उठने लगा। देखते-देखते सारी सेना उस धुएँ में डूब गयी। अब हमारे चारों ओर धुंध-ही-धुन्ध था। दो-चार हाथ आगे पीछे की वस्तु भी हमे दिखायी नहीं पड़ती थी। सहसा मेरा रथ कृपाचार्य के रथ से टकरा गया। घोड़े घायल हो गये। रथ टुकड़े-टुकड़े होते-होते बच गया। "रथ का संचालन एकदम बन्द कर दें, जो जहाँ हैं वहीं खड़े रहें, अन्यथा आपस में ही लड़कर चूर हो जाइएगा।"—मैं चिल्लाया। धुएँ के परतों को चीरती मेरी आवाज ने जादू का असर किया। जो जहाँ था वहीं खड़ा हो गया। सारी कौरव सेना किकर्त्तव्यविमूढ़ हो गयी।

रथों की गड़गड़ाहट तूफान के बाद के समुद्र की भाँति शान्त हो गयी। अर्जुन का रथ भी दूर चला गया या उस धूम-जंजाल में कहीं मौन खड़ा हो गया, कुछ पता नहीं। एक विचित्र चुप्पी ने हम सब को दबोच लिया। केवल घोड़ों के हिनहिनाने के अतिरिक्त और किसी प्रकार की आवाज जीवित नहीं रह गयी थी।

धुआँ गाढ़ा होता गया। मुझे एक विस्मयकारी अनुभूति हुई। ऐसा लगा, जैसे मेरी आँखें झप रही हैं। शरीर शिथिल पड़ता जा रहा है। मुझे नींद आ रही है। मैंने अश्वत्थ को पुकारा—"वाम पार्श्व में आओ" किन्तु लगा, जैसे मेरे मुख से आवाज ही नहीं निकल रही है। मैं बोलना कुछ चाह

रहा हूँ और बोल कुछ जा रहा हूँ। मेरी आँखों के सामने भी धुन्ध का पर्दा घना होता गया। मैंने बड़ी चेष्टा से सारथी की ओर हाथ बढ़ाया। मुझे अनुभव हुआ कि वह भी ढुलक चुका है। इसके बाद मुझे कुछ नहीं मालूम। मेरी चेतना उस धुन्ध के भीतर पाखण्ड में सत्य की तरह विलीन हो गयी।

जब मेरी चेतना लौटने के निकट थी, मुझे लगा, कोई मेरे मुख पर पानी छिड़क रहा है और कुछ लोग मुझे घेरे हुए खड़े हैं। ऐसा कुछ भान तो मुझे हो रहा था, पर मेरी पलकें खुलना नहीं चाहती थीं; मानो उन पर मन-मन-भर के पत्थर बँधे हों। थोड़ी देर के बाद जब मैं किसी तरह आँखें खोल पाया, मैंने देखा, कृपा, दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, विकर्ण मेरे चारों ओर हैं, पर सभी नंगे हैं। केवल अधोवस्त्र पहने हैं। मैंने बार-बार आँखें मीचीं और बार-बार उन्हें निहारा। आखिर ये नग्न क्यों हैं ? मैं समझ नहीं पाया।

"मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ।"—मेरे मुख से निकला।

पर सब चुप थे। दृष्टि नीची किये दबे-दबे-से खड़े थे। लगभग सभी के तनों से रक्त बह रहा था। अब मुझ पर पानी के छींटे डालना भी बन्द कर दिया गया था।

"तुम लोग चुप क्यों हो ? बोलते क्यों नहीं ?" मैं स्वप्न देख रहा हूँ या सत्य है।

फिर भी सब चुप थे। जैसे उनकी जबान पर दही जमा हो।

जब मुझे अच्छी तरह विश्वास हो गया कि मैं जाग्रत अवस्था में हूँ और मेरी चेतना पूरी तरह लौट आयी, धुआँ करीब-करीब गायब हो गया था। हमें बताया गया कि मैं ही नहीं, वरन् पूरी सेना मूर्छित हो गयी थी और मूर्छा अवस्था में ही किसी ने हम सभी बड़े-बड़े योद्धाओं के उत्तरीय उतार लिये हैं। मैंने भी चारों ओर देखा, मेरा भी उत्तरीय लुप्त था। मैंने ऐसी लड़ाई अपने जीवन में कभी नहीं लड़ी थी और न इतना कभी अपमानित ही हुआ था।

इस समय कोई भी विरोधी युद्धस्थल में नहीं था। केवल अपना-सा मुँह लेकर हमी रह गये थे।

किसी ने मुझे बताया कि पितामह को छोड़कर सभी बेहोश हो गये थे, क्योंकि वे धुएँ के घेराव के बाहर थे। पर जब लोगों ने पूछा कि हमारा उत्तरीय कौन ले गया तब वे न बता सके। उनका कहना था,—मैं धुएँ के बाहर अवश्य था, पर मेरी भी चेतना कुछ-कुछ लुप्त हो गयी थी।....हाँ, मैंने अर्जुन के रथ को धुएँ की परतों के भीतर जाते अवश्य देखा था किन्तु भीतर उसने क्या किया यह मुझे नहीं मालूम।"

औरों से ही मुझे मालूम हुआ कि मेरी चेतना अन्य लोगों के बाद में लुप्त हुई थी और बाद में ही आयी थी। मुझे होश में आता न देखकर लोग घबरा गये थे और जल छिड़ककर मुझे जगाने की कोशिश कर रहे थे।

"हम लोग निर्वसन कर दिये गये, इससे तो अच्छा था कि हम युद्धस्थल पर निष्प्राण कर दिये जाते।....कम-से-कम मुँह में कालिख पोतकर तो हस्तिनापुर न लौटते।" मैं बड़े ही क्रोध और झुँझलाहट-भरे स्वर में बोला।

मुझे क्रोध था कर्ण पर, मुझे क्रोध था दुर्योधन पर, मुझे क्रोध था उन सब पर, जो मेरी बात न मानकर व्यर्थ में विपत्ति मोल ले बैठे थे। मैंने उसी क्रोध में कर्ण से कहा,—"देख लिया आपने अकेले अर्जुन को।"

वह दृष्टि नीची किये हुए चुप था और क्रोध में दीपशिखा की भाँति काँप रहा था।

जब हम लोग अपना-सा मुँह लेकर लौटे, रात का अँधेरा सन्ध्या की लालिमा को निगल चुका था। हवा अब भी तेज बह रही थी। दिशाएँ साँय-साँय कर रही थीं। सभी लोग आगे निकल गये थे। केवल मेरा ही रथ पीछे रह गया था।

सहसा मुझसे उस अन्धकार को चीरती एक आवाज टकरायी,—"जरा रुकना, अरे ओ ब्राह्मण देवता।"—मैंने मुड़कर देखा, यह वही वृद्ध था जो प्रातः युद्ध रोक देने की याचना कर रहा था। मेरी ग्लानि ने मुझे रथ रोकने नहीं दिया। मैं आगे बढ़ता गया। बूढ़ा चिल्लाता रहा। अन्त में मेरे विवेक ने कहा,—"देखो, कोई विशेष बात तो नहीं है।"—मैंने रथ घुमवाया, वह निकट आकर जोर से हँसने लगा,—"खाली हाथ जा रहे हो।....अरे कुछ तो लेते

जाओ।" इतना कहकर वह झुका और धरती से एक मुट्ठी धूल उठाकर मेरी ओर बढ़ाया। मैंने अपनी हथेली में उसे ले लिया। मैंने क्यों ऐसा किया, नहीं बता सकता। लगता है, मेरी बुद्धि नष्ट हो गयी थी। मेरी प्रतिष्ठा मुझे उस धूल में मिली हुई दिखायी दे रही थी।

मेरा रथ आगे बढ़ा। उस अँधेरे में भी बूढ़े की उद्धत हँसी बहुत दूर तक मेरा पीछा करती रही····हाँ-हाँ-हाँ।

● ● ●



विराट के पराजय के अपयश की कालिमा हस्तिनापुर के राजनीतिक क्षितिज को बुरी तरह घेरे हुए थी, फिर भी उस पर आशंकाओं और सम्भावनाओं के नये रंग चढ़ते गये। लोगों में यह विश्वास बैठना स्वाभाविक हो गया कि पाण्डव अब अपना आधा राज्य माँगेंगे। कौरव उसे देने के लिए किसी तरह भी राजी नहीं थे। पर हस्तिनापुर की जनता इसे सरासर अन्याय समझती थी। पाण्डवों के प्रति उनकी पहले से ही सहानुभूति थी, किन्तु तेरह बरसों के लम्बे अन्तराल ने जन-मानस पर पड़ी उनकी स्मृतियां धुँधली कर दी थीं। अचानक जब जनता ने जाना कि पाण्डव जीवित हैं और संघर्ष की आँच में तपते रहने के कारण उनकी तेजस्विता कई गुना बढ़ गयी है तो वह परम विह्वल हो उठी थी।

राजा की हार को अपनी हार मानना जनता का धर्म था। विराट में हुई अपमानपूर्ण पराजय की ग्लानि ने प्रासाद के सुख-चैन का गला ही घोंट दिया था, पर जनता पर इसका कोई प्रभाव नहीं था। वह भीतर-ही-भीतर प्रसन्न थी और परोक्ष रूप से कौरवों पर व्यंग्य भी करती थी।

इस सन्दर्भ की एक मनोरंजक घटना याद आ रही है।

शायद हस्तिनापुर के निकट ही सुरपुर की बात है। गंगा तट पर बसी इस छोटी-सी नगरी को प्राकृतिक सम्पदा और सुषमा प्रचुर परिमाण में मिली थी। हस्तिनापुर जाते समय मैं बहुधा इधर से ही जाता था।

उस दिन अष्टमी थी, सुरपुर के हाट का दिन। नियमतः वाणिज्य वैश्यों के ही अधिकार में था, पर आपात स्थिति में ब्राह्मण और क्षत्रिय भी कुछ वस्तुओं का व्यापार कर सकते थे। व्यापार में लाभ का छठा भाग कर के रूप में शासन को देना पड़ता था। विदेशी व्यापारियों के लिए यह अनिवार्य नहीं था। यदि

वे कर न भी दें तो भी उनसे कोई कुछ नहीं कहता था। अन्यों से राज्य कर्मचारी यह कर हाट में ही वसूल कर लेते थे।

मेरा रथ अबाध गति से चला जा रहा था। मैंने देखा, सुरपुर की हाट में एक स्थान पर अधिक लोग इकट्ठे हो गये हैं। काफी भीड़ जुट आयी है, जिज्ञासा हुई। मैंने रथ की गति धीमी करायी और उस ओर देखने लगा।

तक तक एक वणिक् दौड़ा हुआ आया।—"दुहाई आचार्य की।"—कहते हुए उसने मेरे चरणों पर अपना मस्तक धर दिया।

उसके पीछे दौड़ती सारी भीड़ मेरे रथ के चारों ओर आकर खड़ी हो गयी।

"क्या बात है?"—मैंने पूछा।

वह हाँफ रहा था, अपना परिचय देते हुए एक साँस में बोला,—"...मैं हस्तिनापुर की प्रजा नहीं हूँ। विदेशी हूँ। अपने मालिक के साथ रेशमी वस्त्र लेकर इस हाट में आया था। राज्य कर्मचारी हमारा सारा वस्त्र उठा ले गये।"

"आखिर कोई कारण होगा, क्यों उठा ले गये?"—मैंने अत्यन्त गम्भीर हो पूछा।

"वे लाभांश पर कर माँग रहे थे। मैंने कहा, "मालिक नहीं हैं। वह आ जाते हैं तो उनसे माँगना, पर वे नहीं माने।"

"...और यों ही उठाकर बिना कुछ कहे चलते बने?"—मैं उसके कथन के बीच में ही मुस्कराते हुए बोला।

"....नहीं। कहा कि तुम झूठ बोलते हो। तुम्हारा कोई मालिक नहीं है। तुम स्वयं अपने मालिक हो।...हमारा सारा वस्त्र उठा ले गये।...हम तो लुट गये महाराज।"

मैंने स्वीकार किया कि तुम्हारे साथ अन्याय हुआ है।" तुम्हारा मालिक कहाँ है?"

"वह हस्तिनापुर गये हैं।"

"उनको बुलाओ और एक प्रतिवेदन शासन के पास भेजो। तुम लोग तो विदेशी हो, तुमसे नियमतः कर नहीं लिया जाना चाहिए।"

"आज लुट गये न।···अब कल आवेदन भेजो, फिर विनयावनत हो राज-भवन की प्रतिदिन परिक्रमा करो,····और इस बीच भूखों मरो या भिक्षाटन पर जीओ।"—भीड़ में से एक उद्धत आवाज सुनायी पड़ी।

"आचार्यजी कहते हैं न, आवेदन करो।···राज्यकोष से तुम्हारे सारे वस्त्रों का दाम मिल जायेगा।" यह भीड़ में ही टकरायी दूसरी आवाज थी।

"हाँ भाई, आवेदन करो। इस समय राजभवन को रेशमी वस्त्रों की बड़ी आवश्यकता है। हो सकता हैं, राज्य कर्मचारियों से कुरुराज ने ही मँगवाया हो।"—यह भीड़ में से ही उठी तीसरी आवाज थी।

"हाँ श्रीमन्, जरूर आवश्यकता होगी। आखिर सारे वस्त्र विराट के युद्ध में उतार जो लिये गये।"—मैं कह नहीं सकता यह आवाज किधर से आयी थी, किन्तु इसके साथ ही वह हँसी फूटी कि मेरा मस्तिष्क चकरा गया। उस अट्टहास की कारा में जैसे मैं बन्दी हो गया, कुछ बोल नहीं पाया, मन मसोस कर रह गया। मुझे ऐसा लगा मानो पूरी हाट प्रशासन की आलोचना कर रही है। क्या यह राजद्रोह नहीं है?

मेरे सोचने का क्रम जारी था। भीड़ का हास थमा नहीं था, बल्कि थमने को था, तब तक तीसरी आवाज मुझसे टकरायी,—"इस बार तुम सुरपुर आये थे तो तुम्हारे व्यापारिक वस्त्र लूट लिये गये···और कहीं विराट की ओर चले गये होते तब तो तुम्हारे शरीर से ही वस्त्र लोग उतार ले जाते···तुम एकदम बाबा भोलेनाथ के बराती बन जाते।"

इस बार जो अट्टहास हुआ कि मत पूछिए। निश्चित रूप से प्रजा द्वारा शासन की आलोचना थी, जो अन्याय के विरुद्ध उभड़ रही थी। किन्तु यह राजद्रोह नहीं था, वरन् अपनी ही राजनीति में बुरी तरह ग्रस्त राजपक्ष द्वारा जनता की की गयी गम्भीर उपेक्षा का परिणाम था, धरती के तिरस्कार का फल था। मैं कुछ बोलना चाहकर भी नही बोल पाया, क्योंकि मैं जानता हूँ कि कठोर-से-कठोर शासन जो जनता का सिर काट सकता है, वह उसकी जबान नहीं काट सकता।

उस समय मैं पक रहे आँवें की तरह भीतर-ही-भीतर धधकता हुआ भी बाहर से शान्त था। भीड़ आश्विन के मेघों की तरह अट्टहास बरसा कर धीरे-धीरे छँट गयी। मेरा रथ भारी मन से आगे बढ़ा।

मैंने हस्तिनापुर आकर सारी घटना सीधे दुर्योधन को बतायी। इस पर उसका उल्टा ही असर हुआ। न तो उसने इस अन्याय का प्रतिकार किया और न कोई जाँच ही बैठायी, बल्कि इसके विपरीत वह आगबबूला हो गया और बोला,—"आचार्यजी, आपके ही ऐसा था जिसने एक व्यापारी का ऐसा दुर्विनय सह लिया। मैं होता तो सारी भीड़ यमलोक की यात्रा करती दिखायी देती।....आप क्या कहते हैं ?....मुझे स्वयं सूचना मिली है कि जनता में कुछ लोग हैं जो शासन के विरुद्ध विष-वमन कर रहे हैं।"

इसके बाद मैंने कुछ कहना उचित नहीं समझा। मुझे लगा कि कुएँ में ही भाँग पड़ी है।

पाण्डव अब उपप्लव्य नगर में निवास कर रहे थे। यहीं पर विराट-पुत्री उत्तरा का विवाह भी अभिमन्यु से हो गया। उस विवाह में श्रीकृष्ण भी उपस्थित थे, पर कौरव-पक्ष का कोई भी नहीं आया था। मुझे तो निमंत्रण भी नहीं मिला था। बड़ा आश्चर्य था कि ऐसा क्यों हुआ। बाद में पता चला कि हम सब के लिए निमंत्रण लेकर पाण्डवों का एक दूत हस्तिनापुर आया था। वह निमंत्रण ही वहाँ दबा दिया गया। मुझे पुलोमा ने बताया कि धृतराष्ट्र अपने पुत्रों को विवाह में भेजने के पक्ष में थे, पर दुर्योधन ने उनका कड़ा विरोध किया। उसका कहना था कि पुत्र का विवाह था, क्या पाँचों भाइयों में से कोई आ नहीं सकता था जो दूत से निमंत्रण भेजा गया।

"कोई हस्तिनापुर से नहीं गया क्या ?" मैंने पूछा।

"दुर्योधन का चलता तो कोई न जाता, किन्तु महाराज ने संजय द्वारा आशीर्वाद और उपहार भेजवा दिये थे।"

"····मेरे निमंत्रण की सूचना मुझे क्यों नहीं दी गयी।····यह बड़ी गलत बात है।····मैं इस सम्बन्ध में महाराज से बातें करूँगा।"—मैं झुँझलाहट में बोला।

"यह हो सकता है कि आपसे न कहा गया हो, पर मेरे सामने ही आपके युवराज को दुर्योधन ने सारी बातें बतायी थीं।"

"क्या ?···अश्वत्थ को निमंत्रण की बातें मालूम थीं ?"—मैंने साश्चर्य पूछा।

"जी हाँ।" पुलोमा मुस्कराती रह गयी।

इधर मुझसे अश्वत्थ की भेंट बहुत कम हो पाती थी। आजकल वह हस्तिनापुर में ही रह जाता था। कौरव-पुत्रों की निकटता उसे अहिच्छत्र आने नहीं देती थी। मेरी इच्छा थी कि इस सन्दर्भ में मैं उससे पूछूँ। मैंने पुलोमा से ही उसे खोजवाया। पता चला, अभी-अभी व दुर्योधन के साथ कहीं गया है। तब तक संजय अतिथि-भवन की ओर जाता दिखायी दिया। मैंने उसे बुलवाया। मेरा नाम सुनते ही वह दौड़ा हुआ चला आया। बेचारा बड़ा ही भला है, कौरवों की चाकरी करके भी निष्कलुष है। धृतराष्ट्र का निजी सचिव होने के कारण उसे प्रत्येक राजनीति में भाग लेना पड़ता था, किन्तु हवन-कुण्ड से निकलती सुरभि की तरह वह सदा राजनीतिक दाह से ऊपर था। यही कारण था कि उसकी हर जगह पैठ थी और हर जगह सम्मान था।

'सुना है, आप कौरव-पक्ष की ओर से अभिमन्यु के विवाह में सम्मिलित हुए थे।"—मैंने पूछा।

वह मुस्कराया,—"जी हाँ, आपके आशीर्वाद से गया तो था।"

"मेरे आशीर्वाद से नहीं,····अपने महाराजा के आदेश से।"

"आप जो भी कहें।"

"मैं ठीक कह रहा हूँ।···यदि आप मेरे आशीर्वाद से जाते तो मेरा भी उपहार आप लेते जाते, पर मुझे तो निमंत्रण की सूचना तक नहीं दी गयी।"

उसे इसका दुःख था और आश्चर्य भी, पर वह बेचारा क्या करता ! खेद व्यक्त कर रह गया।

मैंने बात स्वयं आगे चलायी—"हम लोगों के उपस्थित न होने का किसी ने कारण नहीं पूछा।"

"पूछा तो अवश्य था, पर श्रीकृष्ण ने ही मेरी ओर से सब के उत्तर दे दिया।"

स्वाभाविक था कि मैं पूछता कि क्या कहा उन्होंने। इसके पहले ही उसने बताया—"...श्रीकृष्ण ने कहा कि इसमें भूल तुम्हारी ओर से हुई है।...तुम्हारे पुत्र का विवाह था, तुममें से कोई स्वयं निमंत्रण लेकर नहीं जा सकता था।.. तुमने दूत से निमंत्रण भेजा, उन्होंने अपने अमात्य को भेज दिया। कौन बुरा किया उन्होंने ?"

संजय ने ही कहा—"धर्मराज ने तो अपनी भूल स्वीकार कर ली, किन्तु अर्जुन ने कहा—"सारा निर्णय इतनी जल्दी लिया गया था कि हम कोई ठीक व्यवस्था कर नहीं पाये।...यदि वे चाहते तो आ सकते थे।"

"क्यों चाहते ?....तुम्हारी ठीक बात तो वह चाहने को तैयार ही नहीं होते, यह अठीक बात कैसे चाह जाते।"—इतना कहने के बाद श्रीकृष्ण अट्टहास कर बैठे थे।

श्रीकृष्ण की वह हँसी संजय के मस्तिष्क में घर कर गयी थी। वह बड़ा प्रभावित था। उसका कहना था कि बड़ी मायावी हँसी होती है, द्वारिकाधीश की। जिस समय वह हँस रहे थे सब स्तब्ध हो उनका चेहरा देखने लगे थे। ऐसा लग रहा था जैसे वह हँस नहीं रहे हैं, वरन् और कुछ कह रहे हैं।

इसके बाद उसने कृष्ण के व्यक्तित्व की विशद चर्चा की और कहा—"कला, साहित्य, राजनीति, युद्धनीति आदि का ऐसा ज्ञाता इस समय आर्यावर्त में कोई दूसरा नहीं है'।

संजय ने ही बताया कि विदुरजी भी गये थे। पाण्डवों ने तो जो उनकी आवभगत की सो की ही; श्रीकृष्ण ने उन्हें बड़ा सम्मान दिया। उन्हें देखते ही वे स्वयं अपने आसन से उठ खड़े हुए थे और अपनी बगल में उन्हें बैठाया था। सारे वैवाहिक कार्यक्रम में उन्हें अपने साथ ही रखा। जब वे उपप्लव्य से लौटने लगे तब पाण्डव तो थोड़ी दूर तक ही उन्हें छोड़ने आये, पर द्वारिकाधीश

लगभग एक योजन तक चले आये थे।"—मैंने देखा, संजय की आँखों में कृष्ण की महत्ता की स्पष्ट छाया थी। मेरे मन ने कहा कि विदुरजी के प्रति द्वारिकाधीश के इस सद्व्यवहार के पीछे जरूर कोई राजनीति होगी, क्योंकि मेरे मन में श्रीकृष्ण के प्रति उतना श्रद्धाभाव नहीं था जितना उनकी बुद्धि का आतंक मेरे मस्तिष्क पर था।

मैंने पूछा—"विदुरजी तो तुम्हारे साथ ही आये होंगे।"

"जी हाँ, आये तो थे हमारे साथ ही।"

"तो मार्ग में कुछ बताया नहीं कि कृष्ण से क्या बातें हुई ?"

"कोई विशेष बात तो नहीं बतायी।''''केवल यही कह रहे थे कि द्वारिकाधीश के विचार से विराट की पराजय का काँटा अभी कौरव अपने हृदय से निकाल नहीं पाये होंगे। वह रह-रहकर उन्हें सालता होगा। इसी से वे इस विवाहोत्सव में नहीं आये।'''और कदाचित् आचार्यजी के न आने का भी यही कारण हो।"

श्रीकृष्ण की यह बात मेरे मन में सुई की तरह चुभ गयी। मैंने सोचा, वास्तविकता क्या है और सोचनेवाले कहाँ तक सोच जाते हैं। निश्चित है कि मेरे न पहुँच पाने का कारण भी कृष्ण ने पाण्डवों को यही बताया होगा।

मुझे श्रीकृष्ण से कहीं अधिक अश्वत्थ पर क्रोध था। यदि वह निमंत्रण की सूचना मुझे देता तो मैं कोई-न-कोई व्यवस्था अवश्य करता।

सन्ध्या के कुछ पहले ही मेरी मुलाकात अश्वत्थ से हो गयी। मैंने उसे डाँटते हुए पूछा—"अभिमन्यु के विवाह के निमंत्रण की सूचना तुम्हें मिली थी ?"

"हाँ, मिली थी।"

"तब तुमने मुझसे क्यों नहीं बताया ?"

"क्या करता बताकर।"

"क्यों ?"

"मुख में कालिख लगाकर जाना मैंने ठीक नहीं समझा!"

"कैसी कालिख ?"

"क्यों ?··· विराट की चढ़ाई के समय लगी कालिख क्या मुख से अभी धुल पायी है।"

अश्वत्थ मेरे प्रश्नों का उत्तर निस्संकोच दिये चला जा रहा था। उसके बोलने का ढंग मुझे अच्छा नहीं लगा। बात बढ़ाने से मैंने स्वयं चुप हो जाना ही ठीक समझा और सोचने लगा, जब मेरा पुत्र ही ऐसा कहता है, तब श्रीकृष्ण ने ही यदि ऐसा सोच लिया तो कौन बुरा किया।

ईर्ष्या यदि मनुष्य में न होती, तो यही संसार स्वर्ग हो जाता।···और यह मरणधर्मा लोक स्वर्ग हो जाये, शायद ईश्वर को यह स्वीकार नहीं था। तभी तो उसने अपनी विलक्षण सृष्टि के साथ-ही-साथ ईर्ष्या को भी धरती पर भेजा, तब से प्रत्येक के मन में यह किसी-न-किसी रूप में रहती है। पर कौरवों के मन में यह औसत से कई गुना अधिक है जिससे वे सुख की नींद सो भी नहीं पाते। क्या कमी है उन्हें ? इतना वैभव, इतनी सम्पदा, इतना विलास, फिर भी सबेरे से सन्ध्या तक हाय-हाय। यदि वे पाण्डवों को आधा राज्य दे देते तो क्या उनके सुख में किसी प्रकार की कमी हो जाती या उनकी प्रतिष्ठा घट जाती ?

किन्तु कौरवों ने ऐसा नहीं किया, यद्यपि द्रुपद का पुरोहित सन्धि का प्रस्ताव लेकर आया था। उस दिन मैं हस्तिनापुर में नहीं था, फिर भी मुझे मालूम हुआ कि उसने धृतराष्ट्र को बहुत समझाया। वह तो किसी तरह मान गये, पर उनके पुत्रों ने सन्धि के पवित्र प्रस्ताव को एकदम ठुकरा दिया। पितामह ने भी समझाया, पर कर्ण की ईर्ष्या के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी।

पुरोहित चला गया। सन्धि का प्रस्ताव धूल में मिला दिया गया, पर उसकी गंध राजभवन को ही नहीं, पुरे हस्तिनापुर को घेरे रही। जनता सोचती रही

कि कौरवकुमारों ने अच्छा नहीं किया। उनमें तरह-तरह की आलोचनाएँ हो रही थीं। कुछ धृतराष्ट्र के कानों तक भी पहुँची—लड़के यदि नासमझ हैं तो कौन कहे माता-पिता ही समझदार हैं। यदि माता-पिता ही बुद्धि से काम लेते तो लड़के हाथ से बेहाथ न होते।

महाराज चिन्तित हो उठे। चिन्ता वह अग्नि है जो स्वयं को जलाती है और पश्चात्ताप का धुँआँ छोड़ती है। दूसरे दिन जब मैं हस्तिनापुर पहुँचा तो उस धुएँ के अतिरिक्त मुझे और कुछ हाथ नहीं लगा। मैं तो अतिथि-भवन और प्रतीक्षा-गृहों में चक्कर लगाता रहा। कर्मचारियों से बातें करता रहा। सब-के-सब दुःखी थे। सब की यही इच्छा थी कि सन्धि का प्रस्ताव किसी-न-किसी रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए था। युद्ध से कभी शान्ति नहीं हो सकती, अग्नि से कभी शीतलता पैदा नहीं की जा सकती।

हस्तिनापुर के अन्य लोगों की भाँति धृतराष्ट्र की असहायता के प्रति मुझमें सहानुभूति से कहीं अधिक घृणा थी। इसी से मैं उनसे मिलना नहीं चाहता था। फिर भी सोचता था, आखिर मैं भी तो एक पिता हूँ जो अश्वत्थ के हठ के समक्ष निरुपाय हो जाता हूँ। पुत्र, पिता की सबसे बड़ी दुर्बलता है। यदि यही दुर्बलता धृतराष्ट्र को धर दबाती है तो आश्चर्य क्या ?

इसी उधेड़बुन में मैं उद्यान की पुष्करिणी के चारों ओर टहल रहा था कि एक परिचारक मेरी ओर आता दिखायी दिया। "आपको महाराज ने स्मरण किया है।"—उसने कहा।

मैं जब महाराज के पास पहुँचा वह अंतःपुर में थे। उनके बगल में गांधारी बैठी थी। वे बड़े व्यग्र-से दिखायी दे रहे थे। चिंतन की रेखाएँ मस्तक पर उभरी पड़ रही थीं।

मेरी आहट मात्र से वे उठ खड़े हुए और आव-भगत करते हुए बिना किसी भूमिका के बोल पड़े,—"आपने तो सब कुछ सुना ही होगा।"

"हाँ, सुना तो है।"—मैंने मन मारे हुए ही कहा।

"अब बताइए मैं क्या करूँ ? मेरी कोई सुननेवाला नहीं है। परिस्थितियों का आग्रह है कि हमें सन्धि कर लेना चाहिए, पर आपके शिष्य मानते ही नहीं हैं।"

मैं चुप था। मैंने अनुभव किया कि महाराज की यह व्याकुलता बनावटी नहीं है। उनका पश्चात्ताप उनके सिर चढ़कर बोलता गया—"'हमने पाण्डवों के साथ क्या नहीं किया। उन्हें कितनी बार मार डालने की चेष्टा की। जुए में बेईमानी से हराया, वनवास और अज्ञातवास दिया। पर हर बार ईश्वर ने उनकी सहायता की और हर अग्नि-परीक्षा में वे खरे उतरे। हमें भी ईश्वर की इच्छा के समक्ष झुकना चाहिए।''''किन्तु हमारे लड़के सुनते ही नहीं हैं।'''' मैं क्या करूँ ?"

मैं कुछ कहूँ इसके पहले ही गान्धारी बोल पड़ी,—"कीजिएगा क्या ?'''' पहले हमीं ने उन्हें अपने सिर पर चढ़ाया। अब वे यदि सिर पर चढ़कर नाचना चाहते हैं तो नाचने दीजिए। स्वयं को भी भगवान के भरोसे छोड़ दीजिए। जो भगवान करेगा अच्छा ही करेगा।"—गांधारी के वचन जल के उन छींटों की भाँति थे जो महाराज की व्यग्रता की अग्नि को बुझाने के स्थान पर और अधिक भभका दे रहे थे।

उनकी व्याकुलता बढ़ती गयी, उनके चेहरे से पसीना चूने लगा। "क्या फिर से सन्धि की बातें नहीं हो सकतीं ?"—मैंने एक सम्भावना जगायी।

"कैसे हो सकती है ?''''द्रुपद का पुरोहित नितान्त अपमानित होकर गया है।"

मैंने सोचते हुए कहा,—'''"इससे वे नाराज हो सकते हैं। हमें स्थिति को सामान्य करने के लिए किसी को भेजना चाहिए।"

मेरा यह प्रस्ताव गांधारी और धृतराष्ट्र दोनों को अच्छा लगा। उन्होंने मेरा समर्थन किया। अब समस्या थी कि भेजा किसे जाय ? सबसे पहले विदुर का नाम सामने आया, किन्तु उन्हें भेजना हमने ठीक नहीं समझा। मैंने कहा,—"अभी तो आरम्भिक बातचीत के लिए किसी को भेजना है, जिससे सामान्य स्थिति हो जाये। विदुरजी, इसके उपयुक्त नहीं पड़ेंगे। यदि कोई बात वे अपनी

ओर से उनसे कह दें और आपके कुमार उसे न मानें तो यह उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न हो जायेगा।"

"तो आप ही चले जाइए।"

"वही बात तो मेरे साथ भी है।"—मैंने मुस्कराते हुए कहा। फिर सोचने लगा कि मेरा जाना तो बिल्कुल ही ठीक नहीं है। मैं क्यों इस झमेले में पड़ूँ। मैंने कहा,—"पाण्डवों की ओर से द्रुपद का पुरोहित आया था। हमें भी उसी स्तर का कोई व्यक्ति भेजना चाहिए।"

"...साथ ही यह भी देखना चाहिए कि पाण्डवों का भी उसे विश्वास प्राप्त हो।...सम्प्रति मेरे पास ऐसा कोई व्यक्ति दिखायी नहीं देता।"—धृतराष्ट्र बोले। मैंने अनुभव किया कि अब वे मुझे ही भेजने पर जोर देनेवाले हैं, कोई-न-कोई नाम जल्दी ही सुझा देना चाहिए। मैंने कहा,—"संजय को भेजा जाये तो कैसा हो?"

"ठीक ही होगा, वे अभिमन्यु के विवाह में भी गये थे।"—गांधारी ने मेरा समर्थन किया और संजय को भेजने का निर्णय ले लिया गया। मेरे सिर से बला टली।

प्रातः अग्निहोत्र के बाद जब मैं यज्ञशाला से लौट रहा था, मुझे सूचना दी गयी कि कोई व्यक्ति प्रतीक्षा-गृह में बैठा है। वह नाम नहीं बता रहा है और कह रहा है कि आचार्यजी मुझे देखने से ही पहचान सकेंगे।

"इस समय उससे कहो कि वे मिल नहीं सकते, उन्हें अत्यन्त आवश्यक कार्य से कहीं जाना है।"—मैंने परिचारक से कहा।

बात यह थी कि आज मुझे विदुरजी ने बुलाया था। मैंने कहला दिया था कि मैं मध्याह्न के पूर्व ही आऊँगा। अब तक मुझे चल देना चाहिए था। एक घड़ी दिन चढ़ आया था। धूप शिखरों पर से धरती पर सरक आयी थी।

"महाराज, वह हमारे राज्य का निवासी नहीं है, उसका कहना है कि मैं आचार्यजी से अधिक समय नहीं लूँगा।"

पहले तो मैं झुँझलाया। जहाँ कोई महत्त्वपूर्ण कार्य-क्रम बनाइए तहाँ कोई-न कोई बाधा पड़ जाती है। अब इस समय इसके मिलने आने की क्या आवश्यकता ? किन्तु शीघ्र ही मै प्रकृतस्थ हुआ। मेरी जिज्ञासा ने उससे मिलने के लिए मुझे विवश कर दिया।

मैंने उसे एकदम नहीं पहचाना। दाढ़ी-मोंछ बिल्कुल नहीं, सिर के बाल भी मुँडित, ढीला-ढाला श्वेत वस्त्र पहने और मस्तक पर त्रिपुंड लगाये एक प्रौढ़ व्यक्ति प्रतीक्षा-गृह में मेरे प्रवेश करते ही उठ खड़ा हुआ। कुछ क्षणों तक भ्रमित-सा मैं उसे देखता रहा। वह मुस्कराया—"आप मुझे पहचान नहीं रहे हैं।"

मैंने नकारते हुए सिर हिलाया।

उसने प्रतीक्षा-गृह में दृष्टि घुमाकर चारों ओर देखा, कोई और तो नहीं है। फिर उसकी मुस्कराहट बुदबुदायी,—"मैं हस्तिनापुर के शिव-मन्दिर का पुजारी आदित्य।"

"अरे ओ आदित्य····पगला आदित्य।"—मैं हँस पड़ा। उसने भी मेरी हँसी का साथ दिया। "तुम तो बिल्कुल पहचान में ही नहीं आये।····कितने रंग बदल चुके आदित्य।"—मैंने कहा।

"जैसी-जैसी परिस्थिति आती गयी, रंग बदलता गया।····लगता है, पिछला जन्म गिरगिट की ही योनि में हुआ था।"—इतना कहते हुए वह जोर से हँसा।

"आखिर कैसे चले ?"—समय के अभाव ने मुझे मुख्य विषय पर केन्द्रित कर दिया।

"उपप्लव्य से आ रहा हूँ।···आपके लिए एक विशेष वस्तु लाया हूँ। विश्वास है, आप स्वीकार करेंगे।"—एक साँस में वह बोल गया।

कुछ खोजती हुई मेरी दृष्टि एक बार फिर उसे देख गयी। उसके दोनों हाथ खाली थे। कौन-सी वस्तु भेजी है पाण्डवों ने, समझ नहीं पाया। "क्या ले आये हो भाई ?"—मैंने पूछ ही दिया।

"युद्ध का निमंत्रण ?"—मैं बिल्कुल समझ नहीं पाया,—कैसा युद्ध ? किससे युद्ध ?"

मेरी व्यग्रता देखकर वह जरा भी आश्चर्यचकित नहीं हुआ। उसने विस्तार से बताया कि पाण्डवों का विश्वास है कि आज नहीं तो कल युद्ध अवश्य होगा। कौरव बिना युद्ध के कुछ देनेवाले नहीं है।....अतएव पाण्डव अपने सभी शुभ-चिन्तकों के पास अपने पक्ष से युद्ध करने के लिए निमंत्रण भेज रहे हैं।

मैंने देखा कि जिस परिस्थिति का सामना करने से मैं सदा कतराता था वही परिस्थिति स्वयं मेरे सामने मुँह बाये खड़ी है। मेरा मस्तिष्क इस सन्दर्भ के हर विरामस्थल पर चक्कर मारने लगा।

मैंने अनुभव किया कि दिन अधिक चढ़ आया है। मैंने शीघ्र ही अमात्य को बुलवाया और प्रतीक्षा-गृह के बाहर आकर उसे धीरे से समझाया कि तुम विदुर महाराज के पास चले जाओ और सूचना दो कि आचार्यजी को आने में कुछ विलम्ब होगा। मैंने ऐसा इसलिए किया कि विदुर की दिनचर्या बड़ी नपी-तुली थी। वह समय की वचन-बद्धता को बड़ा महत्त्व देते थे।

अमात्य चला गया। पर उसे बुलाने और अलग ले जाकर बात करने के कारण आदित्य घबराया। "कोई विशेष बात तो नहीं है।"—उसने पूछा।

"नहीं, कोई बात नहीं है, जहाँ मुझे जाना था, वहाँ कहला रहा हूँ कि थोड़ी देर में आऊँगा।"

"किन्तु, मैं आपका अधिक समय नहीं लूँगा।"

"कोई बात नहीं, अब तो मैंने कहला ही दिया है।"—मेरा मस्तिष्क पल-भर में अपने विषय पर आया,—"हाँ, तो तुम युद्ध की बात कर रहे थे।"

"जी हाँ, उसी का तो निमंत्रण लेकर आया हूँ।"

"किन्तु मुझे युद्ध की कोई सम्भावना दिखायी नहीं देती।"

"द्रुपद के पुरोहित द्वारा लाया गया सन्धि का प्रस्ताव जिस तरह से ठुकरा दिया गया है उससे युद्ध की अनिवार्यता और अधिक बढ़ जाती है।"

"धृतराष्ट्रजी ने संजय को भी तो भेजा है।"

"हाँ, उनके जाने से पाण्डवों की मनःस्थिति कुछ सामान्य अवश्य हुई है, पर युद्ध की आशंका घट नहीं पायी है ।

एकक्षण तक मैं कुछ सोचता रहा, फिर बोला,—"अच्छा यह बताओ कि पाँचों भाइयों में कौन युद्ध के पक्ष में है ?"

"शायद कोई नहीं ।"

"तब युद्ध क्यों होगा ?"

"इस लिए होगा कि उसे कौरव चाहते हैं ।"—इसके बाद उसने विस्तार से बताया कि युद्ध तो कोई भी नहीं चाहता । यहाँ तक कि श्रीकृष्ण भी सन्धि के ही पक्ष में हैं । उनका भी विचार है कि कोई-न-कोई रास्ता ऐसा निकालना चाहिए जिससे युद्ध टाला जा सके ।"

"तब किसकी राय से युद्ध का निमंत्रण दिया जा रहा है ?"

"द्वारिकाधीश की राय से ।"

"विचित्र हैं यह द्वारिकाधीश । सन्धि के भी पक्ष में हैं और युद्ध की भी तैयारी कर रहे हैं ।"

"इस सम्बन्ध में धर्मराजजी ने उनसे पूछा था ।''''इस पर श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया कि उस सन्धि-प्रस्ताव का कोई महत्त्व नहीं होता जिसके पीछे सैनिक शक्ति न हो । निर्बल का सन्धि-प्रस्ताव अपाहिज के योद्धा बनने के स्वप्न की तरह व्यर्थ होता हैं । उसे रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाता है ।'''' इसलिए हमें पूरी सैनिक तैयार करनी चाहिए और सन्धि के लिए प्रयत्नशील भी होना चाहिए । तभी सम्मानजनक सन्धि हो सकेगी ।"—इतना कहने के बाद आदित्य मेरा मुख देखने लगा ।

मेरे मस्तिष्क में राजसूय यज्ञ के समय के कृष्ण की आकृति विभिन्न रंगों में उभर आयी । मैंने मन-ही-मन समझ लिया कि बहुत बड़े राजनीतिज्ञ से कौरवों का पाला पड़ा है ।

"''''इसका मतलब है कि तुम्हारे यहाँ की सैनिक तैयारी युद्ध के लिए नहीं, वरन् सन्धि के लिए ही है ।"—मैंने कहा ।

"हो सकता है, आपकी बात ठीक हो।····और यह भी हो सकता है कि····" कहते-कहते वह अचानक रुक गया, जैसे गले के ऊपर आयी हुई बात को उसने सहसा दबा दिया हो।

"लगता है, तुम कुछ कहना चाहकर भी कह नहीं पा रहे हो।"—मैंने कहा। वह अब भी चुप था। उसकी आकृति पर द्विविधा और असमंजस की रेखाएँ उभरने लगी थीं।—"मुझे ऐसा ज्ञात हो रहा है कि तुम किसी असमंजस में पड़ गये हो।····तुम मेरे यहाँ सर्वथा निर्भय हो।····जानते हो, मैंने तुम्हारे प्राणों की रक्षा की थी। तुम्हें मुझसे कुछ नहीं छिपाना चाहिए।"—मैंने उससे पुनः कहा। उसकी मुद्रा ने मेरे प्रति कृतज्ञता स्वीकार की।

उसने एक बार फिर कमरे के चारों तरफ देखा और किसी अन्य की उपस्थिति का अनुभव न करते हुए उसने बड़े धीरे से कहा,—"देखिए, यह बात किसी को मालूम न हो।"

"क्या ?"

"मुझे लगता है कि युद्ध अवश्य होगा, क्योंकि जब सन्धि के सम्बन्ध में वार्ता चल रही थी, तब एक बार द्रौपदी बहुत नाराज हुई थी। उसने श्रीकृष्ण से पूछा था कि किससे समझौता करना चाहते हैं आप ? वनवास में झेले गये तेरह वर्षों के कष्टों से समझौता करना चाहते हैं आप ? दुःशासन के रक्त की प्रतीक्षा में खुली मेरी वेणी से समझौता करना चाहते हैं आप ? भरी सभा में मुझे नग्न करने की कौरवों की चेष्टा से समझौता करना चाहते हैं आप या भीमसेन द्वारा की गयी प्रतिज्ञाओं से समझौता करना चाहते हैं आप ?···· उस समय द्रौपदी एकदम बच्चों जैसी छैला गयी थी और फूट-फूटकर रोने लगी थी।

"तब क्या कहा था कृष्ण ने ?"

"कृष्ण ने उसे समझाया था—घबराओ नहीं, युद्ध होगा अवश्य होगा। तुम्हारी आकांक्षा पूरी होगी।···विरोधियों की लाशें युद्ध-क्षेत्र में चील और कुत्तों का भोजन बनेंगी।"

"इससे क्या द्रौपदी को सन्तोष मिला ?"

"सन्तुष्ट तो हुई, पर उसने कहा—आप ऐसी सान्त्वना भी देते हैं और सन्धि की वार्ता भी चलाते हैं। बात कुछ समझ में नहीं आती माधव।"

"यहीं तो राजनीति है पांचाली। हर युद्ध चाहनेवाले को सन्धि की बातें चलाते रहना चाहिए।" श्रीकृष्ण ने कहा था—"इससे शत्रु भी भ्रम में रहता है और जनमत भी पक्ष में हो जाता है, क्योंकि जनता समझती है कि ये लोग युद्ध नहीं चाहते।....बिना जनमत को पक्ष में किये संसार की कोई भी लड़ाई जीती नहीं जा सकती।"

आदित्य की बात सुनते ही मेरे कान खड़े हो गये। राजनीति में जनमत की उपेक्षा न करनेवाला यह पहला व्यक्ति है श्रीकृष्ण। हम लोग तो राजनीति को जनता की वस्तु ही नहीं समझते थे। वह तो राजाओं की इच्छा पर निर्भर थी और राजा की इच्छा मानना जनता का कर्त्तव्य था। अतएव मैं सोचने लगा कि राजनीति में जनता की इच्छाओं का आदर करनेवाला यह कृष्ण निश्चित रूप से राजनेता से कहीं अधिक जननेता है।....अवश्य ही वह ऐसे-ऐसे नाच नचाएगा कि कौरवों के दाँत खट्टे हो जायेंगे। मैं सोचते-सोचते घबरा उठा। "भगवान, कौरवकुमारों को बुद्धि दे।"—मेरे मुख से निकला।

हम दोनों कुछ समय तक चुपचाप बैठे रहे। मैं सोचता रहा, वह मेरा मुख देखता रहा। थोड़ी देर बाद उसने ही मौन भंग किया—"तो मैं क्या कह दूँगा आपकी ओर से ?"

मैंने सोचा जब आदित्य ने सारी बातें मुझसे साफ-साफ कह दी है तब मैं भी उससे क्यों छिपाऊँ। मैंने विस्तारपूर्वक उसे अपनी स्थिति समझायी—"...मैं यदि अपने किसी शिष्य पर सबसे अधिक अभिमान कर सकता हूँ तो वह अर्जुन ही है। यह सर्वविदित है। इसी से कौरव भी मुझे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। निश्चित है कि अर्जुन का अहित चाहते समय मेरा हृदय काँप जायेगा।...साथ ही, मेरा सबसे बड़ा शत्रु है द्रुपद। जिसे मैं फूटी आँख भी देखना नहीं चाहता। वह हर क्षण मेरा पराभव सोचता है और मैं भी प्रतिपल उसके विनाश की कामना करता हूँ। उसी की पुत्री है पाण्डवों की भार्या

द्रौपदी जो अहं और ईर्ष्या की पुतली है। जिसका अन्तर्दाह हर समय विषैला धुआँ छोड़ता है। वह कभी भी मेरा और कौरवों का भला नहीं सोच सकती। दूसरी ओर इसे सब जानते हैं कि मेरी निकटता कौरवों के प्रति हैं। मैं उनके अनेक उपकारों से दबा भी हूँ। ऐसी स्थिति में पहले तो मैं प्रयत्न करूंगा कि युद्ध न हो।....और यदि युद्ध अनिवार्य हो गया तो मैं पाण्डवों की ओर से न लड़ सकूंगा"

आदित्य मेरा उत्तार सुनकर अवाक् रह गया। कदाचित् मुझसे ऐसे उत्तर की उसे आशा न थी। सदैव से द्विविधा में जीनेवाले मेरे जैसे व्यक्ति ने अत्यन्त स्पष्ट निर्णय ले लिया था। मेरा मन कुछ हल्केपन का अनुभव कर रहा था।

किन्तु आदित्य बड़ा निराश हुआ। वह मन-ही-मन दुःखी था। कुछ क्षणों तक बिल्कुल नहीं बोला, धरती देखता रह गया।

"फिर आपकी ओर से क्या कह दूँ?" अत्यन्त व्यथित कण्ठ से उसने पूछा।

मैं पुनः सोचने लगा। अचानक मुझे एक मार्ग सूझा—"कह देना कि पितामह जैसा निर्णय लेंगे वैसा आचार्य भी करेंगे।"—मैंने भीष्म के दोहरे व्यक्तित्व की आड़ में सम्प्रति स्वयं को खड़ा रखना अधिक उपयुक्त समझा। साथ ही, मैंने उससे यह भी कह दिया कि अवसर मिलने पर तुम मेरी स्थिति भी उन लोगों के सामने स्पष्ट कर देना।

श्रीकृष्ण कल से ही हस्तिनापुर में आ गये थे। उनके साथ सात्यकी भी थे। दोनों का बड़ा स्वागत-सम्मान हुआ था। पूरी नगरी दुलहन की तरह सजायी गयी थी। नगरवासी श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए उमड़ पड़े थे। मैंने सुना कि नगर में उनके रथ की गति भी मन्द कर दी गयी थी और वे हाथ हिला-हिलाकर जनता का अभिवादन भी स्वीकार कर रहे थे।

उपप्लव्य से आते समय कुशस्थल नामक स्थान पर द्वारिकाधीश एक रात के लिए रुक गये थे। तभी उनके आगमन की सूचना मुझे भेजी गयी थी। दूसरे दिन तीसरे प्रहर तक मैं भी हस्तिनापुर पहुँच गया था।

आते ही मैंने सबसे पहले श्रीकृष्ण से मिलना चाहा। पता चला कि वे दुःशासन के महल में ठहराये गये हैं। यह महल दुर्योधन के महल से भी विशाल है। फूलों और पंत्तियों से इसे ऐसा सजा दिया गया था मानो किसी का राज्याभिषेक हो। द्वार पर पहुँचते ही प्रतिहारी ने बताया कि मधुसूदन इस समय यहाँ नहीं हैं। वे विदुरजी के यहाँ गये हैं।

किन्तु सात्यकी वहीं थे। लगता है, मेरे आगमन की सूचना उन्हें लग गयी। मैं प्रतिहारी से बातें कर रहा था कि वे बाहर निकल आये। अत्यन्त विनय-भाव से प्रणाम किया। मन प्रसन्न हो गया। उसी मन में बैठा जैसे कोई बोल उठा—कितना अन्तर है! कौरव-पक्ष में जितनी अहंमन्यता है, पाण्डव-पक्ष में उतना ही विनय।

सामान्य शिष्टाचार के बाद मैं वहाँ से चल पड़ा। पहले विदुर के यहाँ ही पहुँचने का निश्चय किया, किन्तु शीघ्र ही विचार बदला। सोचा कि इस समय वहाँ चलना ठीक नहीं है। अतएव रथ को पितामह के प्रासाद की ओर मोड़ दिया।

पितामह ने मेरा सत्कार तो किया, पर वे बहुत अधिक प्रसन्न नहीं दिखायी दिये। नितान्त औपचारिक बातचीत के बाद वे सन्ध्या-पूजन के लिए चले गये। मैंने भी उस सन्ध्या को वहीं डेरा जमाया।

रात को भोजन के समय पितामह कुछ खुले। मैंने कहा,—"लगता है, श्रीकृष्ण की यह कई दिनों की सन्धि-यात्रा है।"

"सन्धि-यात्रा या जन-सम्पर्क-यात्रा?"—पितामह मुस्कराये और जल की घूँटें कण्ठ के नीचे उतारते हुए बोलते रहे, "यदि केवल सन्धि-वार्ता करनी होती तो वे सीधे उपप्लव्य से हस्तिनापुर आते, पर रास्ते-भर रुकते और जन-सम्पर्क करते आये हैं।"

"इसमें क्या रहस्य है?"

द्रो०—२०

"यह व्यक्ति नितान्त चतुर है। यह युद्ध के लिए पाण्डवों के पक्ष में जन-मानस तैयार कर रहा है।" पितामह ने विस्फारित नेत्रों से मेरी ओर देखा। ऐसा लगा जैसे उसके मस्तिष्क के आकाश पर कृष्ण की बुद्धि के घने काले बादल छाये हों।

"इसका मतलब है कि वे सन्धि की बातें केवल औपचारिकता बस चलाने आये हैं।"

"नहीं, वे चाहते तो होंगे हृदय से सन्धि, पर समझते होंगे कि कौरवों का अहं कभी मेरा प्रस्ताव स्वीकार नहीं करेगा।"

"तब हम लोगों को क्या करना चाहिए।"

"हम लोगों को भी सन्धि का समर्थन करना चाहिए और ऐसा दबाव देना चाहिए कि युद्ध टल जाये।"

"टल जाये,"'क्यों ? ऐसा नहीं हो सकता कि युद्ध की सम्भावना ही समाप्त हो जाये।"

"नहीं, बिल्कुल नहीं। यह नितान्त असम्भव है आचार्य। सूर्य की ज्वलन-शीलता समाप्त हो सकती है, सिन्धु की गम्भीरता समाप्त हो सकती है, हिमालय की शीतलता समाप्त हो सकती है, पर इस युद्ध की सम्भावना समाप्त नहीं हो सकती।"—उन्होंने कौर मुंह में डालते हुए कहा और कारण बताया कि न तो दुर्योधन के मन से द्वेष समाप्त होगा और न कर्ण के मन से ईर्ष्या।""बल्कि जिन युद्धों का कारण लोभ होता है उनकी सम्भावना भी जल्दी समाप्त हो जाती है और वे युद्ध भी जल्दी समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि लोभ की उम्र ईर्ष्या और द्वेष से बहुत कम होती है।"—मुझे ऐसा भान हुआ कि इस समय पितामह नहीं वरन् पितामह के जीवन के विराट अनुभव का सार स्वयं बोल रहा है।

मैंने बातों को दूसरी ओर मोड़ते हुए कहा,—""'सुना है कि दुःशासन के महल में श्रीकृष्ण के सुख-सुविधा की सारी व्यवस्था की गयी थी फिर भी वे वहाँ नहीं ठहरे और विदुर के यहाँ चले गये।"

"राजनीतिक व्यक्ति सबसे अधिक शंकालु होता है।" पितामह ने कहा,—"वह सदैव फूँक-फूँककर पैर रखता है। वह ऐसी जगह ठहरना पसन्द करता है

जहाँ वह निरापद हो।"""विदुर इस समय हस्तिनापुर में सब से अधिक उनके विश्वासपात्र व्यक्ति हैं।"""साथ ही, वे वहाँ ठहरकर प्रासाद की आन्तरिक स्थिति की जानकारी भी प्राप्त करने में समर्थ हो जायेंगे।

भोजन समाप्त हो चला। एक परिचारक आम्र-रस से भरे दो पात्र ले आया। हम लोगों ने पीना आरम्भ किया। बातें कुछ समय के लिए रुक गयीं।

बाद में पितामह ने स्वयं बताया कि श्रीकृष्ण मुझसे बड़े प्रेम से मिले थे। मेरे महल में भी आये थे। यदि मैं उनसे अपने यहाँ रहने के लिए कहता तो वे निश्चित ही मेरा निवेदन स्वीकार कर लेते, किन्तु मैंने ऐसा नहीं किया।

मैं कुछ बोला तो नहीं, किन्तु रस का पात्र नीचे रखते हुए एकटक उनकी आकृति देखने लगा, जैसे मेरी आँखें उनकी आँखों में घुसकर वे कारण निकाल लेना चाहती थीं जिनके कारण उन्होंने श्रीकृष्ण को अपने यहाँ टिकने के लिए नहीं कहा।

वे समझ गये, मुस्कराये और बोले,—"ऐसे राजनीतिक व्यक्तित्व से सदा दूर ही रहना चाहिए।"""पता नहीं, वह छलिया कौन-सा सन्देह का बीज रात-भर में मेरे यहाँ बो देता।"

मैंने देखा, पितामह की आकृति पर उभरी रेखाएँ, उनकी झुर्रियाँ कृष्ण के व्यक्तित्व के आतंक से प्रभावित थीं और उनकी महत्ता स्वीकार करती थीं।

दूसरे दिन विस्तार से श्रीकृष्ण सन्धि के प्रस्ताव पर बातें करनेवाले थे। दिन चढ़ते-चढ़ते परिषद् एकत्र होनी आरम्भ हो गयी थी। पितामह के साथ मैं भी पहुँच गया था और उन्हीं के बगल में ही बैठा था। एक घड़ी प्रतीक्षा में ही बीत गयी, पर कृष्ण नहीं आये। मैंने पितामह से पूछा,—"इसमें भी कोई रहस्य है क्या?"

"हो सकता है, वे प्रतीक्षा कर रहे हों कि कोई मुझे बुलाने आये।"—वे कह ही रहे थे कि धृतराष्ट्र ने उन्हीं से पूछा,—"बड़ी देर हो गयी, क्या करना चाहिए?"

"अपने पुत्रों में से किसी को बुलाने के लिए भेज दीजिए।"

धृतराष्ट्र ने तत्काल दुर्योधन को बुलाकर कहा। उसने बात मान ली और कर्ण को लेकर चला।

पितामह ने टोका—"अच्छा होता यदि दुर्योधन, परिवार के ही किसी व्यक्ति को साथ ले लेता।"

बात नियमतः ठीक थी। कर्ण रुक तो गया, पर पितामह का टोकना उसे अच्छा नहीं लगा। वह तमतमाया, पर कुछ बोला नहीं। केवल कुड़बुड़ाकर रह गया।

शकुनि और दुर्योधन चले गये और थोड़ी ही देर में विदुर के साथ ही श्रीकृष्ण को लिवा लाये। आते ही करतल-ध्वनि हुई, हम सब उठकर खड़े हो गये। फरफराते पीले रंग के रेशमी उत्तरीय और झिलमिलाते मोर-मुकुट से सुशोभित पूरी सभा में वे अन्यतम थे।

पहले इधर-उधर की बातें हुईं फिर उन्होंने पाण्डवों के तेरह वर्ष के जीवन की चर्चा की। उनके कष्ट एवं तपस्या की विशद विवेचना की। एक अद्भुत बात यह थी कि श्रीकृष्ण सब कुछ कहते जा रहे थे, सारी बातों की याद भी दिला रहे थे, पर साथ-ही-साथ यह भी कह रहे थे कि अब दोनों पक्षों को इन सारी बातों को भुला देना चाहिए।

इसी बीच भोजन का समय हो गया। हम सबको सामूहिक भोजन करना था। इसकी सूचना पहले से ही दे दी गयी थी। श्रीकृष्ण से भोजन के लिए सबसे पहले धृतराष्ट्रजी ने आग्रह किया। वे मुस्कराते हुए बोले—"राजन्, इस समय मैं राजदूत बनकर आया हूँ। राजदूत का धर्म है कि जब तक वह अपना कार्य पूरा न कर ले तब तक भोजन न करे।...अतएव आप मुझे क्षमा करें।"—इतना कहते हुए वह एकदम उठे और सभाभवन के बाहर निकल गये।

कृष्ण का यह व्यवहार मेरे जैसे लोगों को भी अच्छा नहीं लगा। पर कोई इस सम्बन्ध में किसी से बोला नहीं। हम लोग अतिथि-भवन के विशाल कक्ष की ओर बढ़े। पितामह पीछे छूट गये और राज-ज्योतिषी सुवर्चा से भेंट हो गयी। वह बूढ़ा भी विचित्र है, हर परिस्थिति और घटना की व्याख्या अपने ढंग से

करता है। मेरे कानों के पास मुँह लगाकर बड़ी गम्भीरता से वह बोला—"जानते हैं श्रीकृष्ण ने भोजन क्यों नहीं किया ?"

मैंने अनभिज्ञता में नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

वह बताने लगा—"माधव ने सोचा होगा कि जो लोभवश अपने भाई भीम को भी विष दे सकता है, उसे मुझे देते क्या देर लगेगी।"

उसकी बात सुनते ही मुझे हँसी आ गयी। वह विश्वास दिलाने लगा कि मैं जो कह रहा हूँ, ठीक है। कृष्ण जैसे चतुर नीतिज्ञ व्यक्ति ने इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं सोचा होगा।

भोजन के दो घड़ी बाद पुनः सभा बैठी। इस बार भी श्रीकृष्ण विदुर और सात्यकी के साथ ही पधारे और संक्षिप्त भूमिका के साथ उन्होंने सन्धि की बातें आरम्भ की। उन्होंने धृतराष्ट्रजी को सम्बोधित करके कहा—"राजन्, आप प्रजा के विनाश का मार्ग न अपनायें।...दुर्भाग्य यह है कि जो आपका अहित है उसे आप अपना हित समझ बैठे हैं।...पिता के नाते आपका कर्त्तव्य है कि आप अपने पुत्रों पर नियंत्रण करें, पर मैं देखता हूँ कि आप ऐसा कुछ कर नहीं पा रहे हैं...।"

कृष्ण बोल ही रहे थे कि जिधर दुर्योधन आदि बैठे थे उधर से आवाज आयी—"पिताजी को कर्त्तव्य की शिक्षा देने से अच्छा हो आप सन्धि की शर्तें रखिए।"

कृष्ण ने विशाल नेत्रों से उधर एक गम्भीर दृष्टि डाली, पर यह निश्चित नहीं हुआ कि कौन बोल था। उन्होंने कहना जारी रखा—"...पाण्डव जन्म से ही शान्तिप्रिय हैं। वह आपको पिता की भाँति मानते हैं। वे किसी भी स्थिति में युद्ध नहीं करना चाहते, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि मत समझिएगा कि वे युद्ध के लिए तैयार नहीं हैं। वे कौरवों के दाँत खट्टे कर डालने की पर्याप्त शक्ति रखते हैं...फिर भी वे युद्ध नहीं चाहते। वे सोचते हैं कि भाई-भाई की लड़ाई में पूरा वंश ही नष्ट हो जायेगा।...आप भी ऐसा ही सोचिए और आधा राज्य पाण्डवों को देकर यश के भागी होइए।"

इतना कहकर श्रीकृष्ण बैठ गये। इतनी गम्भीरता से ये बातें कही गयी थीं कि धृतराष्ट्र ने समझा कि सारा दोष मेरे ही माथे मढ़ा जा रहा है। वे घबरा-से गये और सफाई देते हुए श्रीकृष्ण को सम्बोधित कर बोले—"....मैं बिल्कुल आपके मत का हूँ। मैं भी वही चाहता हूँ जो आप चाहते हैं, पर मैं क्या करूँ, मेरे पुत्र मेरे वश में नहीं हैं। उन्हें आप ही समझाइए।"

भरी सभा में धृतराष्ट्र ने अपनी विवशता आज तक कभी इतने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार नहीं की थी। उनकी बातें सुनते ही श्रीकृष्ण को हँसी आ गयी। उनकी खिलखिलाहट की तरलता पूरे वातावरण पर पसर गयी।

फिर श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को समझाना आरम्भ किया—"...युद्ध से संसार का कभी कल्याण नहीं हुआ है।...युद्ध की भावना ही शत्रुओं का विनाश बाद में करती है और स्व-विवेक का पहले। तुम अपना विवेक नष्ट मत होने दो। ...जरा सोचो तो यदि तुम अपना आधा राज्य पाण्डवों को दे दो, तो तुम्हारी क्या हानि होगी। इतना विशाल साम्राज्य फिर भी तुम्हारे पास रह जायेगा, बदले में पाण्डव तुम्हें युवराज और तुम्हारे पिता को महाराज के रूप में स्वीकार कर लेंगे।"

इतना कहकर वे थोड़ा रुके। दुर्योधन तमतमाया हुआ उठा। उसके उठने के ढंग से ही लगा कि वह प्रस्ताव को अस्वीकार करने जा रहा है। किन्तु वह कुछ बोले इसके पहले ही कृष्ण स्वयं बोल पड़े,—"....मेरी बातें यदि तुम्हें पसन्द न आती हों तो इस सन्दर्भ में तुम पितामह और आचार्यजी की भी राय जान सकते हो।"

अब हम दोनों का बोलना अनिवार्य हो गया। पितामह ने अनेक ढंग से उसे समझाया और कहा कि युद्ध किसी भी परिस्थिति में ग्राह्य नहीं हैं। मैंने भी पितामह का समर्थन करते हुए दुर्योधन से कहा,—"....आखिर आधा देने पर भी तुम्हारा राज्य तुम्हारे पास ही रहेगा। तुम्हीं युवराज और आज के महाराजा ही महाराज रहेंगे।...फिर युद्ध किससे करोगे? अपनों से, अपने भाइयों से।"—मैं बोलता जा रहा था। मैंने देखा, दुर्योधन के कान

में कर्ण कुछ कह रहा है। दुर्योधन वहाँ कुछ विचित्र स्थिति में बैठा था। उसके एक ओर कर्ण था और दूसरी ओर शकुनि।

इस बार दुर्योधन बड़े झटके से उठा और तमतमाया हुआ बोला,—"आप बार-बार धर्म की बात करते हैं जैसे मैं ही धर्म का विरोधी और सबसे बड़ा अधार्मिक हूँ।··पर मैं पूरी सभा से पूछता हूँ कि आप में से कोई बताये कि मैंने कौन-सा कार्य धर्म के विरुद्ध किया है। युधिष्ठिर ने स्वयं प्रसन्नतापूर्वक चौसर खेला था। यदि वे उसमें हार गये तो मैं क्या करूँ? उन्हें शर्त के अनुसार वन जाना पड़ा, इसमें मेरा क्या दोष? रह गयी युद्ध की बात।·· तो एक बात स्पष्ट रूप से बता देना चाहता हूँ कि युद्ध की धमकी देकर कोई मुझे दबा नहीं सकता। यदि पाण्डव युद्ध के लिए तैयार हैं, तो हम भी युद्ध के लिए तैयार हैं।···हटाइए, यह सन्धि-वन्धि की बातें। रणक्षेत्र में ही फैसला हो जाने दीजिए।"

"लड़ाई की बातें करना तो आसान है, पर रणचण्डी का खप्पर भरना बड़ा कठिन है युवराज।"—कृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा,—मैं तो अब भी कहूँगा कि आप अच्छी तरह सोच लीजिए और पाण्डवों के साथ न्याय करते हुए उनका आधा राज्य उन्हें दे दीजिए।"

"आप न्याय के नाम पर मुझे ही दबाने की चेष्टा कर रहे हैं। आप ही बताइए, क्या पाण्डव कभी आधे राज्य के अधिकारी थे? जब मैं निरा बालक था, आप ही जैसे लोगों ने राज्य का आधा भाग पाण्डवों को दिलवा दिया था। वैसे उस पर उनका कोई अधिकार नहीं था। वंश की देख-भाल करनेवाले वृद्ध लोगों ने ऐसा भय के कारण किया या नासमझी के कारण, इसे तो वही जान सकते हैं,···पर उस समय मैंने उनकी बातें मान ली थीं। फिर जब पाण्डवों ने स्वयं उसे जुए में गँवा दिया तो मैं क्या करूँ?···मैंने कौन-सा अधर्म किया इन पाण्डवों के प्रति?"

इतना सुनना था कि कृष्ण एकदम लाल हो गये, वे तड़पते हुए बोले,—"तू मुझसे अधर्म की बात पूछता है···तू ही बता, भीम को विष देने में तेरा कौन-सा धर्म था? योजनाबद्ध रूप से लाक्षागृह में पाण्डवों को जला डालने के

पीछे तेरा कौन-सा धर्म था ? शकुनि की मंत्रणा से चौसर का षड्यन्त्र रचने में तेरा कौन-सा धर्म था ? द्रौपदी को भरी सभा में अपमानित करने के पीछे तेरा कौन-सा धर्म था ?····तू अब भी समझ, वर्ना युद्ध के दूरगामी परिणाम बड़े भयंकर होंगे ।''—कृष्ण की वाणी में ज्वालामुखी धधक रहा था ।

दुर्योधन भी माननेवाला नहीं था । उसकी वाणी भी दुराग्रह से बहुत अधिक बोझिल थी,—''····मैं उन परिणामों की भयंकरता भोगने को तैयार हूँ, पर माधव, इसे अच्छी तरह समझ लीजिए कि बिना युद्ध के मैं सुई की नोक के बराबर भी धरती देने के पक्ष में नहीं हूँ ।''

श्रीकृष्ण फिर तमतमाये, वह कुछ कहने ही वाले थे कि पितामह उठ खड़े हुए । उन्होंने परिस्थिति सँभाली । बड़े शान्त भाव से धीरे-धीरे समझाना आरम्भ किया और कहा कि श्रीकृष्ण की बात मान लेने में ही हम सब का कल्याण है ।

अपना प्रभावशाली भाषण समाप्त कर लेने के बाद उन्होंने अपने दाहिने हाथ से मेरा बायाँ कन्धा धीरे से दबाया और संकेत किया कि मैं भी उनकी बात का समर्थन करूँ । मैंने वैसा किया भी, परिस्थिति बनने के स्थान पर और अधिक बिगड़ गयी । दुःशासन क्रुद्ध हो गया और वह दुर्योधन से बोला,—''मालूम होता है कि कोई दुरभिसन्धि है । यहाँ के सभी लोग मिले जान पड़ते हैं । कहीं ये आपको बन्दी बनाकर पाण्डवों के पास न भेज दें ।····हमें जल्दी से यहाँ से निकल चलना चाहिए ।''

अग्निबाण की भाँति झटके से दुर्योधन सभाकक्ष के बाहर चला गया । उसके हटाने के पीछे दुःशासन की यही मंशा रही होगी कि कहीं वह दबाव में पड़कर सन्धि-प्रस्ताव मान न ले ।

सभा का समुद्र तूफान के बाद एक क्षण के लिए जैसे शान्त-सा हो गया, किन्तु शीघ्र ही उसमें लहरें आयीं । श्रीकृष्ण उठकर खड़े हुए और कहा,—''मुझे ऐसा लगता हैं कि परिवार के सभी लोगों को इन लड़कों ने अपनी मुट्ठी में कर रखा है, नहीं तो इतना मन न बढ़ता ।····मेरी तो आप सबके लिए एक सलाह है कि देश और वंश की रक्षा के लिए यदि आपको दो-एक का बलिदान

भी करना पड़े तो कर डालिए।...ऐसी सन्तान से निःसन्तान रहना अधिक श्रेयस्कर है।"

इतना कहकर श्रीकृष्ण बैठ गये। मैंने देखा, धृतराष्ट्र के मस्तक पर पसीने की बूँदें आ गयी थीं। वे बहुत ही घबराये हुए दिखायी दे रहे थे। उन्होंने विदुरजी को अपने पास बुलवाया और कहा—"गांधारी को अन्तःपुर से जरा बुला लाइए। शायद उसके समझाने पर इन लड़कों की बुद्धि ठिकाने आये।"

इधर विदुरजी गांधारी को बुलाने अन्तःपुर गये, उधर कई प्रतिहारी एक साथ दुर्योधन को बुलाने निकले। पल-भर में दोनों सभा में आ गये। गांधारी ने अपने पुत्रों को बहुत समझाया, पर कुत्ते की दुम टेढ़ी-की-टेढ़ी रही। श्रीकृष्ण का प्रयत्न निष्फल हो गया। सन्धि का प्रस्ताव धूल में मिल गया।

दुर्योधन पुनः सभा के बाहर चला गया, उसके साथ आये लोग फिर उसके साथ हो लिये, किन्तु श्रीकृष्ण बैठे ही रहे। कुछ समय तक एकदम शान्ति रही। सभा में उपस्थित लगभग सभी लोग दुःखी दिखायी दे रहे थे। गांधारी सभाकक्ष के भीतरी द्वार पर विदुरजी के साथ अत्यन्त व्यग्र दिखी। कुछ अश्रुकण आँखों पर बँधी पट्टी से किसी प्रकार निकलकर गालों पर ढुलक आये थे। विदुरजी उन्हें समझा रहे थे। पितामह ने धीरे से मेरे कानों में कहा—"कहिए, मैंने क्या कहा था?....इन लड़कों का अहंकार पूरे आर्यावर्त को चबा जायेगा।"

अचानक श्रीकृष्ण पुनः उठ खड़े हुए और बादलों-सी गम्भीर आवाज में बोले—"भवितव्यता हमारे आपकी मुट्ठी में नहीं है। जो होना है वह तो होकर रहेगा। हमने अपना कर्त्तव्य किया, आपने हमारा साथ दिया। इसकी मुझे प्रसन्नता है। मैं आप सब का अभिवादन करता हूँ...भगवान हमें सद्बुद्धि दे।" इतना कहकर उन्होंने चारों ओर घूमकर सब को प्रणाम किया और मंच से कूदकर बड़ी द्रुतगति से सभाकक्ष से बाहर जाने लगे। विदुरजी उनके पीछे दौड़े। जब वे अधिक दूर निकले गये तब हम लोगों में चेतना आयी कि हमें भी कुछ दूर तक उन्हें पहुँचाना चाहिए ही। हम लोग भी उनके पीछे लपके।

उद्यान से ही हम लोगों ने देखा कि प्रासाद के मुख्यद्वार के बाहर सैनिकों का गहरा जमाव है, कर्ण, दुर्योधन आदि अपने आयुध लिये खड़े हैं। 'हे प्रभो, क्या हो गया है इन लड़कों को।"—पितामह चिल्लाये और श्रीकृष्ण को रोकने के लिए दौड़े, पर वे उन सैनिकों के मध्य जा चुके थे।

दुर्योधन ने उन्हें बन्दी बना लेने की योजना बनायी थी। अहंकार के अश्व पर सवार उसका दुस्साहस श्रीकृष्ण का सामना करने के लिए तत्पर था, किन्तु श्रीकृष्ण बिजली की तरह उछलकर अपने रथ पर सवार हो गये और उस पर खड़े होकर जोर से हँसे। मैं सच कहता हूँ, ऐसी हँसी मैंने उनकी कभी नहीं देखी थी। जैसे एक सम्मोहन था उनकी हँसी में। सब किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो उनका चेहरा देखते रह गये। रथ पर से ही उन्होंने दहाड़ा—"मूर्खो, किसी स्वतंत्र व्यक्ति को वह बन्दी नहीं बना सकता है जो स्वतः बन्दी हो। अपनी आँखें खोलो और देखो, तुम्हारे चारों ओर तुम्हारे ही अहंकार की दीवारें हैं, तुम्हारे पैरों में ईर्ष्या की बेड़ियाँ हैं, तुम्हारे करों में द्वेष की हथकड़ियाँ हैं, तुम्हारे मस्तिष्क में लोभ का विषैला धुआँ भरा है। तुम सब अपनी-अपनी कारा में बन्दी हो।....मुझे बन्दी बनाने का दुस्साहस करनेवाले मूर्खो, पहले तुम स्वयं अपनी कारा से मुक्त होने की चेष्टा करो।....हाँ....हाँ....हाँ।"—उन्मुक्त हास बिखरेते हुए कृष्ण का रथ सन्ध्या के झुरपुट में विलीन हो गया। सारी सेना ठगी-सी खड़ी-की-खड़ी रह गयी।

इस दृश्य का और उसके परिवेश का मुझ पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। मुझे सबसे बड़ी चिन्ता तो यही थी कि दुर्योधन के साथ अश्वत्थ भी कृष्ण को बन्दी बनाने गया था। उस मूर्ख को क्या सूझी थी।

सब चुप थे। प्रकृति शान्त थी। एक विलक्षण भारीपन प्रासाद की सामान्य स्थिति का गला दबा बैठा था। रात का अँधेरा बढ़ चला था। सन्ध्या के मुख पर कालिख पुत गयी थी। मेरा चक्रित मन उद्यान की पुष्करिणी की ओर बढ़ा जा रहा था, तब तक पीछे से किसी ने मेरे कन्धे पर हाथ रखा और एक भर्रायी आवाज सुनायी पड़ी—"क्या सोचते हो ?"

मैंने मुड़कर देखा, राज-ज्योतिषी बूढ़ा सुवर्चा था। मैंने झुककर प्रणाम किया। आशीर्वाद देने के साथ ही उसने आकाश के दक्षिण ओर संकेत किया—"ओ देखो।"

मैंने देखा, दो-दो धूमकेतु एक साथ उगे हुए हैं। भय और आतंक से मेरा हृदय काँप उठा। "क्या सोचते हो?"—वह बोल पड़ा—"पुच्छलतारे नहीं हैं, वरन् आकाश के कर्ण और दुर्योधन हैं।...जानते हो इनका परिणाम क्या होगा?...विनाश...पर घबराने की आवश्यकता नहीं है। ये धूमकेतु जैसे उगे हैं, वैसे अस्त हो जायेंगे। पर यह आकाश सदा-सर्वदा इस हरित धरती पर छाया रहेगा।"—इतना कहकर वह एक वीभत्स हँसी उस सुनसान के कलेजे पर बिखेरता रहा।

● ● ●



समझौते की सम्भावनाओं की धारा कौरवकुमारों की अहंमन्यता की रेत में लगभग सूख-सी गयी। उस तप्त मरु में अशान्ति की आँधियाँ चक्कर मारने लगीं। आर्यावर्त के क्षितिज पर युद्ध के बादल मँडराने लगे। धीरे-धीरे चारों ओर से आतंक और भय का ऐसा धुँआ उठा कि पितामह तक व्यग्र हो उठे,—"लगता है, पूरा देश ही नष्ट हो जायेगा।"—एक दिन उन्होंने व्यथा से बोझिल स्वर में मुझसे कहा। उस समय उनकी मुखमुद्रा ऐसी थी, मानो पश्चात्ताप करने के अतिरिक्त अब उनके हाथों में कुछ और रह नहीं गया है।

दोनों ओर से जमकर युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। आर्यावर्त के इतिहास के पन्ने विध्वंसक हवाओं में फड़फड़ाने लगे। इन हवाओं में एक बूढ़े पीपल-सा मैं भी झकोरें खाने लगा। रात-दिन मुझे ऐसा लगने लगा जैसे नियति मुझे उधर ढकेल रही है जिधर जाना न तो मेरा मन स्वीकार करता है और न बुद्धि। बाढ़ के पानी में थपेड़े खाते जंगली वृक्षों की टहनियों की तरह युद्ध के महासिन्धु की ओर निरुपाय से हम बढ़ते गये।

हर कण्ठ में बस एक ही बात थी। यदि युद्ध हुआ तो आर्यावर्त का विनाश हो जायेगा। उसकी विभीषिका हम सब को चबा जायेगी, क्योंकि सारा प्रदेश दो पक्षों में बँट गया था। सभी राजे-महाराजे किसी-न-किसी ओर हो गये थे। रुक्मिणी का भाई रुक्मी और श्रीकृष्ण के भाई बलराम के अतिरिक्त कोई ऐसा नहीं था जो इस सम्भावित प्रलयंकर युद्ध से निरपेक्ष रहा हो।

मैं तो अहिच्छत्र में पड़ा था, किन्तु अश्वत्थ उसी दिन से अहिच्छत्र नहीं आया, जिस दिन हस्तिनापुर में श्रीकृष्ण का सन्धि-प्रस्ताव ठुकरा दिया गया था तथा उन्हें बन्दी बनाने की असफल चेष्टा की गयी थी। मैंने अनेक बार प्रयत्न किया, पर उसका दर्शन भी मुझे नहीं मिला। एक दिन हस्तिनापुर के

अतिथि-कक्ष में वह दिखायी अवश्य पड़ा। मैंने उसे बुलवाया भी, पर सूचना मिली कि वह युद्ध का निमंत्रण लेकर अभी-अभी कहीं गया है।

तैयारी ! तैयारी !! तैयारी !!!

रात-दिन युद्ध की तैयारी। शस्त्रागारों में अहर्निश कार्य होने लगा, रथों की मरम्मत की जाने लगी। हाथी और घोड़ों की गिनती होने लगी। रुग्ण पशुओं को हटाया जाने लगा। शान्ति और सुव्यवस्था की जिस डाल पर हम सब बैठे थे उसी को काट-काटकर हमारी मूर्खता रण-यज्ञ में हवि देने की तैयारी करने लगी। मुझे जीवन से जैसे वितृष्ण हो गयी थी। हस्तिनापुर आना मैंने करीब-करीब छोड़ दिया था और अहिच्छत्र में ही पड़ा रहता था।

मेरी इस बदली हुई मनःस्थिति का कौरवकुमारों पर कोई प्रभाव नहीं था। उन्हें मेरी कोई परवाह नहीं थी। भगवान जाने ऐसा क्यों ? या तो मेरे अभाव में भी वह स्वयं को सक्षम समझते थे या वह यह जानते थे कि कुछ भी होगा आचार्यजी लौट-फिरकर वहीं आ जायेंगे, जहाँ हम लोग हैं।

अहिच्छत्र का भी सारा वातावरण युद्ध की आशंका से काँप रहा था। सैनिकों की छुट्टियाँ रद्द कर दी गयी थीं। युद्ध की तैयारी पूरी हो रही थी, पर यह किसकी आज्ञा से, मैं स्वयं ही नहीं जानता था। अहिच्छत्र का अधिपति होते हुए भी मेरी हैसियत जंगल के उस ठूँठे पेड़ से अधिक नहीं थी जिसे यह भी पता नहीं रहता कि पतझड़ कब बिखर जाता है और वसंत कब मुस्कराता है।

मैं समझता हूँ कि अहिच्छत्र के इस परिवर्तित परिवेश के मूल में अश्वत्थ ही था, पर किसी ने इस सम्बन्ध में मुझसे कुछ नहीं कहा। कृपी भी मौन ही रही।

एक दिन मैं इस ग्रीष्म की उदास सन्ध्या को टहलता हुआ अपने सैनिक शिविर की ओर चला गया था। दिन मुँह ढँकने लगा था। अँधेरा बढ़ चला था। शिविरों में मशालें जल चुकी थीं। एक शिविर से कुछ सैनिकों के बातें करने की आवाजें आ रही थीं। वे बड़ी मस्ती में हँस-बोल रहे थे। ऐसा लग रहा था जैसे वे मदिरा के दौर से गुजर रहे हों।

"...ले पी,...जब तक धृतराष्ट्र के बच्चे पीने देते हैं, पी।"

"...क्यों ? धृतराष्ट्र के बच्चों को क्यों कहता है रे ? द्रोण के बच्चे का क्यों नहीं नाम लेता ?"

"...कौन द्रोण का बच्चा ?"

"अरे वही घोड़मुँहा।"—फिर एक उन्मुक्त खिलखिलाहट सुनायी पड़ी।

"अरे उसे भी धृतराष्ट्र का ही बच्चा समझ।...वह द्रोण को अपना बाप मानता हो तब तो ?"

"क्यों वह अपने बाप को ही बाप नहीं समझता क्या ?"

"यदि समझता तो अपनी योजनाएँ उनसे न बताता ?...चुपचाप आता है और प्रधान सेनापति को निर्देश देकर चला जाता है ?...और आचार्य उसे खोजते ही रह जाते हैं ?"

"तो क्यों नहीं कल से हम यही प्रचारित कर दें कि अश्वत्थामा द्रोण का नहीं, बल्कि धृतराष्ट्र का पुत्र है।" पुनः जोर की हँसी सुनायी पड़ी।

"कर दें प्रचारित, यदि चाकरी न करनी हो तो।"

"कौन माई का लाल जन्मा है जो हमें चाकरी से हटा दे ?....वह भी इस समय, जब हमारे खून की सबसे अधिक आवश्यकता है।"

"उन्हें खून की आवश्यकता है....और हमें मदिरा की।....भर दे फिर से पात्र।"—पुनः खिलखिलाहट गूँजी।

सुरा-पात्र से मदिरा उँड़ेलने की कल-कल ध्वनि सुनायी पड़ी और उसी के बीच से एक दूसरी आवाज उभरी,—"....ले पी और अपना खून बंधक रखकर जी।...एक सैनिक का इससे अधिक और क्या जीवन है ?...मार, काट, हत्या और स्वयं अपना बलिदान। क्या लेना-देना है उसे शत्रु के सैनिकों से। राजाओं का तो स्वार्थ सिद्ध होगा। उनके लोभ की तृप्ति होगी।...पर हमें क्या मिलेगा ?"

"विजयी हुए तो भोज मिलेगा और यदि रण में मारे गये तो स्वर्ग मिलेगा।"

"देखा है तुमने स्वर्ग ?"

"हाँ देखा है,....देख रहा हूँ और जब तक जीवन है, देखता रहूँगा।"

"कहाँ है ?"

"इसी मदिरा के पात्र में।"—फिर तेज हँसी गूँजी, एक ऐसी हँसी जो हमारे मस्तिष्क से जोर से टकरायी और हमारे हृदय में रूई के भीतर सुई-सी चुभती चली गयी। मैं एक क्षण भी वहाँ रुक नहीं सका। मुझे ऐसा लगा, जैसे कोई मेरे भीतर निरन्तर बोल रहा है,—"···मुझे क्या लेना-देना है कौरवों से ?···मुझे क्या लेना-देना है पाण्डवों से ?···किसी के लोभ की तृप्ति होगी, किसी का स्वार्थ सिद्ध होगा।···पर मैं विनाश के भग्नावशेष पर खड़ा-का-खड़ा रह जाऊँगा।···और यदि महाकाल ने तांडव किया तो सो जाऊँगा।"

मेरी अशान्ति से रात बोझिल हो चली थी। मेरी शय्या अन्तःपुर की ऊपरी मंजिल में लगा दी गयी थी। चारों ओर के बड़े-बड़े वातायन भिखारियों की हथेलियों की तरह खुले थे। मेरी स्थिति पर हँसता हुआ आकाश का चन्द्रमा वातायन से झाँक रहा था। चाँदनी हम पर फिसल रही थी।

मेरे मन की व्यग्रता मुझे सोने नहीं दे रही थी। मैं मैरेय की शरण लेता था, पर नींद कोसों दूर थी। रात्रि का प्रहर-पर-प्रहर बीतता चला जा रहा था।

लगता है, मेरी अस्थिरता और घबराहट की सूचना कृपी को भी लगी। वह मेरे पास आयी। मैंने उसे डाँटा—"तुम्हारा पुत्र यहाँ छिपे-छिपे आता है सारे निर्देश देकर चला जाता है और तू मुझे बताती तक नहीं है।"

वह इस सन्दर्भ में मुझसे कुछ कहे इसके पहले ही मैंने डाँटकर हटा दिया—"चली जा ! मेरी आँखो के सामने से।"

वह चली गयी। कक्ष में तो कोई नहीं था, पर लगता है, बाहर मेरी देख-रेख के लिए उसने कुछ लोगों को रख छोड़ा था। मैं अपनी व्यग्रता को चषकों में बोरते रहने की असफल चेष्टा करता रहा। फिर भी जागता रहा।

शान्ति के लिए भूखा मेरा मन रात के टुकड़ों को चाँदनी में डुबो-डुबोकर चबाता रहा। अन्ततोगत्वा नींद ने हमें धर दबाया।

मैंने एक विलक्षण स्वप्न देखा। मेरा रथ एक घने जंगल में भटक गया है। मेरे साथ ही पितामह, विदुर, धृतराष्ट्र आदि भी हैं। सभी अत्यधिक घबराये हुए हैं। पास में खाने के लिए भी कुछ नहीं है। धीरे-धीरे रात होने लगती है, हिंसक जीवों की भयानक आवाजें सुनायी पड़ती हैं। पर कोई जानवर दिखायी नहीं देता है, फिर भी बड़ा डरावना लग रहा है। रात गाढ़ी होती जा रही है। क्या खाऊँ? कहाँ रहूँ?······कुछ समझ में नहीं आ रहा है।

हम सभी निराश एक पेड़ के मोटे तने के सहारे बैठ जाते हैं। थोड़ी ही देर में हमें अपने रथों में बँधे घोड़ों की विलक्षण हिनहिनाहटें सुनायी देती हैं और वह हिनहिनाहटें बराबर बढ़ती जाती हैं। क्या बात है? कहीं कोई हिंस्र पशु तो रथ के निकट नहीं पहुँच आया, हम सोचते हैं और उठकर रथ के पास पहुँचते हैं। हिनहिनाहटें बराबर बढ़ती जाती हैं।

हमें अपार आश्चर्य होता है जब हम देखते हैं कि रथ में घोड़े नहीं हैं केवल उनकी बराबर गूँजती हुई हिनहिनाहटें हैं। हम विस्मय से रथ निहारते रह जाते हैं। जैसे एक अदृश्य आवाज हमें सुनायी पड़ती है—बहुत जल्दी ही तुम सब लोग इन घोड़ों की तरह ही धरती से अदृश्य हो जाओगे और तब रह जायेगी इतिहास में गूंजती केवल तुम्हारी हिनहिनाहटें।

हम सब एकदम घबरा उठते हैं। लगता है, कई चीखें एक साथ हमारे मुखों से निकल पड़ती हैं, पर उनमें से कोई भी हमें सुनायी नहीं पड़ती। हम आश्चर्यचकित-से रह जाते हैं।

हमारी भूख बढ़ती जाती है। क्या खाया जाय, कुछ समझ में नहीं आता। तब तक एक पेड़ पर बहुत सारे फल हमें रात के अँधेरे में ही दिखायी देते हैं। तरह-तरह के फल एक ही पेड़ में, हम कुछ समझ नहीं पाते। भूख ने इतना सताया कि हम सब उस पेड़ पर चढ़ने के लिए विवश हो गये।

फिर क्या देखते हैं कि फल गायब हो गये और उनके स्थान पर हमारे सिर पेड़ों पर लटक रहे हैं। हमारे धड़ नहीं थे, पर सिर लटक रहे थे। कितना विस्मयकारक, कितना आश्चर्यजनक! हम बोल भी सकते थे, चीख भी सकते थे, पर खा नहीं सकते थे क्योंकि हाथ भी नहीं थे और फल भी अदृश्य हो गये थे।

थोड़ी देर बाद जोर की आँधी आयी, सारा जंगल जैसे झकझोर दिया गया। डालियाँ टूट-टूटकर उड़ने लगीं, पेड़ उखड़ने लगे। अरण्य के गर्भ से दावाग्नि भभक पड़ी। उसकी लपटें जंगल निगलने के लिए आगे बढ़ीं। धुआँ आकाश चूमने लगा।

आँधी में हमारे रथ आपस में और पेड़ों से टकराकर चूर-चूर हो गये। आँधी तेज होती गयी। दावाग्नि हमारे पेड़ की ओर बढ़ी। हम सब चीख पड़े। इसी बीच आँधी का एक तेज झोंका और आया। मेरा पेड़ उखड़ गया। ऐसा लगा, जैसे हम धरती पर गिर पड़े। झटके से हमारी नींद टूट गयी।

सचमुच हम शय्या से ढुलककर धरती पर ही पड़े थे। सबेरा हो गया था। धूप कक्ष में आ गयी थी। मैरेय-पात्र और चषक ढुलके हुए थे। मदिरा धरा-तल पर पसरकर सूख गयी थी।

परिचारकों ने पहले मुझे छुआ तक नहीं। सोचा, अधिक पीने के कारण मैं अचेत हो गया हूँ, पर जब मैं जगा उन्होंने दौड़कर उठाया। मैं एकदम स्वस्थ था। उनकी सहायता की मुझे कोई आवश्यकता नहीं थी। जब मैंने उगते हुए सूरज को प्रणाम किया और अथर्ववेद का यह मंत्र गुनगुनाया,

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव
यद् भद्रं तन्न आसुव

तब तक कृपी भी कक्ष में आ गयी थी। उसने मेरी मुद्रा देखी और मेरा अच्छी तरह अध्ययन किया। कदाचित् मेरा मन हल्का करने के लिए ही बोली,—"आप भी विचित्र जीव हैं। जीवन-भर माँगते ही रहेंगे। आखिर क्या नहीं मिला आपको ?"

मैं समझ नहीं पाया कि कृपी किस सन्दर्भ में कह रही है। मैं सोचता हुआ उसी शय्या पर बैठ गया। कृपी कहती गयी,—"कहाँ कल रंक थे आज राजा हो गये। फिर भी माँगना नहीं छोड़ा आपने।"

"किससे माँग रहा हूँ ?, कहाँ माँग रहा हूँ ?, तू यह कैसी पहेली बुझा रही है ?" मैं विस्मय-विभोर हो बोला।

"क्यों आपने अभी कहा नहीं ?···यद् भद्रं तन्न आसुव—जो कल्याणकारी हो, वह मुझे दो।"—उसने कहा और मुस्करायी।

मुझे जोर से हँसी आ गयी। विचित्र है यह स्त्री भी। कहाँ की बात कृपी ने कहाँ लाकर भिड़ायी है। मैंने हँसते हुए ही कहा,–"अरे, मैं तो सूर्य देवता की अभ्यर्थना कर रहा था। न उनसे सम्पत्ति माँग रहा था, न सन्तान माँग रहा था और न राज्य माँग रहा था—केवल यह निवेदन कर रहा था कि जो कल्याणकारी हो, प्रभु वही प्रदान करो।"

"इसका मतलब है कि आज आपको कोई-न-कोई कल्याणकारी वस्तु मिलेगी।"—वह फिर रहस्यमयी ढंग से मुस्करायी।

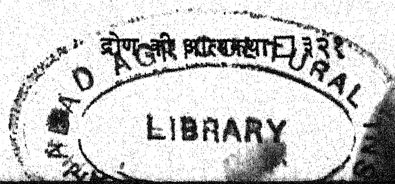
"यदि भगवान भास्कर की कृपा हुई तो अवश्य मिलेगी।"—मैंने कहा।

"तब आप इतनी चिन्ता क्यों करते हैं ? चलिए उठिए स्नान कीजिए। अग्निहोत्र और पूजन कीजिए, प्रकृतस्थ होइए।"—मुस्कराते हुए ही वह बोलती रही। उसने अपने दाहिने हाथ से मेरी भुजा उठायी और मैं स्नान के निमित्त चल पड़ा। साथ-साथ वह भी थी।

"लगता है, तुम्हारे पास कोई कल्याणकारी वस्तु मुझे देने को है।

"जरूर है।"—वह खिलखिला पड़ी।

कृपी के इस व्यवहार ने सचमुच मुझे हल्का कर दिया। उसकी मुस्कराहट में मेरी सारी व्यग्रता धुल गयी थी। मैंने अनुभव किया कि एक सद्गुणी स्त्री वस्तुतः ईश्वरीय वरदान है जिसे स्वर्ग छीने जाने की क्षति-पूर्ति के रूप में परमात्मा ने मनुष्य को दिया है, जिसके बिना उसका जीवन अधूरा है। पुरुष के निराशा के अन्धकार में ऐसी नारी आशा की किरण है, व्यग्रता और चिन्ता की धधकती रेत में शान्ति और शीतलता की एक वाटिका है।



इस समय सचमुच मैं कृपी के साथ विलक्षण शान्ति का अनुभव कर रहा था। उसने मेरे स्नान के लिए मल्लिका से वासित शीतल जल की व्यवस्था की थी। स्नानागार में जाने के पहले मैंने उससे पुनः पूछा,—"अच्छा बताओ, वह कौन-सी कल्याणकारी वस्तु है ?"

"आप इतने व्याकुल क्यों होते हैं ? जब समय आयेगा, आपको प्राप्त हो जायेगी।"

"क्यों इस समय प्राप्त नहीं हो सकती ?"

"वह अगरु या चन्दन तो है नहीं, जो स्नानागार में जाने के पहले आपको दे दिया जाये।"—वह जोर से हँसी, मैं मुस्कराता हुआ स्नानागार में चला गया।

नित्यकर्म से निवृत्त हो जाने के बाद जलपान के समय कृपी फिर मेरे कक्ष में आयी, वैसी ही मुस्कराती, प्रसन्नवदना। आते ही सामने बैठ गयी और रसाल फलों को जल में धो-धोकर स्वयं देने लगी। परिचारिका हटकर पीछे खड़ी हो गयी।

अत्यन्त गम्भीरता ओढ़कर वह बोली—"आज कल आप बड़े चिन्तित रहते हैं, समझ में नहीं आता कि इतनी चिन्ता क्यों करते हैं ? जो होनेवाला है, वह तो होगा ही। आपके चिन्ता करने से उसमें कोई परिवर्तन होने का नहीं।"

"आखिर तुम कहना क्या चाहती हो ?"

"कहना यही चाहती हूँ कि थोड़े से जीवन के दिन और हैं। चाहे हम हँस के जीयें या रोय के। जीना तो हमीं को है।...फिर इतनी हाय-हाय क्यों ?

उसकी इस दार्शनिक अभिव्यक्ति पर मुझे हँसी आ गयी। वह भी हँसने लगी। मैं व्यंग्य करते हुए बोला,—"अच्छा, गार्गी महोदया, यह तो बताइए कि आप मुझे कौन-सी कल्याणकारी वस्तु देना चाहती हैं।"

जब उसने देख लिया कि मैं चिन्ता और सोच से सर्वथा मुक्त हो गया और अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में हूँ तब उसने एक पत्र निकालकर मेरी ओर बढ़ा दिया।

पत्र दुर्योधन का था। आज सन्ध्या को ही युद्ध-परिषद् बैठनेवाली थी। उसमें उपस्थित होने के लिए सादर निमंत्रण था। बड़े आदर भाव से लिखा गया था। दुर्योधन ने स्वयं उल्लेख किया था कि''''अनेक राजे-महाराजे और योद्धा हमारी ओर से लड़ने के लिए तैयार हैं।''''विजय हमारी निश्चित है।''''अब केवल एक ही बात का निश्चय करना है कि हमारे पक्ष का प्रधान सेनापति कौन हो?—आप और पितामह के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति दिखायी नहीं देता।

पूरा पत्र एक साँस में पढ़ लेने के बाद मैं मुस्कराया,—"यही है तुम्हारी कल्याणकारी वस्तु?"

वह भी हँसी, बोली,—"कोई भी वस्तु स्वयं में न कल्याणकारी होती है और न अकल्याणकारी।'''कल्याण और अकल्याण की भावना किसी वस्तु में नहीं, वरन् वस्तु ग्रहण करनेवाले की मनःस्थिति और उस समय की परिस्थिति पर निर्भर होती है।"

पत्र पिछली रात को ही आया था। यह सारा नाटक कृपी ने मेरी मनः-स्थिति बदलने और मुझे चिन्ता-मुक्त करने के लिए ही किया था। कृपी के विचार से कौरवों का प्रधान सेनापति होना मेरे लिए बड़े गौरव की बात थी।

दुर्योधन के ही महल में यह पहली युद्ध-परिषद बैठी थी। अँधेरा हो चला था। चारों ओर ज्योति-पात्र जला दिये गये थे। मेरे और पितामह के अतिरिक्त कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कृतवर्मा, दुःशासन, शकुनि, दुर्योधन, ज्योतिषाचार्य सुवर्चा आदि उपस्थित थे। आश्चर्य था कि धृतराष्ट्र वहाँ नहीं थे। मंत्रणा-कक्ष खचाखच भरा था। अधिरथ पुत्र कर्ण भी एक कोने में बैठा था। लगता था कि उससे पहले से ही कह दिया गया था कि तुम विचार-विमर्श में बिल्कुल मत बोलना।

दो बातें मेरे मन में स्पष्ट उठ रही थीं। पहली बात तो यह थी कि अब भी यदि युद्ध टाला जा सकता तो दोनों पक्षों का ही नहीं, वरन् पूरे आर्यावर्त का भला होता। दूसरी बात यह थी कि पितामह के रहते मैं स्वयं सेनापति बनना उचित नहीं समझता था। पहले तो मेरे सेनापति बनने का प्रश्न ही नहीं उठेगा, यदि किसी ने मेरा नाम भी लिया तो मैं पितामह का ही समर्थन करूँगा, क्योंकि मैं समझता था कि यदि विजय हुई तो कर्ण तथा दुर्योधन का अहं कभी मुझे श्रेय नहीं देगा और यदि पराजय हुई तो सारा अपयश मेरे ही माथे मढ़ा जायेगा।

परिषद् की अध्यक्षता पितामह ने ही की। बातचीत कोई विस्तार ले इसके पहले ही मैं बड़े निर्भय भाव से खड़ा हो गया। सोचने लगा, अब तो कौरवों के पक्ष से लड़ना ही है, तब क्यों नहीं मन की सारी बातें साफ-साफ कह दी जायें। मैंने कहना आरम्भ कर दिया।

अध्यक्ष महोदय, कौरवकुमारो एवं बन्धुओ,

इसके पहले कि आप भावी युद्ध के मानचित्र पर विचार करें, सोचता हूँ कि कुछ बातें आप से कह लूँ।···यों तो मैंने अनेक अवसरों पर अपने विचारों का संकेत किया है, फिर भी कभी संकोचवश और कभी शालीनतावश मैं उन्हें पूरा कह नहीं पाया हूँ। आज सोचता हूँ कि ज्वालामुखी फूटने के पहले मैं अपने मन की सारी बातें साफ-साफ कह दूँ। आत्मा की आवाज दबाऊँ नहीं, क्योंकि अपनी आत्मा की आवाज दबाना एक बहुत बड़ा अपराध है। ऐसा अपराध न हमारे हित में होगा और न आपके।"

मित्रो, मेरा अब भी विश्वास है कि यह विनाशक युद्ध किसी तरह रुक जाये तो अच्छा हो। दुर्योधन और युधिष्ठिर का समझौता पूरे आर्यावर्त में सुख-चैन की बरसा करेगा।····मैं यह बात इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि मैं युद्ध से भागना चाहता हूँ या आपकी ओर से लड़ना नहीं चाहता, वरन् इसलिए कह रहा हूँ कि मुझे लगता है कि हम सब एक ज्वालामुखी पर अपनी आकांक्षाओं का महल बनाने की चेष्टा कर रहे हैं।

""""यह ठीक है कि युद्ध अत्यन्त निकट है। सेना को कूच करने का आदेश कल प्रातः तक दे दिया जायेगा। इस समय मेरा कुछ कहना अन्तिम क्षण के निवेदन की तरह अधिक महत्त्व नहीं रखता, फिर भी मेरा दृढ़ विश्वास है कि युद्ध अब भी रोका जा सकता है। भभकनेवाली ज्वालाओं को सदा-सदा के लिए बुझा दिया जा सकता है।""""

मैं बोल ही रहा था कि बीच में ही शकुनि उठ खड़ा हुआ और बोला,—"यह सभा युद्ध-संचालन पर गम्भीर मंत्रणा के लिए बुलायी गयी है, न कि युद्ध रोकने पर विचार करने के लिए।"—शकुनि ने कुछ ऐसे ढंग से मुँह बिचकाया कि मुझे क्रोध आ गया।

मैंने कहा,—"जीवन-भर चौसर के पाँसे फेंकनेवाले तुम्हें क्या मालूम कि युद्ध की विभीषिका कैसी होती हैं?"""कभी कोई बड़ी लड़ाई लड़ी होती तब तो।"

शकुनि तो कुछ नहीं बोला, किन्तु दुर्योधन ने कुछ कहने की चेष्टा की। पितामह ने उसे रोक दिया और मुझे अपनी बात पूरी करने के लिए संकेत किया। मैंने पुनः बोलना आरम्भ किया,—"""मित्रो, आप मेरे बात को अन्यथा न समझें।"""जिस तरह की लड़ाई अर्जुन ने विराट के युद्ध में लड़ी थी, वह अद्भुत थी। हम लोगों में से किसी के पास भी उसके चलाये अस्त्रों का परिहार नहीं था।""""उसने आचार्य पशुपति से अधुनातन आग्नेय अस्त्रों का प्रयोग सीख लिया है। मेरी विद्या तो पुरानी हो गयी है। आप मेरे और पितामह के भरोसे सोचते हैं कि लड़ाई जीत ली जायेगी, यह आप का भ्रम है।" इतना कहने के बाद मैं एक क्षण के लिए रुका। शायद मुझे खाँसी आ गयी या कोई बात हुई।

तुरन्त ही मैंने बिषय बदलकर बोलना आरम्भ किया,—""""अब मैं एक बात और कहने जा रहा हूँ, कदाचित् वह आप में से किसी को अच्छी न लगे, पर है सत्य। सत्य की निश्छलता भी उसमें है और सत्य की कटुता भी।""" पाण्डवों ने कभी हमारा अहित नहीं किया।"""विराट-युद्ध के अन्त में जब हम सब चेतना-हीन हो गये थे, वे बड़ी सरलता से हमारा वध कर सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। जिस समय गन्धर्वों ने दुर्योधन को बन्दी बनाया था,

बड़ी सुगमता से दुर्योधन की इहलीला समाप्त की जा सकती थी, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया, वरन् इसके विपरीत गन्धर्वों को परास्त कर दुर्योधन को उनसे छुड़ाया। यही स्थिति द्रौपदी पर कुदृष्टि डालने पर जयद्रथ की भी हुई थी, जिसे युधिष्ठिर ने क्षमा कर दिया।...आखिर ऐसा उन्होंने क्यों किया ? केवल इसी लिए कि आप उनके भाई हैं। आपकी धमनियों में जो रक्त प्रवाहित है उसी से मिलता-जुलता रक्त उनकी धमनियों में भी है। वे अपने सामने आपका विनाश देख नहीं सकते थे।...तो क्या हम उनका विनाश करने के लिए तैयार हो जायें, यही हमारी मानवता है ? यही हमारी नैतिकता है ?...जरा सोचिए तो, आगे आनेवाली संततियाँ हमें क्या कहेंगी ? इतिहास के पन्नों में हमारा कौन-सा चित्र रहेगा ?"

इतना कहकर मैं बैठ गया। मैंने अनुभव किया कि अपने जीवन का सबसे प्रभावशाली भाषण मैंने दिया है। मेरे मन में यह भी था कि मैं उस भाषण के मध्य में ही कुछ पितामह से भी निवेदन करता, पर कह नहीं सकता क्यों, मैंने ऐसा नहीं किया।

निश्चित रूप से मैं एक हल्केपन का अनुभव कर रहा था क्योंकि आज तक मैंने कभी इतनी बातें नहीं कही थीं।

भाषण समाप्त करते ही मैंने सब की आकृतियों पर अपनी दृष्टि घुमायी और समझ गया कि मेरी बात किसी को भी अच्छी नहीं लगी।

मेरे बैठते ही दुर्योधन खड़ा हुआ। कितना विचित्र था कि उसके खड़े होते ही लोगों ने तालियाँ बजायीं जब कि मेरे इतने ओजस्वी भाषण में एक बार भी ताली नहीं बजी।

बड़े ढंग से खंखारते और गला साफ करते हुए उसने केवल पितामह को सम्बोधित कर अपना भाषण आरम्भ कर दिया,—"...मैं बहुत विस्तार से कुछ कहना नहीं चाहता, मैं बस इतना जानता हूँ कि जब लोग बूढ़े हो जाते हैं तब उनकी बुद्धि सठिया जाती है।"—इतना कहते हुए उसकी दृष्टि अचानक पितामह पर पड़ी, उसने तुरन्त अपनी बात बदली,—"...इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सभी बूढ़ों की बुद्धि ऐसी ही हो जाती है। कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जिनके

तन की वृद्धता के साथ-ही-साथ बुद्धि में भी वृद्धता आ जाती है।...आचार्यजी की इस समय बुद्धि ऐसी ही है। उनकी बुद्धि में मोह और उदासीनता ने घर जमा लिया है और दूसरी बात यह भी है...."—दुर्योधन जब बोल ही रहा था कि दीवार से लटक रहा एक ज्योति-पात्र अचानक टूटकर गिर गया। यह तो कहिए लोग बच गये नहीं तो दो-एक अवश्य घायल हो जाते। ऐसा क्यों हुआ ठीक-ठीक कह नहीं सकता, पर लगता है बिल्ली उस पर कूद पड़ी थी।

प्रकाश एक बार तेजी से भभका। अँधेरे की छाती काँप गयी। क्षणभर के लिए सबकी दृष्टि उधर गयी, पर कोई अपने स्थान से उठा नहीं। कुछ रुककर दुर्योधन ने पुनः अपना भाषण आरम्भ किया,—"....बन्धुओ, अब यह निश्चय करने का अवसर नहीं है कि युद्ध किया जाय या न किया जाय। युद्ध तो होगा ही और निश्चित होगा।....चन्द्र टल सकता है सूर्य टल सकता है पर युद्ध नहीं टल सकता। (तालियों की गड़गड़ाहट) जिन्हें पांडव अधिक पराक्रमी और अधुनातन अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता लगते हों, जिन्हें पराजय और मरण का भय हो, उनसे मेरा करबद्ध निवेदन है कि वे इस युद्ध में सम्मिलित होने का कष्ट न करें।.... और लोग भी चाहें तो मेरा साथ छोड़ दें, किन्तु युद्ध का संकल्प दुर्योधन ने कर लिया है, वह बन्द नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। नहीं हो सकता। (फिर जोरों की तालियाँ).... यदि कोई भी तैयार नहीं होगा तो मैं, कर्ण, दुःशासन और मामा शकुनि पूरी लड़ाई लड़ लेंगे।"

बोलते-बोलते उसने पुनः मुझ पर दृष्टि डाली। उसमें एक विचित्र-सी चुभन थी। मुझे पीड़ा हुई। मन ने कहा, जब लड़ना ही है तब विरोध करके लड़ने से क्या लाभ! मैं व्यथित मन से आत्म-सर्मपण के ही स्वर में बोल पड़ा,—"कुमार यदि लड़ना ही होगा तो मैं तुम्हारे साथ ही हूँ।...मैंने तो इतनी बातें इसलिए कही थीं कि मैंने चाहा कि मैं ईमानदारी से अपनी बातें आप सब के सामने कह दूँ।"

"आप लड़ाई में मेरे साथ रहें या न रहें। इसके लिए आप पूर्ण स्वतंत्र हैं।...यदि आप नहीं रहते तो भी कोई बात नहीं। आप आचार्य हैं। हमारे

लिए प्रणम्य रहे हैं और प्रणम्य रहेंगे। यदि आप हमारे साथ रहेंगे तो हम इसे अपना सौभाग्य समझेंगे और आपके निर्देश का गम्भीरतापूर्वक पालन करेंगे।"....किन्तु एक बात का मुझे बड़ा दु:ख है, ऐसे समय जब हमने आचार्य-जी से बड़ी-बड़ी आशाएँ कर रखी थीं, जब उनके उत्साहवर्धन की हमें सबसे अधिक आवश्यकता थी तब उन्होंने ऐसी-ऐसी बातें कहीं जिससे हमारा मन बैठ जाये।....इस समय तो उन बातों की कोई आवश्यकता भी नहीं थी और न आज की सभा ही इसके लिए बुलायी गयी है। आज तो हमें यह निर्णय लेना है कि हमारे पक्ष का सेनापति कौन होगा और हमें किस मुहूर्त में युद्ध आरम्भ करना चाहिए।....आश्चर्य है कि आचार्यजी इस परिषद् में समझौते का वाता-वरण बनाने की चेष्टा करने लगे।"

इसके बाद ही उसने क्षणभर में अपनी मुद्रा बदली और मुस्कराते हुए बोला,—"....इसे तो आप अच्छी तरह जान लें कि युद्ध का निर्णय हमने ले लिया है। उसे बदला नहीं जा सकता। मेरा विश्वास है कि आचार्यजी के साथ-ही-साथ आप सब हमारा समर्थन करेंगे।"

इतना कहकर वह बैठ गया। देर तक तालियों की गड़गड़ाहट गूँजती रही। पितामह ने बड़ी गम्भीरता से पूछा,—"आप में से किसी और को कुछ कहना है?"

कोई खड़ा नहीं हुआ।

पितामह ने स्वयं कहना आरम्भ किया,—"पारिषदो, यों तो मैं भी आचार्य-जी के विचारों का ही हूँ। युद्ध यदि किसी प्रकार रुक जाता तो क्षत्रियों का विनाश टल जाता।....किन्तु अब यह स्थिति नहीं रह गयी। कौरवकुमार माननेवाले नहीं हैं। युद्ध अनिवार्य हो गया है। ऐसी परिस्थिति में हमें उनका साथ देना ही चाहिए।"—मेरी ओर देखकर वे कहते रहे,—"हमें भी जी खोलकर उनके पक्ष से लड़ना चाहिए। (तालियों की गम्भीर गड़गड़ाहट) ..मैं ऐसा इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि मैं भी दुर्योधन के मत का हूँ, वरन् इसलिए कह रहा हूँ कि आचार्य और मेरे जैसे लोग यदि युद्ध में सम्मिलित

रहेंगे तो अनेक ऐसे अवसर रण के मध्य में ही आ सकते हैं जब हम दोनों पक्षों में समझौता कराने में समर्थ हो सकें।"

भाषण समाप्त कर बैठते हुए पितामह मुझसे बोले,—"कहिए, अब आप की क्या राय है ?"

मैंने देखा, पितामह ने बड़ी चतुराई से युद्ध में सम्मिलित होने का निर्णय भी किया और दुर्योधन की हठधर्मिता का विरोध भी। अब वह मुझसे मेरी राय जानना चाहते थे। स्पष्ट था कि वे मुझसे अपना समर्थन कराना चाहते थे। मैंने भी वैसी ही चतुराई बरती और बोला,—"··पितामह का निर्देश मुझे शिरोधार्य है।"—एक प्रसन्नता की लहर पूरे सभा-कक्ष में दौड़ गयी। मैंने आगे कहा—"यह तो मैं. करता ही, फिर भी मैंने इतना इसलिए कहा,—हर बड़े-बूढ़े का कर्त्तव्य होता है कि कुएँ में गिरने से बच्चों को रोकें। यदि बच्चे कुएँ में गिरना ही चाहते हैं तो उनके साथ गिरें और कुएँ से उन्हें जीवित निकाल लें।" इस बार की तालियों की गड़गड़ाहट काफी देर तक चलती रही।

मैंने पुनः पितामह को सम्बोधित करते हुए कहा,—"आप जैसे अनुभवी के साथ रहने में मैं अपना गौरव समझता हूँ।····आपके साथ तो यदि मुझे नरक में भी चलना पड़े तो मैं वहाँ भी प्रसन्नता का अनुभव करूँगा।

इतना कहकर मैं बैठ गया। अब दो ही प्रश्न शेष थे। कौन प्रधान सेनापति हो और किस मुहूर्त में लड़ाई आरम्भ की जाये।

पितामह ही बोले,—"···अब आप लोग निश्चित कीजिए कि कौरव-पक्ष का कौन प्रधान सेनापति हो।···किन्तु एक बात निश्चित समझिए कि यदि कर्ण सेनापति होगा तो मैं युद्ध में सम्मिलित नहीं होऊँगा।"

उनकी बात पूरी होते ही अब तक चुप कर्ण एकदम उबल पड़ा,—"जब तक आप रहेंगे कर्ण रण-क्षेत्र में पैर रखने भी नहीं जायेगा।"

इस कड़कती आवाज के बाद कुछ क्षणों तक एकदम शान्ति हो गयी। जीवन में शायद पहली बार पितामह ने कर्ण का इतना तगड़ा विरोध किया था।

वे सचमुच उसकी उद्दंडता एवं दुर्विनय से बड़े दुःखी थे। उनके इस विरोध से मुझे भी बड़ी शान्ति मिली।

फिर पितामह ही बोले,—"अच्छा, अब सेनापति के लिए नाम प्रस्तावित कीजिए।"

"मैं चाहता हूँ कि आप ही कौरव-सेना का संचालन करें।"—यह मेरा प्रस्ताव था और सबने इसका समर्थन करतल-ध्वनि से किया। फिर कोई और नाम नहीं आया।

पितामह कौरव-पक्ष के प्रधान सेनापति हो गये। बाहर से मैं जितनी प्रसन्नता व्यक्त कर रहा था उससे कहीं अधिक मैं मन में प्रसन्न था। उत्तरदायित्वविहीन व्यक्ति एक प्रकार के हल्केपन का अनुभव करता है। वैसे ही हल्केपन का भान मैं भी कर रहा था।

अब मुहूर्त के सम्बन्ध में बात उठी, राज-ज्योतिषी सुवर्चा से पूछा गया, वह बूढ़ा सदा की भाँति खँखारता और मुस्कराता खड़ा हुआ। मुहूर्त के नाम पर हँसने लगा। ज्योति-पात्रों का धूमिल प्रकाश उसकी हँसी पीने लगा। उसके आकृति की प्रत्येक झुर्री अर्थ-गाम्भीर्य से भरी हुई थी। उसने अपनी उसी हँसी के बीच कहा—"आप मुहूर्त क्या पूछते हैं ?" मुहूर्त तो उनके लिए देखना पड़ता है जिसका भविष्य अनिश्चित हो।

आपका भविष्य तो निश्चित है।···आप सब जानते हैं कि क्या होनेवाला है और यदि न भी जानते रहे होंगे तो कौरवकुमार के भाषण के समय बिल्ली कूदने और ज्योति-पात्र के गिरने के लक्षण से सभी समझ गये होंगे।"—इतना कहकर सुवर्चा फिर हँसने लगा और आकर अपने स्थान पर चुपचाप बैठ गया।

"पागल है यह ज्योतिषाचार्य।····इन सभी बूढ़ों का मस्तिष्क विकृत हो गया है।"—एख तीखी आवाज सभा-कक्ष में गूँज गयी। लोगों की दृष्टि दक्षिण-कोण की ओर गयी। कर्ण उठकर बाहर जा रहा था।

जब परिषद् उठ गयी और मैं बाहर निकला, शकुनि मेरे निकट आकर बड़े ही विचित्र ढंग से बोला—"चौसर के ही नहीं, वरन् युद्ध के पाँसे फेंकना भी जानता हूँ आचार्य।"

मैं चुप रह गया।

युद्ध ! युद्ध !! युद्ध !!!

भयंकर युद्ध, सूर्योदय से सूर्यास्त तक युद्ध, ऐसा युद्ध जिसकी किसी ने कल्पना नहीं की थी। मैंने भी नहीं सोचा था कि ऐसा विप्लवी नर-संहार देखना पड़ेगा। लाख प्रयास करने पर भी पाण्डवों को परास्त करना असम्भव हो गया। पितामह ने कुछ भी उठा नहीं रखा, पर पाण्डव-सेना विजय की ओर उन्मुख होती रही।

दिन-भर युद्ध चलता था। सन्ध्या होते ही बन्द हो जाता था। प्रकाश में वैरी, अन्धकार में मित्र हो जाते थे। आपस में मिलते थे, कुशल-क्षेम पूछते थे। घायलों की मरहम-पट्टी की जाती थी।

किन्तु उस अन्धकार में भी मानवी हिंसा मरती नहीं थी, केवल थोड़ा विश्राम करती थी। दुर्योधन को कभी भी हम लोगों ने पाण्डवों के शिविरों में जाते नहीं देखा। युधिष्ठिर भले ही हम लोगों के यहाँ आ जाते थे। कर्ण ने तो युद्ध-भूमि में पैर ही नहीं रखा। प्रतिदिन सन्ध्या के बाद वह कुरुक्षेत्र की युद्ध परिधि के बाहर आता था। दुर्योधन भी शकुनि और अपने भाइयों के साथ वहीं चला जाता था। बड़ी रात तक मंत्रणाएँ होती थीं।

एक रात दुर्योधन मुझे भी ले गया था। बातों के ही क्रम में कर्ण ने कहा, —"......हमारी सेना पाण्डवों से अधिक है। पितामह और आचार्य ऐसे रण-कौशल के विशेषज्ञ हमारे पक्ष से लड़ रहे हैं। फिर भी विजय हमसे कोसों दूर है।"

"यही तो मेरी समझ में नहीं आता।"—दुर्योधन बोला।

कर्ण बड़े जोर से हँसा—"इसमें कोई रहस्य तो है नहीं। बात बिल्कुल साफ है।····मोह की नींव पर युद्ध की भीत नहीं उठती। पितामह और आचार्यजी के मन में पाण्डवों के प्रति····"—इतना कहते-कहते मेरी ओर उसने देखा और एकदम चुप हो गया।

मैं तो समझ गया कि वह कहना चाहता है कि पाण्डवों के प्रति हमारे मन में छिपे मोह के कारण युद्ध में तेजी नहीं आ रही है। मुझे यह बात चुभ भी गयी; किन्तु उस समय बात बढ़ाना मैंने ठीक नहीं समझा। रात काफी हो चली थी। थका था। बहुत से शिविरों में तो मशालें बुझ-सी गयी थीं। तन विश्राम माँग रहा था।

मैंने बस उससे इतना ही कहा—"अब तुम्हें भी युद्ध में कूदना चाहिए।"

वह एकदम भभक पड़ा—"मैं सूत-पुत्र हूँ तो इससे क्या हुआ, पर अपने वचन का पक्का हूँ। मैंने प्रण कर लिया है कि जब तक पितामह रहेंगे, युद्ध-क्षेत्र में पैर नहीं रखूँगा।"

उसकी बात पूरी होने के पहले ही दुर्योधन बोला—"····भले ही मेरा सत्यानाश हो जाये।"

"ऐसा मैं अपने जीते-जी होने नहीं दूँगा"—कर्ण का अभिमान उस अन्धकार में एक बार फिर चमक उठा।

"ऐसा ही हो।"—कहकर मैं लौट पड़ा। मेरे साथ ही और लोग भी लौटने के लिए विवश हो गये। उन सभी ने समझ लिया कि कर्ण की बात मुझे लग गयी। रास्ते-भर मुझसे कोई कुछ नहीं बोला। मैं सोचता रहा कि सूत-पुत्र होने के कारण कर्ण को अनेक अवसरों पर अपमानित होना पड़ा है। इसी से एक हीन ग्रन्थि उसके मन के अत्यन्त भीतरी तह में बन गयी है।···शायद इसीलिए वह स्वयं को जाने-अनजाने, आवश्यक-अनावश्यक 'सूत-पुत्र' कहता रहता है। इस समय भी उसे 'सूत-पुत्र' कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसी हीन ग्रन्थि ने ही उसे अहंकारी और उद्धत भी बना दिया था।

जिस समय मैं अपने शिविर के निकट पहुँचा। अश्वत्थ घोड़े पर सवार हो मुझे खोजने के लिए निकल रहा था।

यह बात युद्ध के नवें दिन के रात की थी। दूसरे ही दिन अत्यन्त अशुभ घटना हुई। शिखंडी की आड़ से बाण चलाकर पितामह के सारे शरीर को अर्जुन ने छलनी बना दिया। वे धराशायी हो गये। सूर्य पश्चिम की ओर झुक गया था, पर अभी सन्ध्या होने में काफी देर थी। चारों ओर हाहाकार मच गया। युद्ध बन्द कर दिया गया। हम सभी लोग पितामह की ओर दौड़े। कितना विलक्षण था, पाण्डव और कौरव दोनों करबद्ध खड़े थे। पितामह अर्जुन की प्रशंसा करते जा रहे थे। अन्त में उन्होंने कहा—"वत्स, तुम्हारे तीखे तीरों ने हमें सुला तो दिया, किन्तु हमारा सिर अब भी लटक रहा है। इसे कोई सहारा दे देता तो अच्छा था।"—इतना सुनना था कि दुर्योधन ने पितामह के सिर के नीचे कोई वस्तु लगाने के लिए लाने का आदेश दिया। कई लोग एक साथ दौड़े।

पितामह की परम तेजस्वी घायल आकृति पर भी मुस्कराहट की आभा बिखरी, वे बोले—"इसके लिए इतनी भाग-दौड़ क्यों ? इसे तो अर्जुन के बाण ही कर दे सकते।"

फिर क्या था ? अर्जुन ने पल-भर में दो बाण तूणीर से निकाले और दोनों को एक साथ प्रत्यंचा पर चढ़ाया और मारा। विद्युत् वेग से वे पितामह के सिर के सहारे बन गये। अद्भुत था यह धनुष-कौशल, मेरे मन ने एक बार फिर अर्जुन को सराहा।

सन्ध्या धीरे-धीरे बैठने लगी। अन्धेरा बढ़ चला। लोग अपने-अपने शिविरों में पहुँचने लगे। दो-चार व्यक्ति ही पितामह के पास रह गये। मैंने देखा कि कर्ण पैदल ही चला आ रहा है। वह आकर चुपचाप उनके दक्षिण पाद की ओर खड़ा हो गया। पितामह की दृष्टि बायीं ओर खड़े हम लोगों की ओर थी। उन्होंने कर्ण को देखा ही नहीं।

"तात, सूत-पुत्र आपको प्रणाम कर रहा है।"—कर्ण ने कहा।

"सूत-पुत्र !" उन्होंने जरा-सी आँखें घुमायी, उसे आशीर्वाद दिया और बोले—"तुम सूत-पुत्र नहीं हो बल्कि कुन्ती के ही पुत्र हो।"—और फिर दो-चार वाक्यों में ही उन्होंने सारा रहस्य खोल दिया।

मैं अवाक्-सा रह गया। मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि सामने जो खड़ा हैं, वह युधिष्ठिर का बड़ा भाई है। मुझे ऐसा लगा, जैसे अन्धकार के गर्भ से निकलकर कोई सूर्य हमारे सामने चमक उठा हो।

"इस सत्य को मैं भी जानता हूँ।····पर अब तक मैं संसार की जबान पर सूत-पुत्र ही रहा और सूत-पुत्र ही रहना चाहता हूँ।"—कर्ण ने कहा।

"क्यों ?"

"·····क्योंकि अब मैं युधिष्ठिर का बड़ा भाई बनकर दुर्योधन के साथ धोखा नहीं करना चाहता। दुर्योधन के उपकारों से मैं दबा हूँ और वह मेरा बड़ा भरोसा भी करता है।"—इसके बाद वह एक बनावटी हँसी हँसने लगा। उसकी खिलखिलाहट अभी अँधेरे में पूरी तरह समा भी नहीं पायी थी कि मंत्रणा-शिविर की भेरी सुनायी पड़ी।

पितामह की सेवा में दो-तीन व्यक्तियों को छोड़ दिया गया। कर्ण, मैं और दुर्योधन अभिवादन कर और पितामह का आशीर्वाद और शुभ कामनाएँ ले मंत्रणा-शिविर की ओर चल पड़े।

मंत्रणा-शिविर में जयद्रथ, भगदत्त, सुशर्मा आदि पहले से ही बैठे थे। हम लोगों के पहुँचते ही उठ खड़े हुए। निर्णय बस एक ही लेना था कि अब कौरव सेना का प्रधान सेनापति किसे बनाया जाय। बिना किसी सभा और बिना किसी सभापति के बातें नितान्त अनौपचारिक ढंग से आरम्भ की गयीं।

दुर्योधन ने बिना किसी भूमिका के कहना आरम्भ किया,—"दस दिनों तक हमारा नेतृत्व पितामह ने किया, किन्तु आज वे धराशायी हो गये।····युद्ध तो चलता रहेगा ही। तब तक चलता रहेगा, जब तक हमारे शत्रु परास्त नहीं हो जाते या जब तक हमारे धमनियों में रक्त की एक बूँद भी शेष है।····तब तक चलता रहेगा जब तक हमारी अन्तिम साँस निकल नहीं जाती।··हम आखिरी दम तक लड़ेंगे या विजयी होंगे या हमारी अनन्त आत्माएँ सूर्य-मण्डल को भेद-कर स्वर्ग में प्रवास करेंगी।"

दुर्योधन की वाणी की ओजस्विता ने कुँभलाये मनों में नया जीवन फूँका। तालियों की संक्षिप्त गड़गड़ाहट से शिविर गूँज उठा। दुर्योधन बोलता रहा—

"आज की विषम स्थिति में सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम अपना सेनानायक किसी को चुन लें।"

इतना सुनना था कि कर्ण उठकर खड़ा हो गया और अपनी वाणी में पूरी गम्भीरता भरकर बोला—"मित्रो, पितामह चले गये। उनका अभाव तो हमें खटकता ही रहेगा, किन्तु इस विषम परिस्थिति से हमें जरा भी विचलित नहीं होना चाहिए। हमारा पुरुषार्थ ऐसी स्थिति से पराजित होने के लिए नहीं, वरन् उसे ललकारने के लिए ही पैदा हुआ है।....और हम पूरे साहस से इस परिस्थिति की चुनौती स्वीकार करते हैं तथा पूज्य आचार्यजी को अपना सेना-नायक बनाते हैं।"

इतना कहते ही मेरे लिए जयघोष के गगनभेदी नारे लगने लगे। शंख-ध्वनियाँ होने लगीं। शिविरों के बाहर मशालें हाथ में लेकर अनेक लोग उपस्थित हो गये। देखते-देखते भीड़ लग गयी। थोड़ी देर तक मशालें उछाल-उछालकर वह मेरा जय-जयकार करते रहे।

मैंने सबके सामने आभार प्रदर्शित करते हुए कहा,—"मेरे शौर्यवान सैनिको, कौरवकुमारों ने आज मेरे सिर पर काँटों का मुकुट लगाया है और मेरे वृद्ध कन्धों पर ऐसा गुरुतर भार रखा है जिसे मैं आपके पराक्रम और उत्सर्ग से ही संवरण करने में समर्थ हो सकूँगा।....यों युद्ध भयंकर है और इसका परिणाम भी भयंकर होगा।...मैं नहीं कह सकता कि इसमें हमें सफलता मिलेगी ही। ...इतना कहते ही मेरी दृष्टि कर्ण की ओर गयी। मैंने अनुभव किया कि मेरे इस कथन की प्रतिक्रिया उस पर अच्छी नहीं पड़ी। मैंने क्षण-भर में अपनी बात बदली,—"....किन्तु हमें घबराना नहीं चाहिए। अब महाबली कर्ण का पराक्रम भी हमारे साथ रहेगा। संसार का कोई ऐसा युद्ध नहीं है जो उसके पराक्रम से न जीता जा सके। (गम्भीर करतल-ध्वनि)....और मैं भी आपको विश्वास दिलाता हूँ कि विजय के लिए कोई युक्ति उठा नहीं रखूँगा।....अब आप सब जाकर विश्राम करें और कल से नये उत्साह, नयी स्फूर्ति एवं नयी प्रेरणा से अपना युद्ध-कौशल दिखायें।"

लोग जयघोष करते हुए चले गये। हम लोग फिर मंत्रणा-शिविर में आये और कुछ गम्भीर वार्ता आरम्भ हुई।

"आचार्यजी, और जो कुछ है वह तो है ही, पर युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध में आप इतने शंकित क्यों रहते हैं ?"—कर्ण ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में मुझसे पूछा।

"वत्स, तुमने ठीक ही पूछा है,...किन्तु पता नहीं क्यों, मेरे मन में यह शंका युद्ध के आरम्भ से ही बनी है। लगता है, मेरे मन और मस्तिष्क पर अर्जुन के युद्ध-कौशल का गम्भीर आतंक है। विराट के युद्ध में ही तुमने देखा, वह कैसे-कैसे आग्नेय अस्त्रों का प्रयोग और उसका उपसंहार जानता है। अभी दो घड़ी पूर्व ही तुम लोगों ने देखा कि पितामह के सिर को सहारा देने के लिए उसने दो बाण एक साथ मारे। दूसरा कोई होता तो वह सीधे-सीधे सिर के ऊपर से बाण मार देता, किन्तु उसने बाण धरती पर मारा और वह वहाँ से टकराकर सिर के नीचे, दायें और बायें से आकर ऐसा लगा कि सिर के लिए अभीष्ट सहारा बन गया।...यह गम्भीर अभ्यास का ही परिणाम है, वत्स।"

कर्ण मुस्कराने लगा और हँसते हुए बोला,—"यह अर्जुन के युद्ध-कौशल का आपके मन पर पड़ा आतंक नहीं है आचार्य, वरन् यह एक आचार्य का अपने प्रिय शिष्य के प्रति मोह है।...सम्प्रति आप इस बात को जाने दीजिए। अर्जुन के वध का उत्तरदायित्व आप मुझ पर छोड़िए। मेरे पास ऐसे अस्त्र हैं जिनके द्वारा वह बड़ी सरलता से इस लोक से विदा किया जा सकता हैं।"

मन ने तो कहा कि मैं कह दूँ कि तुम मूर्ख हो, किन्तु मैं चुप रह गया।

दुर्योधन यह समझ रहा था कि अर्जुन का वध आसान नहीं है। उसकी मुद्रा चिन्तित ही बनी रही। दाहिना हाथ ठुड्ढी पर रखे वह सामने जलती मशाल को एकटक देखता रहा। फिर धीरे से बोला,—"एक काम हो सकता है ?"

"क्या ?"

"धर्मराज को किसी तरह आप रण-क्षेत्र में बन्दी करा लीजिए।"

"इससे क्या होगा ?"—अत्यन्त उपेक्षा-भरी आवाज में कर्ण बोला।

द्रो०—२२

इसी बीच परिचारक दौड़ा हुआ आया,—"महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित आपसे मिलने आ रहे हैं।"

युधिष्ठिर का नाम सुनते ही हम सब एक दूसरे को देखते रह गये। मस्तिष्क में परम्परागत विचार ने अंगड़ाई ली—नाम लिया नहीं कि वह उपस्थित हो गया अवश्य ही दीर्घजीवी होगा।

पाँचों भाइयों ने मुझे बड़ी श्रद्धा से प्रणाम किया। भीम के सिर पर और सहदेव के कन्धे पर पट्टियाँ बँधी थीं। दोनों घायल थे, पर उनकी आत्मीयता में जरा भी अन्तर नहीं आया था। आचार्य के साथ-ही-साथ ब्राह्मण होने के नाते मैंने उन्हें दीर्घजीवी होने का आशीर्वाद दिया। उन्होंने कर्ण और दुर्योधन का भी अभिवादन किया। दोनों ने अभिवादन का उत्तर तो दिया, पर उनकी मुख-मुद्रा मुझे अच्छी नहीं लगी।

"कहो कैसे चले इस रात में ?"—मैंने पूछा।

"अभी-अभी ज्ञात हुआ कि आपने प्रधान सेनापति का पद सँभाला है। आपको बधाई देने और प्रणाम करने चला आया।"—कितना आदर-भाव था युधिष्ठिर की ध्वनि में ?

"अरे यह कार्य तो कल प्रातः भी हो सकता था।"—मैंने कहा।

"हो तो सकता था, पर बासी हो जाता।"—पाँचों भाई हँस पड़े, मुझे भी हँसी आ गयी। किन्तु दुर्योधन और कर्ण के लिए वातावरण की सारी खिल-खिलाहट ऊसर में बरसात की तरह निरर्थक थी।

"दिन में लड़ना है ही, रात में तो आराम करते।"—मैंने अत्यन्त शान्त भाव से कहा।

"इसीलिए तो मैं कभी-कभी सोचता हूँ आचार्यजी, यदि संसार में रात न होती तो कितना अच्छा होता।""मनुष्य सब कुछ करता, पर लड़ता तो नहीं।" इतना कहकर युधिष्ठिर हँसने लगा। उसकी इस हँसी ने हम सब पर विचित्र दबाव डाला।

पाण्डव पुनः अभिवादन कर शिविर के बाहर चले गये।

कुछ क्षणों तक हम लोग बैठे रहे जैसे अब भी पाण्डवों की छाया इ
सामने हो। फिर अचानक दुर्योधन ने पुरानी बात छेड़ी,—"··हाँ, तो आ
युधिष्ठिर को बन्दी बनाने के बारे में सोचिए।"

"यह अर्जुन के रहते हो नहीं सकता।"—मैंने कहा।

"उसे समाप्त करने का बीड़ा मैं उठाता हूँ।"—कर्ण बोला।

मुझे हँसी आ गयी,—"श्रीकृष्ण के रहते ऐसा हो नहीं सकता।"—श्रीकृ
के नाम पर तो इस बार कर्ण भी सोचने लगा।

मेरे मस्तिष्क में एक युक्ति सूझी, मैंने कहा,—"एक काम हो सकता है।

"क्या?"—दुर्योधन बोला।

"किसी उपाय से अर्जुन को युद्ध से दूर रखा जाय, तब युधिष्ठिर को
लिया जा सकता है।"

यह उपाय दुर्योधन को भी पसन्द आया। उसने कहा कि मैं इसके लि
भरसक प्रयत्न करूँगा।

जिस समय कर्ण और दुर्योधन मेरे शिविर से निकले, रात जवान हो चल
थी। कुत्ते भूँकने लगे थे।

सुना है दीवार के भी कान होते हैं, पर मेरे शिविर के परदों को भी कान
हो गया है, यह मुझे मालूम न था। लगता है, युधिष्ठिर को बन्दी बनाने की बात
पाण्डव-पक्ष को मालूम हो गयी। वे आवश्यकता से अधिक सतर्क हो गये।

दुर्योधन ने अपने ढंग से अर्जुन को कुरुक्षेत्र से दूर करने की एक युक्ति
निकाल ली। उसने त्रिगर्त देश के वीरों के एक समूह को संशप्तक व्रत लेकर
अर्जुन से युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित किया। उन वीरों ने अर्जुन से कहा,—
"कुरुक्षेत्र से दूर हटकर हम से युद्ध कीजिए। हम संशप्तक व्रत लेकर आप से
लड़ेंगे अर्थात् जब तक हम लोग आपको रण में सर्वदा के लिए सुला नहीं देंगे
तब तक युद्ध से विमुख नहीं होंगे।"

अर्जुन ने इस चुनौती को स्वीकार किया। वह कुरुक्षेत्र से दूर त्रिगर्त के वीरों से लड़ने चला गया, फिर भी हम लोग युधिष्ठिर को बन्दी नहीं बना सके। पाण्डव वीरों ने उनकी अच्छी तरह रक्षा की। कौरव सेना को गम्भीर क्षति पहुँचायी। युद्ध का ग्यारहवाँ दिन ऐसे ही चला गया।

बारहवें दिन भी जिधर युधिष्ठिर थे, हमने अपनी सेना का गहरा दबाव डाला, पर सात्यकी और भीमसेन ने हमारा डटकर सामना किया। घमासान युद्ध हुआ। दोनों पक्षों को गम्भीर क्षति उठानी पड़ी। फिर भी वे लोग युधिष्ठिर को निकाल ले गये। हम अपने लक्ष्य में सफल न हो सके।

हमें बड़ी निराशा हुई। सन्ध्या को मैं न तो दूसरों के शिविर में गया और न औरों से मिला ही। सीधे अपने शिविर में आकर लेट गया। आज अत्यधिक थका था। मेरी बायीं बाँह में कई बाण लगे थे। मामूली-सा लेप लगाकर ही मैं पड़ा रहा। अपनी असफलता पर पश्चात्ताप करता रहा। सोचता रहा कि आखिर दुर्योधन क्या सोचता होगा।

मन में आया कि मैरेय पीकर सो जाऊँ। मैंने इसके लिए परिचारक को बुलाया भी, किन्तु उसकी ओर देखा भी नहीं। केवल सोचता रह गया। मेरी आँखें निरन्तर मशाल की प्रकम्पित ज्योति पीती रहीं और दुर्योधन की कल्पित बीभत्स मुद्राएँ देखती रहीं।

अचानक मेरी कल्पना ने आकार लिया। धड़धड़ाता हुआ दुर्योधन मेरे शिविर में घुसा। बिना किसी प्रकार के शिष्टाचार का निर्वाह किये और बिना कुशल-क्षेम पूछे वह सीधे-सीधे बोल बैठा,—"आचार्यजी, मैंने तो जो कहा था, वह किया पर आपने अपनी बात नहीं रखी।"

मुझे दुःख था कि दुर्योधन ने मेरे घावों के सम्बन्ध में भी नहीं पूछा और न उसके बोलने का ढंग ही मुझे पसन्द आया। मैं भीतर-ही-भीतर तिलमिलाकर रह गया। मैं कुछ बोला नहीं।

उसने पुनः कहा,—"कर्ण ने मुझसे अनेक बार कहा था, देखना, पाण्डवों के प्रति आचार्यजी का मोह कभी कम नहीं होगा।"

फिर भी मैं चुप था। मेरी गम्भीरता का प्रभाव दुर्योधन पर भी पड़ा। मैंने उसी से कहा,—"सामने टंगी असि ले आओ।"

इस बातचीत में असि की क्या आवश्यकता ? वह घबराया। वह असि लेने बढ़ा तो अवश्य पर पूछ बैठा,—"आचार्यजी, असि क्या करेंगे ?"

"तुम्हें अपना हृदय चीरकर दिखाऊँगा, तुम अच्छी तरह देख लो कि इसमें अब पाण्डवों के प्रति मोह कहाँ है ?"

वह एकदम लज्जित हो गया। फिर वह कुछ बोला नहीं। कुछ देर तक चुपचाप खड़ा रहा।

"अच्छा अब आप जाइए, विश्राम कीजिए। कल कुछ-न-कुछ होकर रहेगा।"

वह शिविर के बाहर निकला। उसके पीछे मैं भी द्वार तक आया। मैंने देखा, रात का काजल आकाश से फटा पड़ रहा था, मानो महाकाल रूपी भयानक काला गिद्ध अपने विशाल डैने फैलाये शिविरों के अण्डे से रहा हो।

युद्ध का तेरहवाँ दिन !

रथ के चक्र की भाँति मैंने सेना खड़ी की। ऐसे चक्र-व्यूह की रचना हुई जिसमें अर्जुन के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रवेश कर ही नहीं सकता था।""और अर्जुन कुरुक्षेत्र से दूर था। अतएव मैंने सोचा कि जो भी इस व्यूह में घुसेगा उसे बन्दी कर लिया जायेगा। युधिष्ठिर को घेर लेने का मेरे जीवन का यह अन्तिम प्रयास था।

फिर भी मेरी युक्ति सफल न हुई। मुझे क्या मालूम था कि अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु भी इस व्यूह में प्रवेश करना जानता है। आज के युद्ध में उसने और उसके सारथी सुमित्र ने अद्भुत रण-कौशल दिखाया। तड़ित्-तरंग की तरह व्यूह को चीरता अभिमन्यु का रथ मेरी ओर बढ़ा। पीछे-पीछे धृष्टद्युम्न, सात्यकी, युधिष्ठिर, भीम आदि योद्धा प्रलय करते हुए मेरी ओर लपके। देखते-देखते धरती लाशों से पटती चली। अनेक योद्धा खेत रहे। मेरा व्यूह भी कई स्थानों से टूट गया, किन्तु जयद्रथ ने बड़े पराक्रम से उसे फिर ठीक कर लिया।

उधर अभिमन्यु ने दुर्योधन के पुत्र लक्ष्मण को यमलोक पहुँचा दिया। त्राहि-त्राहि मच गयी। क्रुद्ध सिंह की तरह दुर्योधन अभिमन्यु पर झपटा। इसके बाद छह-छह महारथियों द्वारा अभिमन्यु बेतरह घेर लिया गया। फिर क्या हुआ? कुछ मत पूछिए।

अभी सन्ध्या कुछ दूर थी। सूर्य अस्त होने में देर थी कि पाण्डवों का बाल-सूर्य्य अस्त हो गया। लड़ाई बन्द हो गयी। कौरव प्रसन्नता में उछल पड़े, पाण्डव हतप्रभ हो गये। वे दुःख के सागर में डूबते-उतराते अपने शिविरों की ओर चले। अभिमन्यु के शव के चारों ओर कौरवकुमारों का पागलपन बड़ी देर तक उछलता-कूदता रहा, मानो उन्होंने आकाश-कुसुम तोड़ लिया हो।

मैं चुपचाप अपने शिविर में आकर पड़ गया। युद्ध का उन्माद ज्वालामुखी के विस्फोट की तरह भयानक होता है। उसमें मनुष्य स्वयं नहीं सोचता कि वह क्या कर रहा है, पर इस समय मेरा वह उन्माद तूफान की लहरों की तरह छैलाकर सो गया था। मैं ग्लानि के गर्त में डूबता चला जा रहा था। रह-रहकर यह बात मेरे मन में उठती थी कि मैं अर्जुन को क्या उत्तर दूँगा। जब वह पूछेगा—आचार्य, तुमने यह क्या किया? मैं क्या कहूँगा?

रात अपना काला पंख फैलाती गयी। मेरे मन का अँधेरा बढ़ता गया। शिविरों में मशालें जल उठीं। अचानक पाण्डवों के शिविरों की ओर जोर का हाहाकार मचा। अँधेरे में डूबी सिसकियाँ मेरे कानों तक पहुँची। मैं समझ गया कि अर्जुन संशप्तकों के युद्ध से लौट आया है।

मैं और अधिक व्यग्र हो गया। मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे पाप मुझे घेरे हुए खड़े हैं। प्रहरी ने सूचना दी कि कुछ लोग मिलना चाहते हैं। मैंने कहला दिया कि मैं इस समय नहीं मिल सकूँगा। मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है। आज अपने घावों पर पट्टी भी नहीं बँधवायी, बस पड़ा रहा, पाषाणवत् पड़ा रहा।

एक कान से कौरव-पक्ष का हर्ष और दूसरे कान से पाण्डव के शिविरों का विषाद सुनता रहा। मुझे ऐसा लगा, जैसे इन सिसकियों और हर्ष के संघर्ष में कहीं आकाश ही फट न जाये। मैं व्यग्र होता गया, व्यग्र होता गया।

मेरे हृदय में जल रही पश्चात्ताप की अग्नि ने गहरा धुआँ फेंका। रात और अधिक काली हो गयी। अँधेरे ने प्रकाश का गला धर दबोचा, फिर भी जागता रहा। वह धुआँ मुझे घेरता गया। मुझे ऐसा लगा, जैसे उस अँधेरे में उस धुएँ से बनी कोई आकृति मेरी ओर चली आ रही है।'''अरे यह तो अर्जुन है। जैसे वह आँखें फाड़-फाड़कर मुझे देख रहा है। मुझसे पूछ रहा है—''आचार्य, यह तुमने क्या किया ? कहाँ चला गया था तुम्हारे युद्ध का नियम ? कहाँ चला गया तुम्हारा युद्ध-धर्म ?''''तुमने एक निहत्थे बालक पर छह-छह महारथियों को भूखे भेड़िये की तरह छोड़ दिया।'''बोले—क्या यही न्याय है ? मुझे तुमसे यह आशा नहीं थी कि तुम कर्ण को मेरे पुत्र पर पीछे से आक्रमण करने का निर्देश दोगे। छिः तुम्हारे मुँह पर थू''''तुम्हारे पौरुष पर थू''''तुम्हारे आचार्यत्व पर थू।''

मैं एकदम हड़बड़ाकर उठ बैठा। मैंने देखा; कहा काइ नहीं है। केवल मेरे पश्चात्ताप का काला धुआँ है। घना अँधेरा है और मैं हूँ। मैं फिर अपनी शय्या पर लेट गया, पर मेरा मन चंकित हो रहा था, मुझे ऐसा लग रहा था जैसे मेरे पाप मुझे चारों ओर से दबाये जा रहे हैं। वह धुआँ स्वयं में काँपता है और उस घने अँधेरे में विभिन्न आकृतियों में बदलता जा रहा है। एक और आकृति उभरती हुई मेरे सामने आती है—एकदम काली, उस अँधेरे से भी काली। अत्यन्त प्रगल्भ हँसी के बीच वह आकृति मुझसे पूछती है—''मुझे पहचानते हो आचार्य ? मैं एकलव्य हूँ। मैंने क्या अपराध किया था कि तुमने मेरा दाहिना अँगूठा कटवा लिया था। बोलो, चुप क्यों हो गये ? मत बताओ, पर मैं अपना अपराध जानता हूँ। मेरा यही अपराध था न कि मैंने तुम्हें अपना गुरु बना लिया था, वर्ना मेरा अँगूठा न काटा जाता।''''पर मैं जानता हूँ कि तुमने मेरा नहीं वरन् सम्पूर्ण आर्यावर्त के शिष्यत्व की आस्था का अँगूठा कटवाया है।''''जाओ, मैं तुम्हें छोड़ता हूँ पर इतिहास तुम्हें कभी नहीं छोड़ेगा। वह तुम्हारे मुँह पर करेगा थू, तुम्हारे पौरुष पर करेगा थू'''तुम्हारे आचार्यत्व पर करेगा थू

मैं अत्यधिक व्यग्र हो गया। पसीना छूटने लगा। मैं उठकर बैठ गया, कहीं कुछ नहीं था। केवल अँधेरा था, यमराज-सा काला अँधेरा और पश्चात्ताप का धुआँ। उस धुएँ में जैसे मेरा दम घुटने लगा। मेरा साहस न हुआ कि मैं अपना पसीना पोछूँ। बिल्कुल तर-बतर था। मैंने सीने के दाहिनी ओर हल्की-हल्की पीड़ा का अनुभव किया और लेट गया। सोचता रहा, सोचता रहा, काँपते धुएँ से आकृतियाँ उभरती रहीं, बहुत सारी आकृतियाँ। मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे चारों ओर बहुत सारे बालक खड़े हैं।···जानते हो, हम कौन हैं?···हम हैं इस देश के अभागे छात्र, जिन्हें मनचाही शिक्षा न मिल सकी, क्योंकि तुम्हारे ऐसे लोगों ने आश्रम की संस्कृति और अपनी विद्या थोड़े से स्वर्ण-खण्डों पर राजघरानों के हाथ बेचदी।····हम तो तुम्हें प्रणाम ही करेंगे, पर हमारी संततियाँ कभी तुम्हें क्षमा नहीं करेंगी। इस देश का भविष्य तुम्हें कभी नहीं छोड़ेगा। वह तुम्हारे मुँह पर करेगा थू···तुम्हारे पौरुष पर थू····तुम्हारे आचार्यत्व पर थू।

मेरा सिर जैसे फटने लगा। मैंने दोनों हाथों से उसे जोर से दबाया और उठ बैठा। अपनी चेतना पर दबाव डाला। फिर वही स्थिति थी। कहीं कुछ नहीं था। केवल काला अँधेरा, एकदम काला अँधेरा, भैंस जैसा काला अँधेरा।

कुछ समय तक सिर थामे बैठा रहा, फिर अचानक जोरों की सिसकियाँ सुनायी पड़ने लगीं। धुएँ में फिर से जोरों का कम्पन हुआ। एक रोता हुआ चेहरा मेरी आँखों के सामने आया—"मैं अर्जुन हूँ आचार्य, अपने पुत्र-शोक पर आज विलख रहा हूँ तात।···यह तुमने अच्छा नहीं किया, बिल्कुल अच्छा नहीं किया। मेरी यह व्याकुलता, तुम्हें शाप देती है आचार्य कि जिस तरह व्याकुल हो आज मैं विलख रहा हूँ उसी तरह पुत्र-वियोग की व्याकुलता में तुम्हारा भी प्राणान्त हो।"

इसके बाद भी वे सिसकियाँ मेरे मस्तिष्क को बरछी की तरह छेदती रहीं और छेदती चली गयीं। एकदम घबराकर मैं अपनी शय्या से उठ खड़ा

हुआ। मेरा पुत्र-प्रेम उस अन्धकार के सागर में मगरमच्छ की तरह तैरकर अश्वत्थ की शय्या की ओर बढ़ा। मैंने देखा, वह खर्राटें भर रहा है, मानो वह इस सारे परिवेश पर सोया-सोया गुर्रा रहा हो।

बाहर शृगालों और कुत्तों के रोने की आवाजें बराबर गूँज रही थीं।



मुद्रक—भार्गव भूषण प्रेस, त्रिलोचन, वाराणसी।
५३/४–७६